अलंकार-पीयूष

(पूर्वार्द्ध)

रचयिता
पं० रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल' एम० ए०

प्रकाशक
रामनरायन लाल
पब्लिशर और बुकसेलर
इलाहाबाद
१९२९

प्रथमावृत्ति ५००] [मूल्य २॥)

सम्पादक

पं० रामचन्द्र शुक्ल "सरस"

समर्पण

विद्वद्वर श्रीमान् पं० कुञ्जबिहारीलाल जी शुक्ल

के

चरण-कमलों में सादर सप्रेम समर्पित

पूज्यपाद पिता जी !

अपने इस अकिञ्चन प्रिय किङ्कर की यह तुच्छ प्रणति अपने स्वाभाविक वात्सल्य भाव के साथ स्वीकार कीजिये। यह आप ही की वस्तु है, क्योंकि मैं ही आपका हूँ, अपनी चीज़ तो अपनाई ही जाती है। और अधिक क्या कहूँ।

आपका आज्ञाकारी पुत्र,

रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल'

प्राक्कथन

—:*:—

[लेखक—महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ जी झा
एम० ए०, डी० लिट्०, एल-एल० डी०,
वाइस चान्सलर प्रयाग-
विश्व-विद्यालय]

प्रयाग-विश्व-विद्यालय के हिन्दी-विभाग का कार्य केवल पाँच वर्षों से ही चल रहा है। मैं जानता था कि इतने समय में कई भावुक विद्यार्थी इस विभाग से निकले हैं, पर मुझे यह आशा न थी कि इनमें से किसी को ऐसा उत्साह और सामर्थ्य होगा कि जिससे एक गम्भीर-विषय पर ऐसा ग्रन्थ प्रस्तुत हो सकेगा। इसलिए "अलङ्कार-पीयूष" की यह प्रति जब मेरे सामने आई तो मुझे असीम हर्ष हुआ। इस ग्रन्थ में संस्कृत-ग्रन्थों के आधार पर जो कुछ लिखा है वह तो है ही, उसके अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ लिखा गया है। इन्हीं भागों में लेखक की योग्यता विशेष रूप से प्रकट होती है।

लेखक का उत्साह प्रशंसनीय है, यदि यह सकुशल और चिरायु रहे, तो इनके द्वारा विश्व-विद्यालय की प्रतिष्ठा अवश्य बढ़ेगी।

"मिथिला"
जार्ज-टाउन, प्रयाग
१२ मार्च, सन् १९२९ ई०

हस्ताक्षर—गंगानाथ झा

सम्पादकीय-वक्तव्य

—:*:—

आज बड़े हर्ष के साथ मैं अपने पूज्य भ्राता श्री पं० रामशङ्कर जी शुक्ल 'रसाल' एम० ए० का यह 'अलङ्कार-पीयूष' लेकर आप महानुभावों के सम्मुख इस विनम्र प्रार्थना के साथ समुस्थित होता हूँ कि आप लोग अपनी दया-दृष्टि के साथ इसे देखने की कृपा करें। मैं इस योग्य न था कि ऐसे गंभीर ग्रन्थ के सम्पादन का उत्तरदायित्वपूर्ण भार वहन कर सकता, किन्तु कुछ आवश्यक कारणों से मुझे ऐसा करने की अनधिकार चेष्टा करनी ही पड़ी।

सम्पादन-कार्य एक बहुत बड़ा गुरुतर कार्य है, चाहे वह किसी भी पुस्तक का हो। यह और भी अधिक कठिन और गुरुतम हो जाता है, जब इसका सम्बन्ध किसी गम्भीर विषय की मार्मिक विवेचना एवं वैज्ञानिक गवेषणा के करने वाले किसी उच्चकोटि के साहित्यिक-ग्रन्थ से होता है। कहना न होगा कि यह ग्रन्थ इसी श्रेणी में आता है, जैसा कि पूज्यवर डाक्टर श्री गंगानाथ जी झा, वाइस चान्सलर, प्रयाग-विश्वविद्यालय के लेख से ज्ञात होता है। मैं फिर कह देना चाहता हूँ कि मैं इस कार्य के लिये योग्य व्यक्ति न था, यद्यपि मैं काव्य के पठन-पाठन एवं उसके कुछ थोड़ा बहुत लिखने में चाव रखता हूँ और कुछ थोड़ी

कविता लिखता भी हूँ, किन्तु, जैसा आप लोगों को विदित ही है, कविता लिख कर एवं पढ़ पढ़ा कर आत्मानन्द का अनुभव कर लेना दूसरी बात है और काव्यशास्त्र में पटुता प्राप्त करना, उस पर कोई ग्रन्थ लिखना या उसका सम्पादन करना दूसरी ही बात है। अस्तु, मेरा विनम्र निवेदन है कि विद्वज्जन मुझ जैसे व्यक्ति के द्वारा इस ग्रन्थ के सम्पादित होने से जो अनीप्सित त्रुटियाँ देखें, उन्हें वे कृपा-भाव के साथ क्षमा करते हुए सुधार लें, मैं एतदर्थ उनका कृतज्ञ होऊँगा। हाँ, इसकी पुनरावृत्ति में इस बात का पूर्ण प्रयत्न करूँगा कि ग्रन्थ का पूर्ण परिशोधन अवश्य हो जाये।

इस ग्रन्थ के विषय में मैं कुछ नहीं कहना चाहता, क्योंकि यह मेरा कार्य नहीं, और न मैं किसी प्रकार ऐसा करने के योग्य ही हूँ। हाँ, मैं इतना अवश्य कह देना चाहता हूँ कि यह ग्रन्थ वैज्ञानिक एवं सुव्यवस्थित समन्वेषण का एक सुन्दर प्रतिफल है। काव्यालङ्कार-शास्त्र का इतिहास हिन्दी-साहित्य में आज तक अप्राप्य ही था, उसकी पूर्ति, मुझे आशा है, इस ग्रन्थ के पूर्वार्ध से अवश्य हो सकेगी, तथा काव्यालङ्कार-क्षेत्र में इस ग्रन्थ के द्वारा बहुत कुछ नवीन जीवन-ज्योति जग सकेगी, क्योंकि कतिपय मौलिक एवं नवीन बातें प्रमाणों से परिपुष्ट की जाकर इसमें रक्खी गई हैं। जहाँ तक मैं जानता हूँ, आज तक इस विषय के किसी भी हिन्दी-ग्रन्थ में शब्दालङ्कारों का वर्गीकरण नहीं किया गया। आप स्वयं देखेंगे कि इस ग्रन्थ में उनका वर्गीकरण किस अच्छे रूप में किया गया है, साथ ही आप यह भी देख

सकेंगे कि अन्य अलङ्कारों की विवेचना तथा उनके भेदोपभेदों की आलोचना के साथ उनके कुछ नये रूपों की कल्पना भी किस प्रकार की गई है।

मैं और कुछ विशेष न कह कर बस इतना ही और कह देता हूँ कि कतिपय कारणों से इस ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध ही अभी प्रकाशित हो सका है। इसका उत्तरार्द्ध भी शीघ्र ही आप लोगों की सेवा में उपस्थित हो सकेगा। सबसे मुख्य कारण इसे दो भागों में विभक्त करने का यह है कि ग्रन्थ बहुत स्थूलकाय न होकर सरलता से वहन करने योग्य रहे। यदि दोनों भागों को मिलाकर एक ही भाग कर दिया जाता तो लगभग १००० एक हज़ार पृष्ठ का एक बड़ा ग्रन्थ तैयार हो जाता और उसका मूल्य एवं आकार प्रकार भी बहुत बढ़ जाता।

मैं एक बार फिर कह देना चाहता हूँ कि इसकी त्रुटियों का तो कारण मैं हूँ और इसकी अच्छाई का श्रेय इसके रचयिता मेरे बन्धुवर ही को है, जैसा स्वाभाविक भी है। मैं अपने परम स्नेही बाबू बेनी प्रसाद जी अग्रवाल एम० ए०, एल-एल० बी० का, जिन्होंने इसके प्रकाशन का प्रबन्ध किया है, आभारी एवं कृतज्ञ हूँ, और साथ ही अपने प्रसिद्ध प्रकाशक बाबू रामनरायन लाल जी, बुकसेलर को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ कि जिनके कारण यह ग्रन्थ आज प्रकाशित हो सका है।

"शान्ति-कुटीर"
५—३—१९२९

भवदीय कृपाभिलाषी—
रामचन्द्र शुक्ल "सरस"

लेखक के दो शब्द

—:※:—

मैं जिस समय प्रयाग विश्व-विद्यालय के अन्वेषण-विभाग (Research department) में खोज का कार्य कर रहा था, उस समय मेरे हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि हिन्दी-साहित्य में अलङ्कार के विषय पर कोई भी उत्तम ग्रन्थ नहीं है। मैंने अलङ्कार के विषय (Figures of speech) को ही अपने खोज का विषय बनाया था, और इस विषय पर खोज करके एक निबन्ध, जो फुलिसकेप साइज़ के टाइप किये हुए लगभग डेढ़ सौ पृष्ठों में पूर्ण हुआ था, अंगरेज़ी में लिखकर विश्व-विद्यालय को अर्पित किया था। उस पर हिन्दी-विभाग के प्रधान श्रीयुत बाबू धीरेन्द्र जी वर्मा एम० ए० ने अपने विचार प्रगट करते हुए यह लिखा था कि यह (निबन्ध) उस विषय (काव्यालंकार शास्त्र) के लिये जिसमें अब तक वैज्ञानिक प्रणाली से कुछ भी कार्य नहीं हुआ, एक अत्यन्त मूल्यवान उपहार है (" It is a very valuable contribution to the subject of Kavyalankara shastra—in which no critical and scientific work exists as yet") और साथ ही विश्व-विद्यालय के वाइस चान्सलर श्रद्धेय महामहोपाध्याय डाक्टर श्री गंगानाथ जी झा एम० ए०, डी० लिट्, एल-एल० डी० ने भी प्रशंसा-पूर्ण मत

प्रकाश करते हुए कहा था कि, "यह निबन्ध यद्यपि छोटा है तौभी योग्यता पूर्ण और मौलिक है" (The thesis though short is learned and original one) बस पूज्य पंडित जी का यही वाक्यांश मेरे इस ग्रन्थ के लिखने का कारण हुआ। प्रोत्साहन तो उक्त महानुभावों के साथ ही साथ मुझे अपने मान्यवर डाक्टर श्री रामप्रसाद जी त्रिपाठी एम० ए०, डी० एस० सी० प्रयाग-विश्व-विद्यालय से इतने अच्छे रूप में प्राप्त हुआ है कि मैं उनका इसके लिए सदैव कृतज्ञ एवं आभारी हूँ। मेरे परम मित्र एवं हितैषी श्रीमान् पं० कृष्णाकान्त जी मालवीय सम्पादक "अभ्युदय" ने मुझ से इस ग्रन्थ को शीघ्र ही प्रकाशित कर देने का बड़ा ही उत्साह-वर्धक अनुरोध किया और उसी का यह परिणाम है कि यह ग्रन्थ, जैसा कुछ है, आज आप लोगों के सम्मुख सादर समुपस्थित किया जा रहा है। मैं अपने परम श्रद्धेय श्रीमान् पं० देवी प्रसाद जी शुक्ल, प्रोफेसर प्रयाग-विश्व-विद्यालय को भी अपना हार्दिक धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, क्योंकि आपने भी इस ग्रन्थ पर अपनी प्रसन्नता प्रगट करते हुए मुझे अच्छा प्रोत्साहन दिया है। मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ अपने परम हितेच्छु महाकवि श्रीयुत् बाबू जगन्नाथ दास जी "रत्नाकर" बी० ए० का, जिन्होंने यह कहते हुए कि "यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य के लिये एक नितान्त मौलिक एवं स्थायी सम्पदा के रूप में होगा," इसके प्रकाशित करने के लिये अनुरोध किया है। अस्तु—

अन्त में मैं विनम्र भाव से केवल यही कहना चाहता हूँ कि यदि इस ग्रन्थ को आप लोगों ने सहर्ष अपनाने की कृपा की तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा। हाँ, स्थान-लाघव एवं समयाभाव से मैं कतिपय बातों का विवेचन विस्तृत रूप से नहीं कर सका और कुछ आवश्यक बातें भी नहीं दे सका। आशा है कि शीघ्र ही इसके द्वितीय संस्करण में मैं इन सब की पूर्ति पूर्ण रूप से कर सकूंगा।

इस ग्रन्थ के सम्पादन एवं प्रकाशन आदि का सभी कार्य-भार कतिपय कारणों से मुझे अपने अनुजवर रामचन्द्र शुक्ल 'सरस' को ही सौंपना पड़ा, इसलिए यदि इसमें कुछ अनभीष्ट और संदिग्ध त्रुटियाँ रह गयी हों तो उनके लिये मेरे उदार पाठक मुझे क्षमा करें, वे द्वितीय संस्करण में दूर कर दी जावेंगी। हाँ, इसकी देखभाल आदि में जो कुछ अच्छाई एवं रुचिर-रोचकता आप लोगों की प्रसन्नता का कारण हो, उसका सभी श्रेय वास्तव में मेरे अनुज ही को है।

अलमिति लेखेन

काव्य-कुटीर
शिवरात्रि सं० १९८५ वि०

विद्वज्जन-कृपाकांक्षी
रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल'

सहायक-ग्रंथों की सूची

—:*:—

अङ्गरेज़ी-ग्रन्थ

१—हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स— लेखक—डाक्टर यस० के० दे०, एम० ए०, डी० लिट्०

२—फाउन्डेशन् आफ इंडियन पोइट्री— लेखक—डा० जे० नोबुल्स, पी-एच० डी०

३—इन्ट्रोडेक्शन टू साहित्य-दर्पण—लेखक—पी०, वी० काने, एम० ए०, एल-एल० बी०

४—आर्टिकिल्स इन दी प्रिन्स आफ वेल्स लाइब्रेरी मैगज़ीन—सम्पादक—श्री गोपीनाथ जी कविराज एम० ए०, सरस्वती-भवन स्टडीज़, काशी

संस्कृत-ग्रन्थ

५—नाट्यशास्त्र ... लेखक—श्री भरत मुनि

६—काव्यालङ्कार ... लेखक—श्री भामः

७—काव्यादर्श ... लेखक—श्री दण्डी

८—काव्यालङ्कार-सूत्र-वृत्ति लेखक—श्री वामन

९—काव्यालङ्कार-सार-संग्रह लेखक—श्री उद्भट

१०—काव्यालङ्कार ... लेखक—श्री रुद्रट

११—ध्वन्यालोक ... लेखक—श्री आनन्दवर्धनाचार्य

१२—काव्य-मीमांसा ... लेखक—श्री राजशेखर

१३—काव्य-प्रकाश ... लेखक—श्री मम्मट

१४—रस गंगाधर ... लेखक—श्री पण्डितराज जगन्नाथ
१५—चन्द्रालोक ... लेखक—श्री जयदेव
१६—कुवलयानन्द ... लेखक—श्री अप्पय दीक्षित
१७—अलङ्कार-सर्वस्व ... लेखक—श्री राजानक रुय्यक
१८—काव्यानुशासन ... लेखक—श्री हेमचन्द्र
१९—सरस्वती कण्ठाभरण लेखक—श्री भोजराज

हिन्दी-ग्रन्थ

२०—कविप्रिया ... लेखक—महाकवि केशवदास
२१—भाषा-भूषण ... लेखक—राजा जसवन्तसिंह
२२—ललित-ललाम ... लेखक—महाकवि मतिराम त्रिपाठी
२३—शिवराज-भूषण ... लेखक—महाकवि भूषण त्रिपाठी
२४—भाव-विलास ... लेखक—महाकवि देव
२५—काव्य-निर्णय ... लेखक—भिखारीदास
२६—कण्ठाभरण ... लेखक—कविवर दूलह
२७—कर्णाभरण ... लेखक—गोविन्द कवि
२८—अलङ्कार-दर्पण ... लेखक—राजा रामसिंह
२९—चेत-चन्द्रिका ... लेखक—गोकुल कवि
३०—पद्माभरण ... लेखक—कविवर पद्माकर
३१—रावणेश्वर कल्पतरु लेखक—कविवर लछिराम
३२—काव्य-प्रभाकर ... लेखक—भानुकवि
३३—अलङ्कार-प्रकाश ... लेखक—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार
३४—काव्य-कल्पद्रुम .. लेखक—सेठ कन्हैया लाल पोद्दार

इत्यादि इत्यादि

विषय-सूची

अलंकार-पीयूष

काव्यालंकार का विषय शास्त्र है या कला ?

इसके प्रथम कि हम इस विषय के इन दो रूपों पर विचार करें, हमें प्रथम यह जान लेना चाहिये कि शास्त्र (विज्ञान) और कला हैं क्या।

शास्त्र या विज्ञान हमें किसी विषय का ज्ञान कराता है और कला हमें कुछ करना सिखाती है, अर्थात् शास्त्र का सम्बन्ध मन से है और कला का कार्य से। शास्त्र किसी विषय का यौक्तिक-क्रमपूर्ण ज्ञान है, जो तद्विषय-सम्बन्धी अनेकानेक बातों के निरीक्षण से प्राप्त होता है। किसी विषय की बिखरी हुई बातों में से प्रत्येक का निरीक्षण करके उसके आधार पर सब परिणामों की समष्टि पर विचार एवं विवेचना के द्वारा व्यापक नियमों की कल्पना करना विज्ञान या शास्त्र का कार्य है, अतः शास्त्रीय ज्ञान व्यापक और साधारण होता है।

उन व्यापक नियमों को, जो अनेकों बिखरी हुई बातों पर, (जिनको एकत्रित करके और जिनका निरीक्षण एवं अध्ययन करके व्यापक नियम बनाये जाते हैं, लागू या घटित होते हैं,) सिद्धान्त या नियम कहते हैं।

प्रत्येक प्रकार के विज्ञान या शास्त्र का अपना एक विशिष्ट विधान या ढंग होता है, और उसके विविधांगों एवं विभागों में एक प्रकार का यौक्तिक क्रम पाया जाता है, उसकी पूर्वापर बातें एक दूसरे से शृंखला के रूप में सुव्यवस्था के साथ संगुम्फित होकर एक दूसरे के साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रखतीं तथा एक दूसरे से निकलती सी जान पड़ती हैं, उनमें सहयोगिता तथा सहकारिता सी होती है।

विज्ञान या शास्त्र न्याय व तर्क से सर्वथा परिपुष्ट एवं प्रतिपादित रहता है। प्रायः इसके दो रूप या अर्थ लिये जाते हैं (१) सैद्धान्तिक—जिसमें विषय का निरीक्षण तथा उसके आधार पर सिद्धान्तों की कल्पना होती है और विषय का ज्ञान सुव्यवस्थित रूप में रक्खा जाता है। (२) व्यावहारिक—इसमें निरीक्षण का उतना प्राधान्य नहीं जितना प्रयोगात्मक कार्य का, इसमें सिद्धान्तों के अनुसार कार्य किया जाता है। इसी रूप का नाम कला है। यह सदैव विज्ञान के सैद्धान्तिक रूप पर निर्भर होता है और किसी विषय के ज्ञान की कुछ न कुछ आँशिक सत्ता को लेता हुआ चलता है।

विज्ञान प्रथम अपने विषय से सम्बन्ध रखने वाली सब बातों को एकत्रित करता है, और इस प्रकार संचयन-कार्य के पश्चात् उनमें से एक एक का निरीक्षण करता है और उनके आवश्यक अंशों को (तत्वों) अनावश्यक अंशों से पृथक करके रखता है, इस प्रकार विश्लेषण करके वह आवश्यक बातों की एक समष्टि बना लेता है, तदुपरान्त उन सब आवश्यक तत्वों में से उन तत्वों एवं अंशों को, जो सभी समावलोकित उदाहरणों में समान रूप से सदैव व्यापकता के साथ अबाधिता से पाए जाते हैं, लेकर उनके आधार पर एक व्यापक नियम की कल्पना करता है,

जो फल या परिणाम कहलाता है। फल के प्राप्त हो जाने पर उसको अन्य उदाहरणों पर घटित किया जाता है। यदि वह पूर्ववत् चरितार्थ ठहरा, तो एक सिद्धान्त बन जाता है। इस प्रकार गृहीत विषय के विविध अंगों की बातों का निरीक्षणादि करके उनके व्यापक सिद्धान्त बना लिये जाते हैं और वह विषय सब प्रकार वैज्ञानिक अन्वेषण एवं गवेषण से निरीक्षित हो पुष्ट हो जाता है और उससे सम्बन्ध रखने वाले सिद्धान्तों की एक समष्टि तैयार हो जाती है, जो फिर यौक्तिक क्रम के आधार पर सुव्यवस्थित की जाती है, यों उस विषय को वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय रूप प्राप्त हो जाता है। ऐसा करने में संश्लेषण, वर्गीकरण तथा व्यवस्था-विधान का सहारा अनिवार्य होता है।

फिर ज्यों ज्यों विज्ञान का विकास होता जाता है त्यों ही त्यों उक्त प्रकार से उसके कोने कोने ढूँढ़े जाते और नये नये नियम निकाले जाते हैं। प्राप्त सिद्धान्तों एवं नियमों के आधार पर उनके कुछ अनुमान भी जो उन्हीं से स्वभावतः निकल आते हैं, निकाल लिये जाते हैं, और उपनियमों या उपभेदों के रूप में रखे जाते हैं।

इस प्रकार एक शास्त्र के तैयार हो जाने पर कुछ लोग उसके सिद्धान्तों का प्रयोग कर चलते हैं और इस व्यावहारिक व्यापार से कला का प्रादुर्भाव एवं विकास हो चलता है।

यह कहना कि विज्ञान प्रथम है या कला, सीधी बात नहीं, इस पर बड़ा मतभेद है और अद्यापि इस विवादग्रस्तता का अन्त नहीं हो सका, तथा न कोई निश्चित सिद्धान्त ही निर्धारित किया जा सका है। ऐसी दशा में विद्वानों ने दोनों को सहचर या सहयोगी ही माना है, दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध बताया है और दोनों को एक विषय के दो पटल या रूप कहे हैं।

अब यदि काव्यालंकार के विषय को देखा जावे और उसके इतिहास पर दृष्टिपात किया जावे, तो ज्ञात होगा कि कदाचित प्रथम काव्य-साहित्य ही का जन्म हुआ था और आदि कवि वाल्मीकि तथा अन्य कविवरों के द्वारा कविता का एक विशाल, सुन्दर तथा अलंकृत प्रासाद रचा गया था, उसीको भली प्रकार देखकर तथा उसके मर्मों को विचार एवं विवेक के द्वारा अववोधित करके भाषा, विज्ञान एवं काव्य के मर्मज्ञ समालोचकों के द्वारा काव्य सम्बन्धी कतिपय नियमोपनियमों की कल्पना की गई है।

यह बात इस प्रकार और भी प्रमाण पुष्ट हो जाती है कि काव्यालंकार के विषय से सम्बन्ध रखने वाले प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थ प्रथम उन्हीं नियमों को दिखलाते हैं जिनसे काव्य में आने वाले दोषों का निराकरण या दूरीकरण हो सकता है। पहिले कदाचित यही समझा गया था कि दोषों से सर्वथा रहित काव्य ही सत्काव्य एवं सुन्दर काव्य है। फिर भाषा, मानव-प्रकृति तथा अन्यान्य विषयों के मर्मज्ञों एवं तत्वज्ञों ने काव्य-साहित्य का निरीक्षण कर उसके सौंदर्य-साधनों का निरूपण किया और अनेक प्रकार के सिद्धान्त तथा नियम निश्चित कर दिये, जिनसे काव्यालंकार शास्त्र की एक स्वतन्त्र सत्ता तथा महत्ता स्थापित हो गई।

काव्य साहित्य का ज्यों ज्यों विकास हुआ है त्यों ही त्यों काव्यालंकार शास्त्र में भी वृद्धि एवं परिष्कृत समृद्धि आती गई है, और उसका भी विकास होता गया है। इससे यही स्पष्ट होता है कि काव्य-कला का जन्म एवं विकास काव्यालंकार शास्त्र से पूर्व में ही प्रारम्भ हुआ है। हाँ, यह अवश्य हुआ है कि दोनों ओर पर्याप्त विकास हो चुकने पर काव्यालंकार शास्त्र के नियमों के आधार पर ही कवियों को चलना पड़ा है, और उन्हीं के नियंत्रण में रह कर काव्य की रचना करनी पड़ी है, यद्यपि कवियों को फिर भी कुछ

स्वतन्त्रता अवश्य ही दे दी गई थी, तथापि उनकी इस स्वतन्त्रता को अनुचित प्रोत्साहन नहीं दिया गया था, वरन् उसकी एक प्रकार से अवहेलना ही की गई है। प्राचीन काव्य के देखने से स्पष्टतया यह ज्ञात होता है कि काव्य प्रथम सर्व साधारण के लिये सरल एवं सुबोध रूप में रचा जाता था, किन्तु ज्यों ज्यों उसमें विकास होता गया त्यों ही त्यों वह विद्वानों एवं सहृदय पठित समाज के ही लिये रचा जाने लगा। यहाँ तक कि यह कठिन और दुस्साध्य ही नहीं वरन् असाध्य सा ही हो गया कि काव्य का आनन्द उसे देख कर और बिना काव्यालंकार शास्त्र का पर्याप्तज्ञान प्राप्त किये किसी साधारण व्यक्ति को मिल सके। यह बात इसी कारण से हुई है कि काव्य अलंकार शास्त्र के निमोपनियमों से नियंत्रित होकर गंभीर, जटिल तथा कठिन बना दिया गया है।

उसमें वाह्य सौंदर्य के लिये कला-कौशल एवं चमत्कार-वैचित्र्य का गहरा रंग भर दिया गया है।

यह भी स्पष्ट ही है कि कला की चमत्कृत विचित्रता जितनी उत्तर काल के काव्यों में पाई जाती है उतनी पूर्व काल के काव्य ग्रन्थों में कदापि नहीं। अस्तु—

अब देखना है कि काव्यालंकार का विषय कैसे और कहाँ तक शास्त्र है? या कहाँ तक और कैसे कला है।

शास्त्र के लक्षणों में से एक लक्षण यह भी है कि वह प्रकृति की गवेषणा एवं विवेचना करता है, अब हम देख सकते हैं कि काव्यालंकार में मानव-प्रकृति तथा भाषा एवं शब्दादि (जिसमें वर्ण, स्वर, आदि भी सम्मिलित हैं) के मर्मों का अन्वेषण एवं विवेचन होता है और, इस प्रकार इसमें प्रकृति के एक अंश अर्थात् आकाश तत्व की गवेषणा की जाती है। ऐसा करने ही से वर्णों, शब्दों,

वाक्यों एवं भाषा आदि के मनोहर मार्मिक रहस्यों के सिद्धान्तों की कल्पना की जाती है।

निरीक्षण, विश्लेषण (आवश्यकानावश्यक बातों का पृथक्करण) संश्लेषण (संयोजन) एवं सिद्धान्त की कल्पना आदि का प्रयोग काव्यालंकार के क्षेत्र में भी उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार अन्य शास्त्रों के क्षेत्रों में होता है, इसे हम प्रथम ही दिखला चुके हैं।

शास्त्र या विज्ञान के दो भेद होते हैं। (१) आन्वीक्षकी (२) आनुमानिक। प्रथम में अनेकों उदाहरणों का निरीक्षणादि करके उनसे उन सिद्धान्तों की रचना की जाती है जो अबाध और शाश्वत रूप से सब में सर्वथा व्यापक एवं संनिष्ट होते हैं। इन्हीं सिद्धान्तों की स्वाभाविक सत्यता की परीक्षा उन्हें अन्य उदाहरणों में घटित करके की जाती है तथा उन्हीं के आधार पर प्रयोगात्मक रूप से अन्य उदाहरणों की, जो सब प्रकार उन उदाहरणों के समान होते हैं जिनके आधार पर सिद्धान्तों की कल्पना की गई है, रचना की जाती है। दूसरे में कुछ स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों से (अथवा उन सिद्धान्तों से जो सब प्रकार सत्य एवं प्रतिष्ठित हो चुकते हैं) अनुमान के द्वारा (अथवा स्वयमेव उनसे निकलने वाले) दूसरे सिद्धान्तों, उपनियमों एवं गैाण रूप वाले नये रूपों की रचना की जाती है। हमारा काव्यालंकार शास्त्र एक प्रकार से ये दोनों रूप रखता है, इसके प्रारम्भिक काल में इसका आन्वीक्षकी विद्या कासा रूप था, इसके माध्यमिक एवं विकास-काल में इसने आनुमानिक रूप धारण कर लिया। हम उन मूल एवं स्वाभाविक स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों को जिनका सम्बन्ध मानव-प्रकृति एवं प्रकृति के आकाश से है प्रथम ही दे चुके हैं। यह भी हम स्थूल रूप से बता चुके हैं कि इसके विकास-काल में इसके मूल सिद्धान्तों से अनेकों उपनियम अनुमान के द्वारा निकाले गये हैं।

इस प्रकार इस शास्त्र में दोनों रूपों का सुन्दर समावेश है और यह अन्वेषण एवं अनुमान दोनों से सहायता लेता हुआ विकसित हुआ है।

अलंकार शास्त्र अब विविध नियमों एवं सिद्धान्तों का एक सुन्दर समुच्चय ही हो गया है और उसके अनुसार ही कविता (काव्य) एवं कवियों को चलना पड़ता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि यह एक सैद्धान्तिक शास्त्र है (Theoritical Science) जिसका प्रारम्भ प्रथम काव्य-कला (Poetic art) के आधार पर हुआ है। हाँ, यह अवश्य है कि अब इसके सिद्धान्तों का प्रयोग कला के रूप में कवियों के द्वारा किया जाता है, और वे काव्य में व्यवहृत एवं घटित किये जाते हैं। इस विचार से इस शास्त्र को कला की भी संज्ञा दी जा सकती है और इसे काव्या-लंकार-कला भी (Practical Sceince or art) कह सकते हैं।

निष्कर्ष रूप में यों कह सकते हैं कि काव्यालंकार का विषय एक प्रकार का शास्त्र है क्योंकि यह सत्काव्य के लिये आवश्यका-निवार्य एवं उपयुक्त नियमों तथा सिद्धान्तों की खोज करता है और यह बतलाता है कि किन किन गुणों एवं लक्षणों पर सत्काव्य समाधारित होता है।

साथ ही यह भी कह सकते हैं कि यह विषय एक प्रकार की विशिष्ट कला है, क्योंकि यह कवियों को सत्काव्य का पथ दिखलाने के लिये नियमों को निर्धारित करता और उन्हें दुष्काव्य से बचने में सहायता देता है, यह काव्य के दोषों को दूर करता है तथा उत्तम काव्य को जन्म देता है।

इस शास्त्र की संज्ञा

प्राचीन आचार्यों ने इसे काव्यालंकार के ही नाम से पुकारा है और इस पर उन्होंने जो प्रशस्त ग्रन्थ लिखे हैं उन्हें भी यही

संज्ञा दी है। * यहाँ इसे अवश्यमेव ध्यान में रखना चाहिये कि अलंकार शब्द का प्रयोग मुख्यतया दो अर्थों में किया गया है। (१) अलंकृत करने, सजाने तथा सौंदर्य लाने वाले सभी साधन (२) कवि-रचना के मनोरञ्जक चातुर्य-चमत्कार-युक्त सुन्दर भाषा के भूषण या अलंकार (वामनाचार्य कहते हैं— "काव्यंग्राह्यमलंकारात्, सौंदर्यमलंकारः)"—

चूंकि यह शास्त्र काव्य के सौंदर्यकारी साधनों, विधानों या उपकरणों का परिचय प्राप्त कराता है, इसी लिये इस शास्त्र का नाम काव्यालंकार ही होना उचित है, जैसा कि वामन जी के काव्यालंकार सूत्र की उक्त वृत्ति से ज्ञात होता है।

काव्य-शास्त्र† का दूसरा नाम साहित्य भी है, इस शब्द का प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों में भिन्न भिन्न प्रकार के ३ अर्थों में हुआ है, हाँ इन तीनों अर्थों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य ही। आधुनिक काल में इस शब्द का प्रयोग उक्त अर्थ में होता हुआ कुछ विस्तृत अर्थ में भी होता है और यह अंग्रेज़ी के Literature का पर्याय वाचक माना जाता है, तथा विद्या के प्रायः समस्त विषयों को अपने अन्तर्गत रखता है। प्रथम अर्थ जिसमें इसका प्रयोग

* देखिये आचार्य भामा, वामन और रुद्रट के ग्रन्थ। इसका कारण कदाचित यह है कि उनके समय में काव्य और उसके शास्त्र में अलंकारों का ही प्राधान्य था।

† इस नाम का भी प्रयोग मिलता है—यथाः—

"काव्य शास्त्र-विनोदेन, कालोगच्छति धीमताम्"

काव्यशास्त्र-आनन्द में, पंडित वितवत काल, यहाँ काव्य और शास्त्र (दर्शन शास्त्रादि के अर्थ में) को पृथक भी ले सकते हैं।

प्राचीन ग्रन्थकार करते हैं काव्य है—भर्तृहरि जी ने इसी अर्थ को लेकर "साहित्य संगीत कलानभिज्ञः"—लिखा है, २. दूसरे अर्थ में यह शब्द Literature का व्यापक एवं विस्तृत भाव रखता है जैसा कि "साहित्य पाथोधिविमन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः"—विल्हणकृत विक्रमांकदेव चरित्र के १ले अध्याय के ११वें श्लोक से स्पष्ट है; यहाँ साहित्य का अर्थ विद्या है, काव्य उसके समुद्र से उत्पन्न होने वाला अमृत है।

(३) राजशेखर के समय में (६०० वर्ष पूर्व ईसा) इस शब्द का प्रयोग काव्य-शास्त्र के अर्थ में होने लगा था।

प्रतिहारेन्दु राज ने इसी अर्थ को लेकर साहित्य शास्त्र का प्रयोग किया है।

मुकुल जी ने भी अपनी कारिका में इसकी यों सूचना दी है "पद-वाक्य प्रमाणेषु तदेतत्प्रतिविम्बितम्।"

यो योजयति साहित्ये तस्यवाणी प्रसीदति॥ राजशेखर ने भी यों ही कहा है—

"पंचमो साहित्य विद्येति, यायावरीयः। साहि चतसृणामपि विद्यानां निष्पंदः—काव्यमीमांसा। मङ्खक के "विनान साहित्य विदाऽपरत्र गुणाः कथञ्चित्प्रथते कवीनाम्"—श्री कंठ चरित्र से भी यही प्रतीत होता है।

यह कहना अवश्यमेव दुस्साध्य है कि किस वर्ष एवं किस दिन इसे इस अर्थ की प्राप्ति हुई। यदि शब्द को देखा जावे तो यही ज्ञात होता है कि इस शब्द की उत्पत्ति इस अर्थ के साथ कदाचित उसी समय हुई होगी, जिस समय काव्य शब्द और अर्थ का एक सम्मिलित रूप माना गया था, और उसके सम्बन्ध में "शब्दार्थौ सहितं काव्यं"—भामा ने कहा था, क्योंकि साहित्य

शब्द सहित से बना हुआ जान पड़ता है। यह राजशेखर के वचनों से भी स्पष्टतया सिद्ध है—"शब्दार्थ योर्यथावत्सहयोगेन विद्या साहित्य विद्या" (काव्यमीमांसा)। ऐसा ही व्यक्ति विवेक नामी टीका से भी ज्ञात होता है।

माध्यमिक काल में जब काव्य-क्षेत्र में कतिपय आन्दोलनों तथा सिद्धान्तों का विकास वेग से हुआ और अलंकार सिद्धान्त का प्राधान्य कुछ न्यून हो चला तथा उसके स्थान पर रस, ध्वनि, आदि की सत्ता-महत्ता प्रतिष्ठापित हो गई तब अवश्य ही कुछ उथल पुथल हुई और इस शास्त्र को विकास के साथ ही साथ दूसरे नामों से भी विभूषित किया जाने लगा।

अलंकार शब्द के अर्थ में संकीर्णता के आजाने तथा इसके दूसरे अर्थ में प्रयुक्त होने पर इस शास्त्र का नाम आभूषण, भूषणादि के साथ (जिनको रूपकालंकार के आधार पर अलंकार का समानार्थ वाची कहा गया है—क्योंकि दोनों ही वाह्य सौंदर्य के उपकरण या साधन हैं) चलने लगा।

जैसे सरस्वती कण्ठाभरणादि—यही प्रणाली भाषा में भी बहुत से आचार्यों एवं कवियों के द्वारा परिवर्तित की गई।

जिन आचार्यों ने अलंकारों को गौण स्थान देकर अपने किसी विशेष सिद्धान्त को उठाकर उसे प्रधानता दी है उन्होंने इस शब्द या इसके समर्थवाची किसी भी शब्द का प्रयोग अपने ग्रन्थ के नाम में नहीं किया।

जैसे—'ध्वन्यालोक' (ध्वनि सिद्धान्त को उठाने वाला। 'वक्रोक्ति जीवित' वक्रोक्ति को प्रधानता देने वाला), 'रस गंगाधर'। कुछ लोगों ने इसे इसके मूलार्थ में ही प्रयुक्त किया है, जैसे अलंकार सर्वस्व (रुय्यक कृत), अलंकार शेखर (केशव मिश्र कृत)।

जिन आचार्यों ने काव्य के समस्त अंगों पर समान रूप से प्रकाश डाला है उन्होंने काव्य शब्द को ही अपने ग्रन्थों के नामों में प्रधान रक्खा है जैसे—काव्यमीमांसा (राजशेखर कृत) काव्यादर्श (दंडी कृत) काव्यप्रकाश (मम्मट कृत)। हिन्दी भाषा में काव्य निर्णय आदि ग्रन्थ भी यही सूचित करते हैं।

कतिपय आचार्यों ने 'यथानामः तथा गुणः' का ध्यान न रख केवल अपनी रुचि के ही अनुसार सुन्दर तथा समाकर्षक नाम दे दिये हैं और उनमें भी काव्य का चमत्कार अलंकारिक शब्दावली के साथ दिखलाया है—जैसे चन्द्रालोक, कुवलयानन्द (अप्पय और जयदेव कृत)।

विश्वनाथ जी ने काव्यशास्त्र के अर्थ में साहित्य शब्द का प्रयोग कर अपने ग्रन्थ का नाम साहित्य दर्पण रक्खा है।

उत्तर काल में कवियों ने अपने आश्रयदाता राजा महाराजाओं को प्रसन्न करने और अपने काव्य के साथ उनके नामों को भी चिर-स्थायी करने के लिये अपने ग्रन्थों के नाम उन्हीं के नामों के आधार पर रखे हैं—यह रीति हिन्दी भाषा के आचार्यों ने भी ग्रहण की है, जैसे प्रताप रुद्र यशोभूषण, संस्कृत में और हिन्दी भाषा में शिवराज-भूषण, रावणेश्वरकाल्पतरु, रामचन्द्रयशोभूषण, जसवन्तयशो-भूषणादि ।

काव्यालंकार शास्त्र के वर्ण्य-विषय

इस शास्त्र में प्रायः साधारणतया निम्न विषयों का समावेश किया गया और किया जाता है।

१—काव्य-प्रयोजन—काव्य के लाभ (कवि के लिये और दूसरों के लिये) काव्य का लक्ष्य—(लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति, एवं अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की प्राप्ति)।

२—काव्य-हेतु—अभीष्ट प्राप्ति; कवि-शिक्षा (यह निर्धारित करना कि कवि को किन किन विषयों का ज्ञान होना आवश्यक है)*

---

* कवि को निम्नलिखित मुख्य विषयों का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। भामा जी इन्हें काव्य-योनयः कहते हैं—

काव्योद्गम स्थान (काव्ययोनयः) ये हैं—

१—व्याकरण
२—छन्द शास्त्र
३—इतिहास
४—लोक व्यवहार
५—तर्क-न्याय
६—सत्कला

वामन इनमें इन्हें और जोड़ते हैं—

७—चरित्र-शास्त्र (स्मृति)
८—रस सिद्धान्त (मनोविज्ञान)
९—अर्थ शास्त्र एवं नीति
१०—कोष

सत्कवि बनाने वाली ३ बातें मुख्य हैं:—

१—प्रतिभा—कल्पना और कवि की कवित्व-शक्ति
२—व्युत्पत्ति
३—अभ्यास

प्रतिभा—" अपूर्व वस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा "

शक्ति—"प्रतिभानां वर्णनीयवस्तु विषय नूतनोल्लेख शालित्वम् "

व्युत्पत्ति—"छंदो व्याकरण कला लोक-स्थिति पदार्थ विज्ञानात्। युक्तायुक्त विवेकौ व्युत्पत्तिरियं समासेन" ॥

३—काव्य परिभाषा—काव्यात्मा (रस, रीति, गुण, ध्वनि, आदि के सिद्धान्त) काव्य-शरीर—(शब्द और अर्थ) शब्द-शक्ति (अभिधा लक्षणा, व्यंजना) गुण (प्रसाद, माधुर्य, ओज, औदार्य, कान्ति आदि) इनका अर्थ से सम्बन्ध (वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य) वृत्तियाँ और रीतियाँ (उपना०, परुषा, कोमला; गौड़ी, पाँचाली लाटी आदि)।

४—काव्य-भेद—१—गद्य २—पद्य ३—मिश्र, भाषा के अनुसार १—संस्कृत २—प्राकृति ३—अपभ्रंश, शैली के आधार पर १—मुक्तक, और प्रबन्ध काव्य (महाकाव्य एवं, खंड काव्यादि)।

इन्द्रियात्मक भेद(१) दृश्य (२) श्रव्य

काव्यात्मा के विचार से—१—ध्वन्यात्मक, २—रसात्मक ३—अलंकृत ४—गुणात्मक ५—रीत्यात्मक नामी भेद होते हैं।

५—काव्य के दोष और उनका परिहार—

दोष— १—पद सम्बन्धी। २—वाक्य सम्बन्धी ३—अर्थ और भाषा (प्रयोग, व्याकरणादि) सम्बन्धी) ४—रस दोष, ५—भाव दोष। ६—अलंकार दोष।

६—काव्य सौन्दर्य—अलंकार (शब्द व अर्थ सम्बन्धी) और काव्य-कला के चातुर्य-चमत्कार।

७—कवि परम्परा—कवि-वर्णनशैली, कवि-वाणी-वैचित्र्य, कवि-काव्य-मार्ग, वर्ण्यावर्ण्य विषय तथा तत्सम्बन्धी नियम।

खेद का विषय है कि कोई भी ग्रंथ इन सब का पूर्ण विवरण या विवेचन साँगोपांग नहीं देता, वरन् इनमें से कुछ चुने हुये विषयों का ही वर्णन करता है।

काव्यशास्त्र के ग्रन्थों का विभाग

१—उक्त समस्त या उनमें से प्रधान २ विषयों पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ हैं:—

साहित्य दर्पण, प्रतापरुद्रयशोभूषणादि ।

२—क—दृश्य काव्य को छोड़कर अन्य सभी विषय वाले—

काव्यादर्श, काव्यालंकार सूत्र, काव्यप्रकाशादि संस्कृत के और काव्यनिर्णयादि भाषा के ग्रन्थ हैं।

ख—केवल दृश्य काव्य पर—नाट्यशास्त्र और दशरूपक संस्कृत में हैं, हिन्दी भाषा में ऐसे ग्रन्थ अभी नहीं हैं।

३—केवल किसी विशेष सिद्धान्त के पोषक ग्रन्थ संस्कृत में ये हैं। ध्वन्यालोक, वक्रोक्ति जीवित, व्यक्ति विवेक।

४—शब्द-शक्ति पर ही प्रकाश डालने वाले संस्कृत में ग्रन्थ ये हैं:—अभिधावृत्ति मातृक, वृत्तिवार्तिक, शब्द व्यापार विचार।

५—केवल रसों पर विचार देने वाले संस्कृत के ग्रन्थ ये हैं:—(दृश्य काव्य से पृथक्) शृंगारात्मक, रसतरंगिणी, रस गंगाधरादि और रस कुसुमाकर—हिन्दी के ग्रन्थ हैं।

६—किसी विशिष्ट विषय पर—

रस मंजरी (नायकनायिका भेद) जगद्विनोद आदि भाषा में (नायकनायिका भेद) षटऋतुवर्णन (सेनापति आदि के ग्रन्थ)।

७—केवल अलंकारों पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ ये हैं।

चन्द्रालोक, कुवलयानंद, कंठाभरण, संस्कृत में और शिवराज भूषण, ललित ललाम, चेतचंद्रिका आदि हिन्दी में। हमारी यह प्रस्तुत पुस्तक भी केवल अलंकारों के ही विषय पर है, इसीलिये हमने इसे अलंकार पीयूष के नाम से पुकारा है और इस विषय को वैज्ञानिक रूप देकर इसे अलंकार शास्त्र, (शास्त्र शब्द का संकीर्णार्थ में प्रयोग करते हुए) कहा है।

अन्य शास्त्रों से इस शास्त्र का सम्बन्ध

काव्यालंकार शास्त्र का प्रधान सम्बन्ध व्याकरण से है, क्योंकि व्याकरण शास्त्र ही भाषा का, जिस पर ही सब शास्त्र सब

प्रकार निर्भर हैं पथप्रदर्शक है। इसके तीनों मुख्य विभागों से काव्यालंकार शास्त्र का गहरा या घनिष्ठ सम्बन्ध है। व्याकरण के शब्द-विचार पर शब्दालंकार (अनुप्रास, यमकादि) वर्ण-विचार पर वृत्यनुकप्रासादि, और वाक्य-विचार पर, कतिपय अर्थालंकार और उपमा-प्रपंचादि आधारित हैं।

इसके साथ ही यह शास्त्र मनोविज्ञान से भी, रस, भाव तथा उक्ति-वैचित्र्यादि में, जो मानव-प्रकृति की भिन्न २ वृत्तियों पर निर्भर है, सहायता लेता है। मन को, भाषा का कैसा रूप, रंग तथा ढंग सुखद एवं आकर्षक होता है, यह मनोविज्ञान ही बताता है, इनसे सम्बन्ध रखने वाले उसके सिद्धान्तों के आधार पर कतिपय अलंकारों का जन्म एवं विकास हुआ है।

न्याय शास्त्र या तर्कशास्त्र से भी काव्यालंकार शास्त्र का अच्छा सम्बन्ध है। तर्क के कतिपय नियमों को इसने अपना लिया है, और उसके कई प्रकार के न्यायों पर आधारित कर न्यायमूलक अलंकारों (लोक न्याय, वाक्य न्याय, एवं तर्क न्याय) का प्रकाश और विकाश किया है।

दर्शन शास्त्र का भी इसके ऊपर गहरा प्रभाव है और उससे इसका अच्छा सम्बन्ध भी है—कार्य-कारण सिद्धान्त पर ही कतिपय अलंकार समाधारित हैं—जैसे असंगति आदि।

वैशेषिक शास्त्र के सभी प्रमाणों को इस शास्त्र ने अपना कर प्रमाणालंकार को जन्म एवं विकास दिया है।

इसी प्रकार इसने नाट्यशास्त्र से भी अपना सम्बन्ध कर लिया है और रस, भाव, एवं आंगिक अभिनय एवं क्रिया सम्बन्धी अलंकारों की कल्पना की है।

छंदशास्त्र के तो आधार पर काव्य का एक प्रधान अंग (पद्यकाव्य) पूर्ण रूप से ठहरा ही हुआ है। अलंकार शास्त्र का वर्णकौतुकमूलक भाग (एकाक्षरावृत्ति, एवं कूटादि) भी इसके सहारे पर ठहरा है। इन्हीं शास्त्रों को हम काव्य शास्त्र के उद्गमया जन्मकारी साधन कह सकते हैं।

अब इतने ही से यह स्पष्ट है कि अलंकार शास्त्र में कई शास्त्रों के अंशों या तत्वों का सुन्दर समावेश है और इसीलिये उन शास्त्रों से इसका घनिष्ट सम्बन्ध प्रतीत होता है।

उदाहरणार्थ देखिये—

व्याकरण सम्बन्धी अलंकार—

भाविक—(क्रिया मूलक), एवं विशेष्य-विशेषण सम्बन्धी अलंकार—

मनोविज्ञान सम्बन्धी अलं०—

स्मरण, भ्रम, सन्देहादि, उत्प्रेक्षा (कल्पना)

दर्शन शास्त्र सम्बन्धी अलं०—

कार्यकारण सम्बन्धी अलंकार—असंगति आदि, प्रमाणालंकार, हेतु

न्याय शास्त्र (तर्क शास्त्र) सम्बन्धी अलं०—

१—वाक्य न्याय—काव्यार्थापत्ति, पर्यायादि

२—तर्कन्याय—काव्यलिंग, प्रौढोक्ति, प्रतिषेध, अर्थान्तर न्यासादि

३—लोक न्याय—तद्गुण, सामान्य, विशेष, मीलित, लोकोक्ति, देहली दीपक, संकर, संसृष्टि आदि

भौतिक विज्ञान सम्बन्धी अलं०—

आन्वीक्षकी विद्या सम्बन्धी अलं०—तुलनामूलक अलंकार जैसे उपमा

नाट्य शास्त्र सम्बन्धी अलं०—

क्रिया चातुरी सम्बन्धी अलंकार, रसालंकार भावालंकार

काव्यालंकार शास्त्र की परिभाषा

अलंकार शब्द के अर्थ पर ही इसकी परिभाषा सब प्रकार निर्भर होती है। हम प्रथम ही इसके उन दो मुख्य अर्थों को जिनमें इस शब्द का प्रयोग किया जाता है, दिखला चुके हैं। बस उन्हीं के आधार पर हम दो प्रकार की परिभाषायें भी दे सकते हैं—

१—अलंकार शास्त्र)काव्यालंकार शास्त्र) वह शास्त्र है जिसमें ऐसे सिद्धान्त एवं नियमोपनियम दिये जाते हैं जिनके अनुसार चलने पर कवि को सत्काव्य के रचने में पूर्णतया सफलता प्राप्त होती है और काव्य में सौंदर्य, चातुर्य-चमत्कार का वैचित्र्य एवं मनोरंजक समाकर्षण आता है। यह शास्त्र, सैद्धान्तिक एवं प्रयोगात्मक दोनों रूप रखता है, तथा काव्य का मापक या आलोचक (Normative) होता हुआ व्यवस्थात्मक भी (Regulative) कहा जाता है।

२—काव्यालंकार शास्त्र—काव्य-शास्त्र का वह विशिष्ट अंग है जिसमें कवि-प्रतिभा के द्वारा रचित काव्य के विचित्र एवं विशिष्ट कौशल, भाषा के सौंदर्य, और भावों के उत्कर्ष को बढ़ाने चढ़ाने वाले चातुर्य-चमत्कार से परिपूर्ण मनोरंजक आभूषणों के रूपों को निर्धारित करने वाले नियमोपनियमों का विवेचन किया जाता है।

प्रथम परिभाषा तो हमारे प्राचीन आचार्यों के व्यापक एवं विस्तृत-मत के अनुसार है और द्वितीय हमारे माध्यमिक तथा आधुनिक आचार्यों के संकीर्णार्थ सम्बन्धी मतों के ही अनुसार है। हमने भी द्वितीय परिभाषा ही को अपने इस ग्रन्थ का मूल सूत्र माना है और उसी पर अपनी यह अट्टालिका खड़ी की है।

इस शास्त्र का लक्ष्य

काव्य की भाषा में सौंदर्य, वैचित्र्य, असाधारण समाकर्षक प्रभाव, एवं चातुर्य-चमत्कार से मनोरंजकता लाना ही इसका

मुख्य लक्ष्य है, और इसी में सफलता प्राप्त करने के लिये इसका उपयोग भी अभीष्ट होता है।

भाषा को अलंकृत करने तथा उसमें वैलक्षण्य लाने के लिये इसकी महती आवश्यकता है और तदर्थ इसका अनुसरण करना अनिवार्य ही सा है, क्योंकि यह उक्ति-वैचित्र्य ही है—जैसा कुशल आचार्यों ने भी कहा है—जो काव्य को काव्यता प्रदान करता है तथा कवि को साधारण लेखक एवं वक्ता से पृथक करता है। भाव (अर्थ) के विचार का उतना प्राधान्य काव्य में नहीं जितना उक्ति के वैलक्षण्य का है—क्योंकि गंभीर एवं गहरे भाव दार्शनिकों और वैज्ञानिकों आदि में भी होते हैं, किन्तु वे कवि नहीं कहे जाते।

इसी प्रकार रस-भावादि की प्रधानता भी, कुछ अपना विशेष स्थान काव्य में नहीं रखती—हाँ उसकी तूती नाटक तथा नाट्य-शास्त्र में अवश्य ही ख़ूब बोलती है और नाटक एवं नाट्याशास्त्र, काव्य एवं काव्य शास्त्र से अलग ही माने गये हैं (प्राचीन आचार्यों के द्वारा विशेष रूप से) तथा वस्तुतः वे हैं भी पृथक; हाँ, काव्य को एक व्यापक एवं विस्तृत अर्थ देकर भले ही उसमें नाटकों को रख सकते हैं, और यही किया भी गया है। काव्य-शास्त्र के प्रत्येक ग्रन्थ में अलंकारों को एक प्रमुख स्थान मिलना ही इस बात का पुष्ट एवं ज्वलंत उदाहरण या प्रमाण है। रस, भाव, विचार, कल्पना तथा और दूसरे काव्यांग यदि चमत्कृत तथा रोचक भाषा के द्वारा सजावट के साथ व्यक्त न किये गये तो नितान्त ही फीके और निस्सार से हो जाते हैं, इसीलिये अलंकारों को, जिनसे भाषा तथा उसके साथ रस, भाव और विचारादि को सौंदर्य-वैचित्र्य प्राप्त होता है, प्रधानता दी गई है, तथा वस्तुतः दी भी जानी चाहिये।

इस शास्त्र से सब से बड़ा लाभ यही होता है कि काव्य की भाषा में चमत्कृत चातुर्य, उक्ति-वैचित्र्य तथा असाधारण सौंदर्य आ जाता है और वह सर्वप्रिय तथा मनोरंजक होती हुई साहित्य की प्रौढ़, परिष्कृत, सुव्यवस्थित, तथा सुसज्जित भाषा के रूप में हो जाती है। उसे साहित्य में उच्चासन प्राप्त हो जाता है, साथ ही कवि को भी प्रतिष्ठा एवं अक्षय कीर्ति प्राप्ति होती है।

इस शास्त्र के सिद्धान्तों एवं नियमों का प्रयोग न केवल कविता (पद्यकाव्य) ही में होता है या होना चाहिये, वरन् गद्य काव्य (उपन्यास, नाटक, एवं आख्यायिकादि) एवं व्यवहार में भी हो सकता, होता है और होना चाहिये, यदि भाषा में लेखक प्रतिभा, प्रभाव, बल, एवं रुचिर चातुर्य-चमत्कार लाना चाहता है। अनेकों अलंकार ऐसे हैं जिनका प्रयोग इतना विस्तृत, व्यापक और सर्वसाधारण है, कि साधारण श्रेणी के लोग भी उनका यथोचित प्रयोग करते हैं। उपमा, दृष्टान्त, उत्प्रेक्षा, विरोध एवं प्रतीपादि ऐसे ही अलंकार हैं। कह सकते हैं कि ये अलंकार मानव-प्रकृति के लिये सर्वथा स्वाभाविक ही हैं।

अलंकार की परिभाषा

अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति एवं व्याख्या में कहा गया है, "अलंकरोतीति अलंकारः" * जो किसी वस्तु को सुशोभित करे वह अलंकार है। इस प्रकार सौंदर्यकारी सभी साज-सामान इसके अन्दर आ जाते हैं।

शारीरिक सुषमा-समा को बढ़ानेवाले सभी पदार्थ, परिधान, आभूषणादि, अलंकारों की श्रेणी में गिने जाते हैं, यों इस शब्द का अर्थ अलंकृत करने, सजाने या सुशोभित करने से संबन्ध रखता है, किन्तु इस व्यापक अर्थ की सीमा संकीर्ण हो जाती है और अलंकार का अर्थ केवल आभूषण या भूषण (गहना) हो जाता है। जिस प्रकार आभूषण सुवर्ण से बनते हैं उसी प्रकार अलंकार भी सुवर्ण (सुन्दर अक्षर) से बनते हैं, जिस प्रकार सुवर्ण रचित-खचित आभूषणों में चातुर्य (कला-कौशल) चमत्कार एवं प्रतिभा (प्रभा या चमक) की चारुता रहती है उसी प्रकार अलंकारों में भी यही सब मनोरञ्जक साधन रहते हैं, उनमें भी कला (काव्य-कला) कौशल या चातुर्य, चमत्कार एवं प्रतिभा (काव्य प्रतिभा) तथा मनोरंजक चारुता प्रगट होती है। इसी भाव को लेकर कदाचित शब्दालंकारों (सुवर्णालंकारों) पर आचार्यों एवं कवियों ने सबसे प्रथम अधिक ध्यान दिया था और

---

* देखो वामनकृत काव्यालंकार सूत्र—

वामन ने अलंकार की महत्ता दिखलाते हुये अलंकार का लक्षण यों दिया है—"सौंदर्यमलंकारः"।

उन्हीं को प्रधानता दी थी, उन्हीं के कला-कौशल के साथ अनेक रूप रचे थे, और काव्य एवं भाषा के शारीरिक सौंदर्य को अपनी प्रतिभा के द्वारा सुवर्ण-रचित सुन्दर शब्दालंकारों के आभूषणों से बढ़ाने चढ़ाने का प्रयत्न किया था।

आभूषणों के द्वारा जैसे चित्त में प्रसन्नता उत्पन्न होती है वैसी ही प्रसन्नता अलंकारों के द्वारा उत्पन्न करने के विचार से विद्वान् प्रकृति-ज्ञानपटु तथा शब्द, ध्वनि एवं भाषातत्वज्ञों ने वर्ण-विन्यास, शब्दों के सुष्टु संगठन तथा पदों के प्रमोदकारी संगुम्फन की सुव्यवस्था एवं सजावट के सिद्धान्त या नियम निकाले और एतदर्थ मनोविज्ञान एवं सौंदर्य-सुख-शास्त्र (Easthetic Seicnce) के गहन मर्मों की विवेचना एवं गवेषणा से सहायता ली, तथा उसके सिद्धान्तों का प्रयोग इस ओर किया। फलतः अनुप्रास, यमकादि शब्दालंकारों का अविर्भाव एवं विकास हो गया। इनमें प्रथम सुवर्ण-विवेचना की गई और सुन्दर, मंजुल, मनोरम, मधुर एवं मृदुवर्ण, कठिन, कठोर एवं कटु वर्णों से पृथक किये गये। फिर सुवर्णों के सुव्यवस्थित संगुम्फन का कार्य हुआ और इससे दो पथ हो गये, एक तो संगीत का, दूसरा काव्य या कविता का—प्रथम में स्वरों तथा राग-रागिनी का विशेष ध्यान रक्खा गया, दूसरे में इनके ध्यान के साथ ही साथ मात्राओं एवं वर्णों की यथाक्रमता, लय तथा राग लाने के लिये एक विशेष प्रकार की गणना—(जिसका सम्बन्ध गणित शास्त्र से उत्तर काल में विकासार्थ हुआ और प्रस्तारादि की सृष्टि हुई) पद्यवत्ता या छंदवत्ता का विशेष विचार रक्खा गया। इस प्रकार संगीत एवं गंधर्वशास्त्र तथा पिङ्गलशास्त्र के जन्म हुए।

पिङ्गलशास्त्र में निश्चित किये हुये वर्णविन्यास का वर्ण विचार, शब्दविचार, भाषातत्वज्ञान तथा मानव-प्रकृति के आधार

पर परिमार्जन किया गया और जैसा हम अलंकार के विषय में कह चुके हैं, शब्दालंकारों एवं अनुप्रासादि की कला निकल आई।

यदि विचार-पूर्वक देखा जाये तो शब्दालंकारों के आधार-भूत सिद्धान्त ये ही जान पड़ते हैं :—

१—पुनरुक्तिः—इससे रसना, मन, एवं मस्तिष्क को एक विशिष्ट सरलता; सुष्ठता एवं प्रसन्नता प्राप्त होती है, यह स्वाभाविक बात है। इसीलिये न केवल काव्य में ही इससे सहायता ली गई है वरन् भाषाविज्ञान सम्बन्धी साहित्यिक शब्द-रचना में भी इसका बहुत बड़ा हाथ है, भाषा के अनेकों शब्द इसी के आधार पर रचे गये हैं।

काव्य में इसके साहाय्य से अनुप्रास और यमकादि की उत्पत्ति हुई है। यह अवश्य है कि इसके कई रूप कर दिये हैं—

१—वर्णावृत्ति, जैसे, अनुप्रास और उनके भेद छेक व यमक में।

२—शब्दावृत्ति, जैसे यमक के दूसरे रूप, पुनरुक्तवदाभास तथा उनके भेदों में।

३—पदावृत्ति, जैसे लाटादि में।

२—प्रयत्नलाघवः—इसके द्वारा वृत्तियों एवं रीतियों का आविष्कार हुआ। जिन वर्णों के बोलने में रसना तथा नाद-यंत्रों को सरलता होती है तथा उन्हें कम प्रयत्न करना पड़ता है वे अल्पप्राण व्याकरण में और मंजुल या मृदुलवर्ण काव्य में माने जाते हैं, इससे उपनागरिका एवं कोमला वृत्तियाँ चलीं, इसके विपरीत बोलने में कठिन तथा अधिक प्रयत्न चाहने वाले वर्ण परुष, महा-प्राण या कठोर माने जाते हैं, इनसे परुषावृत्ति चली, ये सब वृत्यनु-प्रास के ही अन्दर प्रथम के आवृत्ति सिद्धान्त के साथ रक्खी गईं।

३—उच्चार-साम्य या स्वर एवं ध्वनि-साम्यः—ऐसे वर्णों के बोलने एवं सुनने में एक विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है, जो एक ही स्थान से (नाद-यंत्रों के एक ही स्थल से) बोले जाते हैं। इसके आधार पर श्रुत्यनुप्रास का जन्म हुआ।

यद्यपि काव्य में पुनरुक्ति एवं शब्दावृत्ति का निषेध किया गया है तथा उसे अच्छा नहीं कहा गया, तो भी उसके स्वाभाविक गुणों से आकृष्ट एवं वाध्य हो उसे भी काव्य गुणों एवं अनुप्रासों में स्थान दे ही दिया गया। इससे वस्तुतः कभी २ भावोत्कर्ष एवं रसोत्कर्षादि हो जाता है, इसीलिये वीप्सा आदि की महत्ता-सत्ता मानी गई है और उनसे अलंकारता की उत्पत्ति की गई है। इस प्रकार शब्दालंकारों का जन्म एवं विकास हुआ। अस्तु—

इन उपर्युक्त मानव-वृत्तियों के साथ ही साथ कुछ और विचित्र प्रकार की वृत्तियाँ मानव-प्रवृत्ति में पाई जाती हैं और वे हैं—

४—कौतुक-कुतूहल-प्रियताः—इसके कारण मनुष्य कौतुक एवम् कुतूहल में संलग्न होता तथा आनन्द पाता है। उसे प्रत्येक पदार्थ के साथ कौतुक करना तथा उसके द्वारा एक विचित्र चित्ताकर्षक कुतूहल का उपजाना बहुत रुचता है। इस मनोवृत्ति के कारण अनेक प्रकार की कौतुक-कलाओं का जन्म हुआ है और कदाचित इसी के आधार पर काव्य-कला में भी ऐसे अलंकारों की उत्पत्ति तथा वृद्धि हुई है, जैसे—चित्रकाव्य।

५—एक दूसरी मनोवृत्ति ऐसी भी है जो ठीक प्रथमवृत्ति (सरलता-प्रियता) के प्रतिकूल है। यह मनोवृत्ति क्लिष्टता, जटिलता, तथा उलझन में आनन्द पाती है और उसी की ओर आकृष्ट हो मन को जिज्ञासु बना कर समुत्सुकता एवं उत्कंठा के साथ उसकी ओर लगा देती है। यह सीधे मार्ग पर चलना न पसंद कर वक्र मार्ग में अभिरुचि के साथ बढ़ती चलती है। इसी के कारण भाषा

में वक्रता तथा घुमाव फिराव के साथ किसी बात के कहने की रीति या शैली का प्रादुर्भाव होता है तथा काव्य में ऐसे अलंकारों का जन्म होता है, जैसे—वक्रोक्ति, अन्योक्ति, और विभावनादि।

इसी प्रकार की एक तीसरी वह मनोवृत्ति है जिसे किसी बात के छिपा देने तथा उसके द्वारा कुतूहल उपजाने तथा छिपी हुई बात के खोजने में आनन्द प्राप्त होता है, इसके प्रभाव से काव्य में कूट (दृष्टकूटादि) प्रहेलिका, (मात्राच्युतक, वर्णच्युतकादि) अन्तर्लापिका एवं वहिर्लापिकादि का प्रकाश होता है। अस्तु, ऐसी ही भिन्न भिन्न मनोवृत्तियों के, (१—भावाभिव्यंजन—जिसके द्वारा मनुष्य अपने मन के भावों को दूसरों पर प्रगट करता तथा दूसरों के भावों को जाना चाहता है। २—न्यूनाधिक कारिणी—जिसके द्वारा मनुष्य किसी पदार्थ या बात को न्यून या अधिक रूप में दिखाता या देखना चाहता है। ३—तर्कना शक्ति—जिसके द्वारा मनुष्य तर्क का करना, और सुनना, चाहता है) आधार पर या इनके कारण से अर्थालंकारों, जैसे—उपमा, प्रतीप, अत्युक्ति, प्रमाणादि का प्रादुर्भाव गद्य एवं पद्य दोनों में हो गया है।

जिस प्रकार सुवर्ण-विरचित आभूषणों से अर्थ (धन) की कल्पना होती है उसी प्रकार काव्यालंकारों से भी, आभूषण जिस प्रकार सार्थकता (धनाढ्यता) का भाव रखते हैं वैसे ही अलंकार भी सार्थकता (अर्थसंयुक्तता) का भाव रखते हैं। इस विचार से अलंकारों की गति अर्थ एवं भाव की ओर झुकी, और उनमें सार्थकता का समावेश एवं सामञ्जस्य किया गया। बस अर्थालङ्कारों का निकास एवं विकास अनिवार्य एवं अवश्यम्भावी हो गया। इस कार्य के सफल होने में उपर्युक्त मनोवृत्तियों तथा तत्वों का बहुत बड़ा हाथ है। मनुष्य स्वभावतः ही सौंदर्य, सजावट तथा रुचिर रचना का प्रेमी है, उसे रचना-वैचित्र्य से विशेष अनुराग है,

इन्हीं वृत्तियों के कारण वह विचारों, एवं उनको प्रकाशित करने वाली भाषा (शब्द एवं पदावली) में भी इन्हीं सब प्रिय एवं अभीष्ट बातों का समावेश करता रहता है। ऐसा करने से ही अलंकारों का जन्म हो गया है और होता चला आया है। साथ ही यह भी एक प्रकृति-सिद्ध बात है कि मनुष्य स्वविचारों को अनेक प्रकार के ढंगों से व्यक्त एवं प्रगट करना चाहता है तथा करता है, जिसके फलस्वरूप में अलंकारों तथा शैलियों (रीतियों) का जन्म हो जाता है। इनकी जब एक बड़ी समष्टि बन गई तब मनुष्य के कला-प्रेम एवं व्यवस्थानुराग से काव्य-कला तथा काव्य शास्त्र (काव्यालंकार शास्त्र) की रचना हुई। अस्तु—

अलंकार के विस्तृत एवं व्यापक अर्थ के अन्दर, जिसे हम ऊपर दिखा चुके हैं, सभी प्रकार के सौंदर्यकारी साधन आ जाते हैं। इसलिये कह सकते हैं कि अलंकार न केवल भाषा-भाव ही से सम्बन्ध रखते हैं वरन् रस, ध्वनि आदि से भी अपनी गाढ़ी मैत्री जोड़ते तथा उन्हें अपने में मिला लेते हैं। कदाचित् इसी कारण ऐसे अलंकारों की भी कलपना की गई है जो रस, ध्वनि, एवं भाव आदि से सर्वथा सम्बन्ध रखते हैं, जैसे—रसवत्, प्रौढ़ोक्ति, भावोदयादि—

केशवदास ने केशवमिश्र के आधार पर अलंकार शब्द को एक विशिष्ट, व्यापक अर्थ में लिया है और अलंकारों के दो रूप या भेद ऐसे दिये हैं जिनका सम्बन्ध काव्य के दो मुख्य तत्वों से है। काव्य, कोई भी हो, मूलतः दो तत्वों से बनता है। १—वर्ण्य-विषय, जिसका वर्णन कवि के द्वारा किया जाता है। २—वर्णन, जो कुछ वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में कहा जाता है।

इन दोनों में सजावट-सौंदर्य के लाने की आवश्यकता होती है, दोनों को सुन्दर एवं मनोरञ्जक बनाना अनिवार्य है, तभी काव्य सब

प्रकार अलौकिक आनन्द का देने वाला, रुचिर, रोचक तथा प्रशस्त हो सकता है। ऐसा करने के लिये कवि की कुशल प्रतिभा ही एक मात्रसाधन है, इसी से वह स्वविवेकानुभव के साथ चुने हुये सुन्दर वर्ण्य-विषय की समस्त सामग्री (लोक प्रवृत्ति-प्राप्त तथा कवि-कल्पना से कल्पित की हुई) से कला-कौशल की साहाय्य ले एक रम्य काव्य-सदन का निर्माण कर सकता है। इसलिये सबसे आवश्यक बात कवि के लिये प्रथम अनुभव-ज्ञान (प्रकृति, मानव-प्रकृति, कला, शास्त्र, एवं अन्यान्य प्रकार का ज्ञान) है। तदनन्तर उसके लिये प्रत्येक पदार्थ के सब ओर से सब प्रकार का विवेचना-विश्लेषण, संश्लेषण, एवं सुव्यवस्था से निपुण निरीक्षण और कल्पना-कौशल की आवश्यकता है। इन सबके आधार पर कवि एक सुन्दर वर्ण्य-विषय खोजकर प्राप्त कर सकता है। इसके प्राप्त हो जाने पर उसे यह आवश्यकता अनिवार्य होती है कि वह उस विषय से सम्बन्ध रखने वाले स्वमनगत विचारों एवं भावों को, या उस वस्तु से समुत्पन्न होने वाली बातों, मनोवृत्तियों, तथा कल्पनाओं को इस प्रकार की भाषा और रूप या ढंग में* रोचकता तथा विचित्रता के साथ प्रगट

---

* भाषा के रूपों से काव्यगुणों का जन्म होता है, यदि भाषा का रूप सरल, स्पष्ट तथा विचारों को सत्यता (यथार्थता) के साथ प्रकाशित करने वाला व स्वाभाविक है तो उसमें प्रसाद गुण कहा जाता है, यदि भाषा व शैली में मधुरता है तो उसमें माधुर्य-गुण, तथा यदि उसमें कुछ कठोरता का आवेश झलकता है तो उसमें ओज गुण माना जाता है, योंही और गुणों की भी कल्पना भाषा के रूप देखकर की जाती है।

भाषा के ढंगों से अलंकारों की उत्पत्ति तथा भाषा की पदावली की गति या रीति से वृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है।

करे कि उनमें काव्य की कला-कुशलता, चमत्कृत चातुर्य्य-मयी कुतूहलता से समुद्भूत होने वाली मनोरञ्जकता एवं समाकर्षक तथा प्रभावोत्पादक चारुता आ जावे।

ऐसा करने के लिये वह एक विशेष प्रकार की भाषा, तथा उसके विशेष प्रकार के रूप, रचना, या ढंग का आश्रय लेता है। इसीसे काव्य-भाषा (जो साधारण गद्य की साहित्यिक भाषा से सर्वथा पृथक होती है) तथा अलंकारों का प्रादुर्भाव होता है।

काव्य को उक्त दोनों तत्वों पर समाधारित कर केशव ने दो प्रारम्भिक भेद अलंकार के (व्यापक अर्थ लेकर) दिये हैं। प्रथम भेद को, जिसका सम्बन्ध वर्ण्य-विषय से है, सामान्य तथा दूसरे को, जिसका सम्बन्ध भाषा तथा वर्णन से है, विशिष्ट कहा है। विशिष्टालंकार के अन्दर ही हमारे काव्यालंकार आते हैं।

काव्यालंकार शास्त्र के प्रारम्भिक काल में अलंकार शब्द का प्रयोग इसी व्यापक अर्थ में होता रहा था, जैसा वामन कृत काव्यालंकार सूत्र की परिभाषा से स्पष्ट है*। साथ ही एतत्सम्बन्धी नियमोपनियमों एवं सिद्धान्तों का प्रदर्शन कराने वाले शास्त्र का नाम अलंकार या काव्यालंकार शास्त्र रक्खा जाता था। किन्तु जब काव्य की आत्मा एवं आन्तरिक सुन्दरता की खोज हुई और उसकी विवेचना की ओर आचार्यों का ध्यान गया, तब इस शब्द के व्यापकार्थ में संकीर्णता आ चली और इस शब्द से

---

* "सौंदर्यमलंकारः"—अलङ् क्रियते अनेनेति अलंकारः। वृत्तिकार भी कहते हैं—"अलंकृतिरलंकारः," किन्तु वे यह भी सूचित करते हैं कि कदाचित् उनके समय में तथा उनके कुछ ही समय पूर्व इस शब्द का प्रयोग कुछ संकीर्ण अर्थ में भी हो चला था—'पुनरलंकारशब्दोयमुपमादिषु वर्तते'—और इससे उपमादिक का ही परिचय प्राप्त होता था।

केवल उपमादिक का ही अर्थ लिया हो जाने लगा। साथ ही इसके शास्त्र का नाम भी बदल गया और वह साहित्य-शास्त्र कहा जाने लगा।

काव्य-सौंदर्य के यों दो पृथक् रूप कर दिये गये। १—अन्तरंग सौंदर्य (२) वहिरंग सौंदर्य। प्रथम में काव्यात्मा एवं प्राण का निरूपण हुआ और कई सिद्धान्त निकल खड़े हुए।* दूसरे में अलंकार का संकीर्ण रूप जो उपमादिक को सूचित करता है, निर्धारित किया गया।

एक प्रणाली और भी ऐसी प्रचलित हो गई जिसमें कविता को एक नायिका के समान ठहराया गया,† और अलंकार उसके

---

*काव्य की आत्मा या प्राण को मुख्यतः इन रूपों में दिया गया है:—

१—काव्य का प्राण रस है—

—विश्वनाथ—रससिद्धान्तवादी

२—रीति ही काव्य की आत्मा है—

—रीतिवादी—दंडी, एवं वामन,

३—ध्वनि को ही काव्य की आत्मा कहना चाहिये—

—आनन्दवर्धनाचार्य एवं मम्मट

४—गुण ही काव्य का प्राण है।

प्रथम अलंकार को ही (उसके व्यापक एवं विशदार्थ में) काव्य का प्राण माना जाता था।

५—वक्रोक्ति ही काव्यात्मा है।

—कुंतल

† साहित्य-विद्या रूपी नायिका का वर्णन राजशेखर में देखिये।

वाह्य सौंदर्य को उत्कर्ष देने वाले आभूषणों के सदृश दिखलाये गये। इस प्रकार इसका सम्बन्ध काव्य के आन्तरिक अंगों से सर्वथा पृथक् सा हो गया और वाह्यांगों से भी वे पृथक् ही रखे गये, हाँ इनको उसके कलेवर पर शोभा बढ़ाने के लिये अवश्य रखा गया और यह आवश्यक एवं समीचीन भी ठहरा। यदि इनको काव्य-शरोर पर न भी सजाया जाये तब भी कविता-कामिनी का स्वाभाविक-सौंदर्य अपनी प्रतिभा एवं छटा दिखलाता ही रहेगा, और कुछ हानि भी न होगी। इस औपम्यात्मक एवं अलंकृत परिभाषा का प्रचार सर्वमान्य एवं सर्वसाधारण सा ही व्यापक हो गया। हिन्दी भाषा के प्रायः सभी लेखक इसी के आधार पर चलते हैं और अलंकार शब्द के स्थान पर भूषण या आभूषण का प्रयोग करते हुए दोनों शब्दों को एकार्थ या समानार्थवाची अथवा पर्याय वाची शब्द मानते हैं। हाँ, कुछ लेखक अवश्य ही ऐसा नहीं करते, वरन् अलंकार की उपयुक्त परिभाषा वैज्ञानिक रीति से देते हैं। प्रथम हम संस्कृत के आचार्यों के द्वारा दी गई परिभाषाओं की विवेचना करेंगे फिर हिन्दी के आचार्यों के मत दिखलायेंगे।

निष्कर्ष रूप में अब यों कह सकते हैं कि अलंकार शब्द के दो अर्थ लिये गये हैं। (१) व्यापकार्थ—जिसके आधार पर काव्य-सौंदर्य को ही, चाहे वह वर्ण्य में हो, या वर्णन में, अलंकार कहते हैं। (२) संकीर्णार्थ—जिसके आधार पर काव्य-शरीर अर्थात् भाषा के शब्दार्थ से सुसज्जित एवं सुन्दर बनाने वाले चातुर्य-चमत्कार-पूर्ण मनोरंजक ढंग को अलंकार कहते हैं।* यह द्वितीय अर्थ उत्तर

---

* वस्तुतः यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो काव्य का मुख्याधार भाषा है (जो शब्द एवं अर्थ की एक अभंग संसृष्टि या समष्टि है—

काल में इतनी दृढ़ता के साथ प्रचलित हुआ कि अद्यापि इसमें किसी भी प्रकार का घुमाव एवं परिवर्तन नहीं हो सका।

कहा भी है "वागर्थाविवसंपृक्तौ"—रघुवंशे) इसी पर काव्य का महत्व टिका है। भाव, विचार और कल्पनायें आदि सभी मनुष्यों में न्यूनाधिक एवं साधारण रूप में रहती ही हैं और उनका प्रकाशन भाषा के द्वारा वे दूसरों पर किसी न किसी प्रकार करते ही हैं।

विद्वानों, तत्वज्ञों एवं दार्शनिकों आदि में उच्च, प्रौढ़, विचित्र गूढ़ तथा गंभीर विचारादि बहुत विशेष रूप एवं संख्या में रहते हैं; किन्तु वे कवि नहीं होते।

भावनाओं, मनोवृत्तिओं, एवं रसादिकों की विद्यमानता भी किसी न किसी रूप में प्रायः प्रत्येक मानव-मन या हृदय में अवश्य ही मिलती है, और उनकी आत्मा उनकी भाषा में भी झलकती रहती है, वे उनका प्रकाशन भी करते हैं, किन्तु इससे वे कवि नहीं कहे जाते या हो सकते हैं। यही करने वाला ही कवि नहीं है। अब प्रश्न होता है कि काव्य में क्या विशेषता होनी चाहिये, उत्तर में कह सकते हैं और कहा भी गया है कि काव्य में प्रधानतया सुन्दर भाषा में चातुर्य-चमत्कार का चारुतापूर्ण वैचित्र्य ऐसा होना चाहिये जिससे स्वभावतः ही मनोरंजन प्राप्त हो, ऐसे ढंग से भावादि का भाषा में अनुवाद किया जाये जो साधारणतः प्रयुक्त होने वाले ढंग से सर्वथा विचित्र हो।

जिस प्रकार विचित्र दृष्टिकोण के साथ वैलक्षण्यपूर्ण निरीक्षण से वर्ण्य वस्तु देखी जाती है उसी प्रकार वैचित्र्य के साथ ढंग-विशिष्ट से उसका वर्णन भी चमत्कृत भाषा में होना आवश्यक है, इसी को काव्य-कला कहते हैं और यही काव्य का मूल तत्व या सिद्धान्त है, ऐसा करनें वाला ही सर्वथा सफल कवि कहा जाता है। इसीलिये भामा, एवं कुंतलादि ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा तथा अलंकारों को (जिनका आधार वक्रोक्ति है)

काव्यादर्शकार आचार्य दंडी ने अलंकार की परिभाषा में यों कहा है:—"काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते" अर्थात् 'काव्य की शोभा करने वाले धर्मों को अलंकार कहते हैं'।

इसी परिभाषा को परिमार्जित एवं परिष्कृत करते हुए विश्वनाथ जी अपने साहित्य दर्पण में कहते हैं:—

"शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपर्कुवन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥"

अर्थात् शब्द एवं अर्थ के उन अस्थिर धर्मों को अलंकार कहते हैं जो शब्दार्थाधेय काव्य की शोभा को प्रवर्धित करते हैं, तथा रस और भावादि के उपकारक एवं उत्कर्षकारक हैं। यहाँ यह विचार लेना चाहिये कि उक्त पंडित जी रस सिद्धान्तवादी है, इसीलिये "रसादीनुपकुर्वन्तो" पद और रख देते हैं।

श्री मम्मटाचार्य जी अपने 'काव्य प्रकाश' में कहते हैं— "काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः" अर्थात् काव्य में शोभा लाने वालों को गुण कहते हैं, उनके अतिशय या उत्कर्ष के हेतु अलंकार हैं।" इस प्रकार अलंकारों को काव्य-सौंदर्यकारी गुणों का उत्कर्षक माना है। इसका कारण यह है कि आप गुण एवं रीति-सिद्धान्त के अनुयायी थे।

इस सिद्धान्त के विरोधियों ने यह स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिखाया है कि गुण और रीति वास्तव में वर्णों एवं शब्दों की सुव्यवस्था या क्रमानुसार विरचित विधानों के नियमों से नियंत्रित होने वाले शब्दसंगुम्फन के विशिष्ट मार्ग एवं शैली है। इनका सम्बन्ध अलंकार से कुछ भी नहीं. ये एक प्रकार के स्वतः शब्दा-

---

काव्य का प्राण मानते हैं, और इन्हीं की उपस्थिति से काव्य में सजीवता तथा कला-कुतूहल से समुत्पन्न उत्कृष्ट आनन्दप्रदता, मनोरंजकता तथा समाकर्षकता आती है।

लंकार या वर्णालंकार है । गुणों का आधार विशेषतया व्याकरण सम्बन्धी, सामासिक नियमों तथा उनकी न्यूनाधिकता पर ही है, यही बात वृत्ति के भी साथ है ।* यदि इन्हें गुणोत्कर्ष का हेतु मान लेंगे तो अर्थालंकारों में से बहुत से अलंकार परिभाषा के अन्दर ही न आवेंगे और परिभाषा व्यापक न ठहर कर मान्य न रहेगी ।

आचार्य वामन का भी वही मत है जो आचार्य दंडी का है, हाँ, यह अवश्य है कि वे गुणों की अपेक्षा रीतियों तथा वृत्तियों पर, जिन्हें वे काव्यात्मा मानते हैं—"(रीतिरात्मा काव्यस्य," किन्तु साथ ही "विशेषो गुणात्मा" भी कहते हुए गुणों का भी प्रधानत्व दिखाते हैं और कदाचित् इस प्रकार रीति एवं गुण दोनों सिद्धान्तों के सामंजस्यभूत सिद्धान्त के अनुयायी हैं) विशेष बल देते हैं ।

मम्मट जी ने भी गुणों को रसों का अंगी धर्म, शौर्यादिक आत्मांगी धर्मों के समान, तथा रसों को उत्कर्ष के हेतु मानते हुए अलंकारों को हारादि भूषणों के समान, अंगद्वार से उन गुणों का उपकार करने वाला कहा है—

"ये रसस्यांगिनोधर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः ॥
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥

—काव्यप्रकाश

भाष्यकार ने "अलंक्रियतेऽनेनेति करणव्युत्पत्या अलंकार शब्दः"—कह कर इन्हें शोभाकारी ही प्रगट किया है ।

---

* देखिये रुद्रट कृत काव्यालंकार ।

हेमचन्द्र ने भी अलंकारों को काव्यांगाश्रित ही कहा है और आभूषणों के ही समान माना है।

"अंगाश्रिता अलंकाराः"

भाष्यकार यहीं पर कहते हैं :—"रसस्यांगिनो यदङ्गं शब्दार्थौ तदाश्रिता अलंकाराः"—रस के अंगी रूप शब्द और अर्थ के आश्रित रहने वाले अलंकार हैं।

इस प्रकार संस्कृत के प्रधान प्रधान आचार्यों ने अलंकार शब्द की व्याख्यायें एवं परिभाषायें दी हैं, जिनसे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि काव्य की शोभा को बढ़ाने वाले धर्मों को अलंकार कहते हैं। भाषा-सौंदर्य-प्रवर्धक ये अलंकार रूपी अस्थिर धर्म शब्द और अर्थ (वे दो मुख्य तत्व जो भाषा एवं काव्य को बनाते हैं तथा अनिवार्य और अत्यावश्यक तत्व हैं) पर सब प्रकार समाधारित हैं। इनसे काव्यात्मा रूपी रस के गुणों को उत्कर्ष एवं साहाय्य प्राप्त होती है और अर्थादि में विशिष्ट वैचित्र्य एवं चमत्कार आ जाता है।

हिन्दी आचार्यों का मत

भाषा के आचार्यों में से दो ही एक ऐसे हैं जिन्होंने अलंकार शब्द की परिभाषा दी है, प्रायः और सभी आचार्य इस विषय में मौनवृत्ति ही धारण करते हैं। प्रधानाचार्यों के प्राप्य ग्रंथों में से प्रथम मतिरामजी कृत ललित ललाम ही ऐसा है जिसमें अलंकार की परिभाषा यों मिलती है—

"रस अर्थन तें भिन्न जो, शब्द अर्थ के माँहि।
चमत्कार भूषण सरिस, भूषन मानत ताहि॥"

अर्थात् अलंकार या भूषण वह है जो आभूषण के समान हो (कला-कौशल पूर्ण, चमत्कारयुक्त, तथा सुवर्ण-रचित, रुचिर रोचक,

और प्रतिभापूर्ण विचित्रता से युक्त हो) रस और अर्थ (भावादि) से पृथक् तथा शब्द और अर्थ पर (जिनसे काव्य-भाषा का शरीर बनता है) सजाया गया हो।

भिखारीदास ने यद्यपि अलंकार-विषय का, यदि पूर्ण विस्तृत नहीं, तो सर्वथा पर्याप्त या उससे अधिक, विवेचन दिया है, किन्तु खेद है, कि आपने अलंकार की एक वैज्ञानिक, व्यापक तथा सर्वाङ्गपूर्ण शुद्ध परिभाषा नहीं दी।

उन्होंने अर्थालंकारों को ही विशेष रूप से ध्यान में रखते हुये कहा है "कहुँ बचन कहुँ व्यंग्य में, परै अलंकृत आय।" अर्थात् अलंकार (चमत्कार, या सौंदर्य-वैचित्र्य) कभी वचन (वाच्यार्थ या स्पष्ट स्वाभाविक अर्थ) और कभी व्यंग्य (सूच्यार्थ, जो स्पष्ट नहीं रहता वरन् उससे पृथक सा हो किसी अन्य विशिष्ट अर्थ की ओर संकेत या सूचना देता है) में आ पड़ता है।" यह लक्षण अलंकार का ठीक नहीं, क्योंकि यह शब्दालंकारों के ऊपर घटित नहीं होता।

अन्य सभी वे लेखक जिनके ग्रंथ प्राप्त हैं, अलंकारों को एक ओर से उठाकर क्रमशः उनके पृथक पृथक लक्षण एवं उदाहरण ही देते हैं। किसी ने भी अलंकार शब्द की व्याख्या, व्युत्पत्ति एवं परिभाषा जो सर्वथा सब पर लागू हो, तथा स्वाभाविक, व्यापक, वैज्ञानिक और सर्वाङ्ग शुद्ध हो, नहीं दी। अस्तु, हम यही कह सकते हैं कि कदाचित् अलंकार के रूप, गुण एवं लक्षणादि से हमारे साहित्य का वायुमंडल ऐसा भरा हुआ तथा जन-समूह उससे ऐसा पर्याप्त परिचित था कि इन लोगों ने उसके परिचय देने की आवश्यकता ही न समझी थी।

काव्य में उनका स्थान (प्राचीन)

काव्य की परिभाषा देते हुये आचार्य भामः कहते हैं— "शब्दार्थौ सहितौ काव्यं" अर्थात् शब्दार्थवान् पद काव्य है, इसलिए शब्द और अर्थ में चमत्कृत रोचकता लाना ही कवि के लिये सर्वथा अनिवार्य है, किसी प्रकार के चमत्कार के विना काव्य, काव्य नहीं कहा जा सकता, यह अवश्य है कि विना चातुर्य-चमत्कार के भी काव्य की सत्ता संभव है, किन्तु वैसा काव्य सत्काव्य नहीं हो सकता। 'भामः' उद्भटादि जो अलंकार-सिद्धान्त के मुख्याचार्य हैं, अलंकारों को ही इसीलिये काव्य में प्रधानता देते हैं क्योंकि उनसे काव्य में आनन्दोत्पादक तथा चमत्कृत रोचकता का प्रादुर्भाव होता है।

"तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्"

(अलङ्कारसर्वस्वे)।

इन आचार्यों ने ध्वनि, गुणीभूत-व्यंग्य, एवं लक्षणा, आदि को अलङ्कारों पर ही (जैसे अप्रस्तुत-प्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्ति, वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति आदि) सर्वथा समाधारित माना है, यहाँ तक कि रस और भाव के लिये भी इन्होंने अलङ्कार रख दिये हैं, और उन्हीं के द्वारा रसोत्पत्ति दिखलाई है (रस और भाव के अलङ्कारों का वर्णन देखिये परिशिष्ट में)।

* वास्तव में यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो काव्य में आन-

---

* वामनाचार्य का मत है कि काव्य अलङ्कारों के ही कारण ग्राह्य होता है—"काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।"

न्दोत्पादिनी शक्ति अलंकारों के ही द्वारा आती है। कौन नहीं जानता कि जब हम अपने साधारण बोल चाल की भाषा में कुछ विशेष रोचकता लाना चाहते हैं तो हमें अलंकारों का ही सहारा लेना पड़ता है। अलंकारों से अलंकृत वाक्य-विन्यास ही मनोरञ्जक और समाकर्षक होता है यह अवश्य है कि माध्यमिक काल में जब नाट्य-शास्त्र का प्रभाव काव्य में विशेष रूप से पड़ा, अलङ्कारों का प्राधान्य कुछ न्यून सा हो गया और काव्य की परिभाषा में पंडित विश्वनाथ जैसे साहित्यज्ञों ने " रसात्मकं वाक्यं काव्यं " कह कर रसों का ही स्थान सर्वोच्च कर दिया, तो भी अलङ्कारों की महत्ता, समूल नाश न हो सकी और उन्हें लेकर ही इन विद्वानों को सत्काव्य की मीमांसा करनी पड़ी। काव्य-शास्त्र का कोई भी ग्रंथ अलङ्कारों की आवश्यकता, इनकी चमत्कृत रोचकता और इनकी महत्ता-सत्ता से नितान्तमेव शून्य नहीं, सभी में अलङ्कारों को विशेष विस्तृत स्थान दिया गया है, गुणवादी और रीतिवादी आचार्य भी (जैसे, मम्मट, दंडी, आनन्दवर्धन, वामन आदि) अलंकारों को, इनकी आवश्यकता समझ कर छोड़ नहीं सके।

यदि हम भिन्न २ आचार्यों के द्वारा दी गई काव्य की परिभाषायें देखते हैं तो हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि काव्य में अलङ्कारों का स्थान अवश्यमेव बहुत मान्य है, विशेषतः भामः, रुद्रट, मम्मट, वाग्भट्ट, हेमचन्द्र आदि आचार्य अलङ्कारों को काव्य में अतीव आवश्यक मानते हैं। सारांश यह है कि अलङ्कारों का स्थान काव्य में यदि सर्वोच्च नहीं तो काव्य के किसी भी मुख्यातिमुख्य तत्व से किसी प्रकार कम भी नहीं है। ऐतिहासिक-द्रष्टि से यदि देखा जाय, तो यही ज्ञात होता है कि अलंकार-परिपाटी बहुत प्राचीन है, यहाँ तक कि रस-सिद्धान्त के जन्मदाता तथा काव्य-शास्त्र के

सर्वाग्रगण्य अथवा सर्व-प्रथम आचार्य श्रीभरतमुनि ने भी अपने नाट्य-शास्त्र में अलंकारों का वर्णन किया है। कुछ विद्वानों का मत है, और वह ठीक है कि अलंकार वेद में भी पाये जाते हैं, जो वेद, विद्या का आदि भाण्डागार है। काव्य-शास्त्र के प्रारम्भिक-काल में अलंकारों पर ही ज़ोर दिया गया है और काव्य में इन्हीं की प्रधानता मुख्य मानी गई है, रस-गुणादि का स्थान प्रथम तो भुला ही सा दिया गया है और यदि कुछ माना भी गया है तो केवल गौण रूप में। माध्यमिक काल में अलंकारों का पद अवश्य कुछ घटाया गया है और रस, गुण एवं ध्वनि आदि को श्रेष्ठता प्रदान की गई है, तौ भी अलंकार, काव्य-शरीर की शोभा बढ़ाने वाले अलंकार (आभूषण) माने गये हैं,* इस विचार-वैभिन्य का कारण अलंकार शब्द के दो भिन्न अर्थ ही हैं अर्थात् एक विस्तृत अर्थ, जिसके आधार पर काव्य की शोभा बढ़ानेवाला प्रत्येक तत्व अलंकार माना जाता है, दूसरा संकीर्णार्थ, जिसके आधार पर अलंकार काव्य की वहिरंग शोभा के साधनभूत आभूषण से माने गये हैं। हमारी हिन्दी भाषा के आचार्यों ने, जिन पर पूर्ण रूप से संस्कृत के आचार्यों का प्रभाव पड़ा है—और जैसा होना स्वाभाविक ही है—अलंकारों को प्रायः वही स्थान दिया है जो संस्कृत के काव्य-मर्मज्ञों ने। यह अवश्य है कि हिन्दी के सूर्य और चन्द्र अर्थात् सूर और तुलसी अलंकारों को रस और भाव के सामने

---

* नोट—"काव्यंनिर्दोषंसालंकारंच," (भामः)

तद् दोषौ शब्दार्थौ सगुणावलंकृती पुनः क्वापि —मम्मट,

गुणालंकार सहितौ शब्दार्थौ दोष वर्जितौ।

—काव्यं काव्यविदो विदुः।

(प्रताप रु०—

गौण ही मानते हुये मिलते हैं, किन्तु काव्याकाश में तारों के समान चमकने वाले केशव प्रभृति कवि रस और भाव को अलंकारों पर निर्भर मानते हुये उन्हीं को प्रधानता देते हैं। भाषा-काव्य के माध्यमिक काल में तो सम्पूर्ण काव्य-कौतुक इन्हीं के आधार पर हुआ है और इन्हीं की तूती बोलती रही है। देव, विहारी, सेनापति, पद्माकर, भूषण, और मतिराम आदि सभी प्रशस्त-कवियों ने इन्हीं के आधार पर अपनी २ काव्याट्टालिकायें बनाई हैं। हाँ, भिखारीदास जैसे सम्पूर्ण काव्य-शास्त्र के रचयिताओं ने मम्मट आदि का अनुकरण करते हुये रस, ध्वनि एवं व्यञ्जनादि को ही बढ़ाया चढ़ाया है, किन्तु ऐसा करते हुये भी वे अलङ्कारों की महत्ता-सत्ता को ध्यान से किसी प्रकार भी वहिष्कृत नहीं कर सके।

जब तक वृजभाषा साहित्य एवं काव्य की मुख्य-भाषा रही है तब तक अलंकारों की समय-सम्मानित प्रतिष्ठा कदापि न्यून नहीं हो सकी, वरन् बहुत बढ़ चढ़ गई थी, यहाँ तक कि कवि-लोग अलंकारों के ही लिये कविता बनाने लगे थे और भाषा, भाव तथा रस की अवहेलना करने में भी संकोच न करते थे। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' के नियमानुसार अलंकारों का घट भरते भरते उबल ही पड़ा और उसका रस पीते पीते लोगों को अजीर्ण सा हो गया, यहाँ तक कि आधुनिक समय के लोगों ने इनसे सर्वथा असहयोग सा करके पूर्ण वहिष्कार ही कर लिया है। आधुनिक कवितायें यह प्रगट करती हैं कि अब भाव का प्राधान्य है, न तो रस को ही उतना स्थान मिलता है और न अलंकारों को ही, तो भी धन्यवाद है उन प्राचीन आचार्यों को, जिन्होंने काव्य-तत्वों की शून्यता में भी एक अलंकार की सत्ता निर्धारित कर दी है, और अलंकारों के इतने भेद-प्रभेद कर दिये हैं कि उनसे बच कर निकल जाना कवि और कविता की शक्ति से परे हो गया है।

इस प्रकार कह सकते हैं और दृढ़ता से कह सकते हैं कि अलंकारों की महत्ता-सत्ता उनके विरोधियों के कठिन कुठाराघातों से भी विनष्ट नहीं हो सकी और अद्यापि अपना स्वतंत्र स्थान काव्य-क्षेत्र में रखती है। ध्यान देने की बात है कि कवि का काव्य-कौशल एवं उसकी स्वतन्त्र प्रतिभा इसी में है कि वह अलंकार आदि की जालिका से चतुर्दिक प्रतिरुद्ध होकर भी अपनी कला का स्वतन्त्रता-पूर्वक सुन्दर और सुखद निर्वाह कर ले जाये, और अपने स्वाभाविक भावों को चातुर्य-चमत्कार के साथ व्यक्त करता हुआ दूसरों को अपने रोचक कौतुक से मुग्ध एवं प्रभावित कर दे।

गद्य में अलङ्कारों का स्थान

यह एक नितान्त स्पष्ट बात है कि रोचक गद्य उसी समय मनोरञ्जक और आकर्षक होता है जब वह सुव्यवस्थित, सुसज्जित और अलंकृत हो। किसी बात को सीधे सीधे शब्दों में रख देने से उतनी रोचकता नहीं आती जितनी उसे कुछ घुमा फिरा कर चमत्कृत-ढङ्ग से रखने में आती है। मानव-प्रकृति का एक यह नियम है कि वह ऐसी बातों में प्रायः विशेष आनन्द पाती है जिनमें उसे कुछ खोजने और सुलझाने की आवश्यकता पड़ती है। हाँ, कुछ ऐसे समय और स्थल होते हैं जहाँ मस्तिष्क की जिज्ञासा सीधी सीधी बातों को ही पाकर सुख-पूर्वक शान्त हो जाती है, किन्तु प्रत्येक विकसित, परिष्कृत और कला-प्रेमी मस्तिष्क एक विशेष प्रकार के चमत्कार एवं कौतुक-पूर्ण-कौशल में ही अभिरुचि रखता है। इसी प्रवृत्ति के कारण अनेक कलाओं एवं विद्याओं का प्रादुर्भाव होता है। यह भी प्रत्यक्ष-सिद्ध बात है कि उन्नति-शील विद्वान् अपने भावों एवं विचारों को साधारण-भाषा और सरल-स्पष्ट ढंग से प्रायः बहुत कम प्रकाशित करते हैं, क्योंकि उनका

कला-प्रेम और उनका प्रौढ़ मस्तिष्क उन्हें चमत्कार-पूर्ण गाम्भीर्य्य की ओर सदा ही सब प्रकार अग्रसर करता रहता है, इसीलिये उनकी भाषा विशेष रूप से संगुम्फित और अलंकृत रहती है और इसीसे सुन्दर साहित्य की उत्पत्ति भी होती है।

न केवल सभ्य-समाज में ही यह बात पाई जाती है, वरन् ग्रामीण और साधारण-मनुष्यों में भी अलंकृत-वाक्य-विन्यास के प्रयोग की पर्याप्त-उत्कंठा मिलती है। वे लोग भी अपने विचारों को किसी सीमा तक कला-पूर्ण बनाते हैं। उदाहरण देने की हमें इसलिये आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह हमारे प्रतिदिन के अनुभव में ही आने वाली बात है। किसी बात के समझाने के लिये स्वभावतः ही मनुष्य तत्सादृश्य एवं तद्विरोधादि-सूचक अन्य बातों तथाच उपकरणों का सहारा लेता है। इसलिये ऐसे अलङ्कारों का प्रयोग जो सादृश्य एवं विरोधादि मूलक हैं सर्वथा स्वाभाविक ही है और उनका वहिष्कार अथवा त्याग प्रकृति से परे हैं। यही कारण है कि साधारण बोल-चाल में भी उपमा एवं विरुद्ध आदि अलङ्कार कर्णगोचर होते हैं। कल्पना बुद्धि की प्रधान सहचरी है और अपना कौतुक भावों के साथ समय समय पर करती ही रहती है। इसीलिये कल्पना-मूलक अलङ्कार (उत्प्रेक्षा, रूपक आदि) भी बोल चाल में अवश्यम्भावी से होते हैं।

किसी भी विषय या वस्तु के वर्णन में रोचकता लाने के लिये और उसे सजीवता देने के अर्थ यह अतीव आवश्यक है कि वर्णन इस प्रकार की भाषा में किया जाये जो श्रोताओं एवम् पाठकों के सन्मुख वर्ण्य का एक चित्र सा चित्रित कर सके, एतदर्थ चित्रोपम एवम् सादृश्य-मूलक शब्दों का प्रयोग अनिवार्य सा ही है। प्रत्येक शब्द समूर्त हो, तभी वर्णन साकार हो सकेगा—इस प्रकार रूपकादि अलंकार अवश्य ही आ जाँयगे। इन सब बातों से

यह स्पष्ट ही है कि अलङ्कारों का न केवल कविता ही में एक मुख्य स्थान है वरन् गद्य में भी उनकी आवश्यकता और उनकी महत्ता की सत्ता विद्यमान है। वस्तुतः यदि देखा जाय तो अलङ्कार-रहित भाषा मनोरञ्जक और प्रभावोत्पादक नहीं होती। इसका विशद विवेचना करना हमारे उपस्थित विषय से वाह्य होगा, प्रसंग-वश हम इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि अलंकारों का गद्य एवम् पद्य दोनों ही में, यदि उन्हें काव्य का रूप देना अभीष्ट है, होना ऐसा ही आवश्यक है जैसा प्रकृति-निर्मित सुन्दर शरीर पर सौन्दर्याधिक्य के लिये अलंकारों या आभूषणों का।

अलंकार शास्त्र का इतिहास

निखिल निसर्ग का निर्माता और विशद् विश्व का विचित्र विश्वकर्मा एक भगवान भूतभावन ही सब पदार्थों का एक अक्षय, अनन्त और अपारोद्गम है, उसी से समस्त ज्ञान-विज्ञान-विभाकर की रुचिर रोचक रश्मियों का जाल, तथा समस्त साहित्य-सरिताओं के विस्तृतानन्त स्रोत निकले हैं। वही अखिलेश्वर सर्वानन्द, सत्य, और ज्ञान की पराकाष्ठा, चरम सीमा तथा परमावधि है—"सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म" अथवा "यो ज्ञानस्य परमावधिः सः ब्रह्म"।

वही ब्रह्म कविता-कामिनी-कान्त और विद्यावल्लभावल्लभ है—वही "कविर्मनीषी परिभुः स्वयंभुः" भी है। उस अद्वितीय कवि की विरचित यह सालंकृत, सरस, गूढ़, गंभीर, ध्वनिमयी सुगुण रीति-रंजित-कला-कौतुक-कुतूहलमयी समस्त प्रवृति परमानन्द प्रदायिनी वैचित्र्य विनोदवरा व्यञ्जिता सुलक्षणा सुन्दर कविता है, जिसकी मनोहारिणी, सुखशान्ति कारिणी तथा सर्वज्ञान विस्तारिणी कोमल कड़ियों की लड़ियों से विशद विज्ञानागार वन्दनीय वेद अमर और पवित्रीकृत हुआ है।

वेद ही समस्त ज्ञान का शाश्वत सागर है, यह हमारे सभी महापुरुषों का एक स्वर से एक मूलोपदेश है। ऐतिहासिकों तथा पुरातत्वान्वेषकों के मत से भी संसार का सबसे प्राचीनतम ग्रंथ हमारा प्रशस्त एवम् पूज्य ऋग्वेद ही है।

वेद दिव्य दैवी ज्ञान है, इसमें सभी कुछ भरा है। ऐसे सिद्धान्त के अनुसार हम जब अलंकार शास्त्र की खोज वेद में करते हैं तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस शास्त्र का भी सूत्र वहीं है।

ऋग्वेद में अनेकों ऐसे मंत्र हैं (विशेषतः उषा सम्बन्धी मंत्र) जिनमें हमें अलंकारों का प्रत्यक्ष प्रदर्शन प्राप्त होता है, और हमें उपमा, व्यतिरेक, सार, श्लेष और अतिशयोक्त्यादि अलंकारों की आभा प्रतिभात होती है*। इससे हम कह सकते हैं कि उस समय में अलंकारों की सृष्टि अवश्य ही साहित्य में रही होगी। वेद एक प्रकार का अनुपम काव्य है, अतः उसमें काव्यालंकारों का होना कोई आश्चर्य-जनक बात नहीं।

अब यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि क्या काव्य और काव्य-शास्त्र या अलंकार-शास्त्र एक ही समय में उत्पन्न हुये ? या प्रथम काव्य का जन्म हुआ तब तदनुकूल काव्य-शास्त्र की रचना की गई। क्या हम यह मान लें कि वेद जो ईश्वरीय है दोनों को साथ ही साथ उत्पन्न करता है, अथवा उस कविर्मनीषी ने काव्य-रूपी वेद की, जिसमें काव्यगुण (अलंकारादि) शोभायमान हैं, प्रथम रचना की और काव्य-शास्त्र के उद्घाटन का (उसी वेद रूपी काव्य के आधार पर) कार्य महर्षियों एवम् विद्वानों के लिये छोड़ दिया, जिन्होंने उसकी इच्छा के अनुकूल वेद के आधार पर काव्य-शास्त्र को जन्म दिया, या उस स्वयम्भू ने वेद के उस अंश की जिसमें काव्यालंकार का चातुर्य-चमत्कार है, अलंकार शास्त्र के रूप में सोदाहरण रचना की हो और उसको विकासित, प्रकाशित तथा विवर्धित करने का कार्य अपने कृपापात्र विद्वज्जनों के लिये छोड़ दिया हो। इन प्रश्नों का सम्बन्ध दैवी लीला से है जो दुर्बोध है, अतः इस सम्बन्ध में कुछ भी निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता।

---

* या सुपर्णा सयुजा सखाया ... .इत्यादि मंत्रों में अलंकारों का दर्शन होता है।

फिर भी प्रश्न उठता है कि काव्य एवम् अलंकार-शास्त्र में से कौन प्रथम या पूर्व प्रभूत है और कौन उत्तरोद्भूत है ? अर्थात् पहिले काव्य है तब उसके आधार पर काव्य-शास्त्र बना है, अथवा प्रथम अलंकार या काव्य-शास्त्र हैं और उसके नियमों के अनुसार काव्य की रचना हुई है ?

उत्तर में कहा जा सकता है कि ऐसे ही प्रश्न प्रत्येक प्रकार के विज्ञान के सम्बन्ध में हो सकते हैं। यह निश्चित नहीं किया जा सका कि प्रथम कला है तब विज्ञान या उसका शास्त्र है, अथवा प्रथम विज्ञान या शास्त्र है तब उसके आधार पर कला की रचना हुई है। विद्वानों का मत तो यह है कि कला और शास्त्र (विज्ञान) दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है और दोनों साथ ही साथ चलने वाले समकालीन सहचर या सहकारी हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि काव्य क्या है ? वह कला है या विज्ञान ? उत्तर में कहा जा सकता है कि काव्य एक कला है और उसका रचयिता कवि एक कलाकार है। जिन सिद्धान्तों एवं नियमों के अनुसार कवि अपनी प्रतिभा को कल्पनादि साधनों के द्वारा चलाता है और काव्यरूपी कला को उत्पन्न करता है उनके सुव्यवस्थित संकलन-कोष को काव्य-शास्त्र, काव्य-कला-विज्ञान एवम् अलंकार-शास्त्र कहते हैं।

अब हम इनकी उत्पत्ति के विषय पर ऐतिहासिक एवम् पौराणिक जनश्रुतियों के आधार पर कुछ दृष्टिपात करते हैं।

हम प्रथम पौराणिक जन-श्रुतियों एवम् कथात्मक बातों को ही उठाते हैं।

राजशेखर ने अपने काव्य-मीमांसा नामी ग्रंथ में (जो लगभग ९०० ई० में प्रगट हुये थे) कवि-रहस्य का वर्णन किया है, प्रथम

अध्याय में शास्त्र-संग्रह (काव्य-वस्तु-भेद) तथा द्वितीय अध्याय में शास्त्र-निर्देश के अन्तर्गत दो प्रकार की रचनाओं को—१. शास्त्र २. काव्य—जिनमें से प्रथम (शास्त्र) द्वितीय (काव्य) का पूर्ववर्ती है, दिखाते हुये, शास्त्र-लेखन-शैली, उसका रूप, उस पर टीका-टिप्पणी के आकार-प्रकार की विवेचना देकर काव्य-पुरुषोत्पत्ति निम्न प्रकार देते हैं तथा काव्य के मुख्य-विषय और सिद्धान्त लिखते हैं।

काव्यपुरुषोत्पत्ति-कथा

वाग् देवी सरस्वती ने पुत्रेच्छा की पूर्ति के लिये कठिन तप किया, फलरूप में उनको एक पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ, जिसका शुभनाम काव्य-पुरुष पड़ा।*

इसी के पश्चात् आपने श्री महर्षि वाल्मीकि तथा निषाद की कथा का भी उल्लेख किया है और दिखाया है—जैसा जन-श्रुति एवम् दन्तकथा में भी प्रसिद्ध है—कि सबसे प्रथम श्लोक श्रीवाल्मीकि जी के ही श्रीमुख से निकले हुये उस निषाद के प्रति स्राप के रूप में प्रस्फुटित हुआ और काव्य-पुरुष की दिव्य प्रतिभा इस लोक में भी प्रगट हुई। वाल्मीकि और काव्य-पुरुष का साहचर्य काव्य का मूलकारण है। आदिकाव्य रामायण का प्रकाश इसीलिये श्रीवाल्मीकि जी से हुआ था।

यहीं पर आपने द्वैपायन महाराज को भी रक्खा है, और कहा है कि वही प्रथम महाशय हैं जिन्होंने श्लोक का मर्म समझा और काव्य-मर्म को भी जानकर उसी के आधार पर महाभारत की रचना की।

---

* काव्य-पुरुषोत्पत्ति की पूर्ण कथा राजशेखर में देखिये।

आगे आप फिर लिखते हैं कि कुछ कालोपरान्त साहित्य-विद्या इस काव्य पुरुष की वधू हो गई और काव्य एवं साहित्य का एक संयुक्त युग्म बन गया। चूँकि साहित्य-विद्या ने (वर की खोज में ?) अनेक देश-प्रदेशों में भ्रमण किया था, इसी से अनेकानेक काव्य-रीतियाँ (गौड़ी, पांचाली एवं वैदर्भी आदि) उत्पन्न हो गई हैं। इस प्रकार आपने एक कथानक बाँधा है—यह कितना मूल्य रखता है, हम नहीं कह सकते, हाँ, यह अवश्य कहेंगे कि इस वैज्ञानिक विकाश के युग में इसका कोई भी मूल्य नहीं। यह केवल कल्पित कथा ही कही जा सकती है।

इसी प्रकार आगे आपने अलंकारों के आविष्कारकों की भी एक सूची दी है और यह दिखलाया है कि अलंकारों की कल्पना दिव्यज्ञानी तथा भाषा-प्रकृति-मर्मज्ञ, तत्वज्ञ और सूक्ष्मदर्शी महर्षियों एवं देवों ने की है।*

इसकी सत्यता भी संदिग्ध ही सी है (यद्यपि इसमें निरन्तर असम्भाव्यता भी नहीं—क्योंकि देव तथा देवतुल्य ऋषियों ने

---

*अलंकारोत्पत्ति (राजशेखर से)

अलंकार				कर्ता
१—अनुप्रास	...	...	...	प्रचेतायन
२—यमक	...	...	...	चित्रांगद
३—चित्र	...	...	...	शेष
४—शब्दश्लेष	...	...	...	पुलस्त्य
५—वास्तव	...	...	...	औपकायन
६—अतिशय	...	...	...	पराशर
७—अर्थश्लेष	...	...	...	उतथ्य
८—उभयालंकार	...	...	...	कुबेर

सम्भवतः अलंकारों का आविष्कार किया होगा, और वे कर भी सकते थे) क्योंकि सिवा राजशेखर के और किसी ने भी इसका उल्लेख नहीं दिया ।

अब इन सब पौराणिक साधनों को छोड़िये, क्योंकि इनकी सभ्यता संदिग्ध ही सी है, और आइये देखें कि हमें ऐतिहासिक साधन अलंकारों की उत्पत्ति के विषय में कहाँ तक सहायता देते हैं ।

हाँ, यहाँ यह और देख लेना चाहिये कि वाल्मीकीय रामायण को आदि काव्य और श्रीवाल्मीकि जी को आदि कवि कहा गया है, किन्तु हम देख चुके हैं कि वाल्मीकि जी से पूर्व ऋग्वेद में भी अलंकार एवं काव्य-चारुता मिलती है—अतः हम कह सकते हैं कि श्रीवाल्मीकि के भी पहिले काव्य तथा काव्य-शास्त्र कदाचित् रहा होगा, क्योंकि ऋग्वेद जो सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ है विशेष विशेष छंदों में है—जैसे गायत्री, अनुष्टुपादि; हाँ यह अवश्य है कि अनुष्टुप का वह रूप जिसे श्लोक कहा जाता है अवश्य ही वेद में नहीं मिलता तथा वेद की छन्दों का प्रयोग-प्रचार साहित्य में कदापि नहीं हुआ ।

इस श्लोक छंद के प्रथम आविष्कारक वाल्मीकि जी (जो लगभग ५ या ६ शताब्दी पूर्व ईसा के हुये माने जाते हैं ?) होंगे* । हाँ उनकी रामायण में अवश्य ही शब्द तथा अर्थ दोने से सम्बन्ध रखने वाले अलंकार मिलते हैं (कुछ अलंकार या कला-चमत्कार के रूप तो उसमें ऐसे भी हैं जिनका नामकरण-संस्कार भी नहीं हुआ । (देखो हमारा "नवीन अलंकारों" पर लेख—)

---

* भट्टी काव्य में भी (जो लगभग ५०० या ६५० वर्ष पूर्व ईसा के समय में ही रची गई मानी जाती है) अलंकारों के अच्छे विकसित रूप प्राप्त होते हैं ।

इससे यह कहा जा सकता है कि कदाचित् उनके समय में अलंकार-शास्त्र रहा होगा, या उन्होंने उसके उन रूपों का आविष्कार स्वभावतः स्वयं ही किया होगा—जिनका नामकरणसंस्कार फिर हुआ होगा—किन्तु ये बातें भी सन्देह एवं विवाद से शून्य नहीं। प्रो० जैकोबी की खोज से पता चलता है कि रामायण का वह शुद्ध रूप हमें अप्राप्य है जिसे वाल्मीकि जी ने ही लिखा या रचा था। अब जो ग्रन्थ हमें मिलते हैं उनमें बहुत कुछ बातें स्फुट तथा क्षेपक के रूप में मिला दी गयी हैं जिससे उस पर विश्वास करना उचित नहीं है।

वेदों में तो केवल काव्य-कला का स्वल्प ही परिचय मिलता है—वे काव्य-शैली में नहीं हैं और न काव्य कहे ही जाते हैं। अतः उन्हें भी छोड़िये। अब आइये उपनिषदों की ओर जो वेदों के पश्चात आते हैं और उन्हीं के मर्मों का समुद्घाटन करते हैं। वेद के षडंगों में से छन्द (छन्दशास्त्र) भी एक अंग है, किन्तु ज्ञात नहीं कि इसके अन्तर्गत केवल पिंगल ही है या काव्य-शास्त्र भी ? क्योंकि दोनों में, यद्यपि दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनों काव्य के परिपोषकतत्व हैं, बहुत बड़ा अन्तर है। अस्तु—

उपनिषदों से भी यही पता चलता है कि उनके समय में काव्य-कला तथा अलंकार-शास्त्र के सभी अंश नहीं तो विशेष अंश तो अवश्य ही विद्यमान थे, अथवा वे कलात्मक उदाहरणों के रूप में ही थे, यदि वे काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के रूप में न थे।

एक बात यहाँ और विचारने की है कि वेदों तथा उपनिषदों में ऐसे अलंकार विशेष रूप से पाये जाते हैं, जो नितान्त ही स्वाभाविक

है—जैसे उपमा—वस्तु-सादृश्य सूचक, विरोध सूचकादि—परन्तु इससे यह कहना कठिन है कि ये अलंकार स्वाभाविक हैं, प्रकृतिजन्य हैं तथा इनकी सत्ता भाषा की सत्ता के साथ ही साथ है। यद्यपि इस पक्ष के समर्थन में भी बहुत कुछ कहा जा सकता है—हम जानते हैं कि वे लोग भी जो केवल बोली ही जानते हैं तथा वे बच्चे जिन्हें साहित्य, काव्य, और अलंकारादि से कुछ भी परिचय प्राप्त नहीं है, अलंकृत बोली का प्रयोग करते हैं और उपमा-रूपकादि का व्यवहार स्पष्ट रूप से करते हैं। यह भी देखा जाता है कि भाषा के परिवर्तन से अलंकारों में भी कुछ न्यूनाधिक परिवर्तन आ जाता है। इस प्रकार विचार करने से एक विशेष प्रकार की जटिल समस्या आ खड़ी होती है जिसका सुलझाना यदि असंभव नहीं तो दुस्साध्य अवश्य ही है।

विद्वानों का ऐसा मत है कि प्रथम काव्य का प्रादुर्भाव हुआ, और कवियों ने कवितायें रचीं, और उनके द्वारा सुन्दर चमत्कार के साथ अपने भावों, विचारों एवं मनोवेगों को व्यक्त किया (करने का प्रयत्न किया) और यों ही करते गये, जिस जिस प्रकार काव्य में चमत्कृत मनोरंजकता, सुन्दरता तथा समाकर्षक माधुर्यपूर्ण आनन्दप्रदता आती गई उसी उसी प्रकार काव्य-रीतियों में भी परिवर्तिन होता गया और भिन्न भिन्न शैलियाँ तथा रीतियाँ बढ़ती चढ़ती गई। इस प्रकार जब काव्य का एक सुन्दर साहित्य-कोष बन गया तब उसी के आधार पर उसी से सब नियम या सिद्धान्तादि निकाल कर काव्य या अलंकार शास्त्र के रूप में विवेचना एवं पर्यालोचना के साथ सुव्यवस्था से रख दिये गये।

साथ ही सूक्ष्मदर्शी तत्वज्ञों ने प्रकृति, मन, मस्तिष्क और मानव-प्रकृति (स्वभावादि, जिनमें भावनायें, कल्पनायें, मनो-

वृत्तियाँ तथा मनोवेगादि आ जाते हैं) आदि के नियमोप-नियमों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार विवेचन करके तथा इनके वाह्याभ्यंतरिक मर्मों का पूर्णाध्ययन कर काव्य के लिये ऐसे नियम रच दिये जो कवि तथा काव्य को अलौकिक आनन्द के (जो जीवन का मुख्य लक्ष्य है) उत्पन्न करने की क्षमता दे सकें। मानव-प्रकृति एवम् रुचि में वैचित्र्य अथवा पार्थक्य के (विभिन्नता) के होने के कारण ("भिन्नरुचिर्हिलोकः") भिन्न भिन्न प्रकार के सिद्धान्त निकल चले—किसी ने यदि रस को तो, किसी ने उक्ति-वैचित्र्य या वक्रता को, किसी ने ध्वनि एवम् व्यंग को तो, किसी ने भाषा एवम् भाव-सौंदर्य को और किसी ने संगीत-माधुर्य को, तो किसी ने कला-कौतुक के कुतूहल को प्रधानता दी। इस प्रकार काव्य कला से सुव्यवस्थित काव्य-शास्त्र की सृष्टि उत्पन्न हो गई, और इस काव्य या अलंकार-शास्त्र की सत्ता-महत्ता अलग ही स्थापित हो गई। यह सब तो है, परन्तु इसके यथाक्रम ऐतिहासिक उत्पत्ति-विकास के समय का निरूपण करना अवश्यमेव अत्यन्त कठिन कार्य है, कह सकते हैं कि यह क़रीब क़रीब असंभव ही सा है, क्योंकि हमारे पास उपयुक्त एवम् समीचीन ऐतिहासिक साधन नहीं हैं। भूतकाल के गर्भ में बहुत से ग्रंथ गुप्त-लुप्त हो चुके हैं। यद्यपि अब कुछ अध्यवसाय एवम् खोज से कुछ अंश में अनेक काल-कवलित रहस्यों का पुनरुद्घाटन एवं पुनरुद्धार हो चला है तो भी अभी ऐसी पर्याप्त सामग्री प्राप्त नहीं हुई कि जिसके आधार पर दृढ़ता के साथ इस शास्त्र का पूर्णपुष्ट इतिहास लिखा जा सके।

अब हम प्रथम यह देखकर कि कहाँ कहाँ या किन किन प्राचीन ग्रन्थों में हमें इस विषय में कुछ संकेत एवम् सूचना मिलती है, अलंकार शास्त्र की खोज करेंगे।

यह ऊपर कहा ही गया है कि रामायण में काव्य, काव्य-शैली तदङ्ग जैसे अलंकारादि (शब्द एवम् अर्थ सम्बन्धी) पर्याप्त रूप से प्राप्त होते हैं—यहां उनका उदाहरण देना समुचित इसलिये नहीं प्रतीत होता क्योंकि स्थान की लघुता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय अन्य काव्य-ग्रन्थ तथा काव्य-शास्त्र का प्रचार किसी न किसी रूप में अवश्य था। हाँ, वह शैशवावस्था में रहा हो, यह माना जा सकता है।

अब उसके पश्चात् हमें महाभारत, जिसे विशेषतया एक इतिहास-ग्रन्थ माना जाता है—इस बात की सूचना देता है कि उसके समय में भी अलंकार-शास्त्र अपने कुछ विकसित रूप में विद्यमान था। प्रोफे० जेकोबी के मतानुसार यह रामायण के पश्चात् लिखा गया था। यह अवश्य है कि इसमें रामायण की अपेक्षा काव्य-गरिमा एवम् उसका प्रधानत्व कम है, अतः रामायण ही को काव्य एवम् अलंकार-शास्त्र का प्रधानोद्गम मान कर आगे चलना उपयुक्त है।

रामायण के उपरान्त काव्य-कला अश्वघोष, भास, कालिदास, भारवी, बाण, माघ तथा हर्ष के हाथों से तिग्मगति तथा पुष्कल विकास के साथ अग्रसर होती है और उसी प्रकार काव्य-शास्त्र भी बढ़ता गया है।

इस सबको देख कर यह कहा जा सकता है कि ५०० वर्ष से १०० वर्ष ईसा के पूर्वतक काव्य-साहित्य की पर्याप्त सामग्री एकत्रित हो गई थी और संस्कृत भाषा का भंडार सालंकृत तथा सरस काव्य से भरा पूरा हो चला था, इसी के कारण तथा इसी के आधार पर काव्य-शास्त्र का विकास हुआ होगा और सिद्धान्त-सृष्टि के विश्वकर्मा विद्वान महानुभावों ने विवेचना, गवेषणा

तथा विचार करके काव्य के लक्ष्य, लक्षण, गुण, कर्म, स्वभाव, तद्भेद, तत्सिद्धान्तों, एवम् नियमोपनियमों की रचना की होगी, साथ ही सत्काव्य एवम् असत् काव्य की आलोचनात्मक व्याख्या तथा उनके सुन्दर आकार-प्रकार निर्धारित किये होंगे। इसी समय से दो पथ इस क्षेत्र में हो गये होंगे। (१) काव्य-रचना, कवियों के द्वारा; (२) काव्य-शास्त्र की सविकास रचना (जिसमें काव्य को देख कर नियम निकाले गये होंगे और दूसरी बातों पर जैसे भाषा, मनोवृत्तियाँ, व रसादि पर विचार करके कुछ नवीन रीतियाँ, शैलियाँ तथा नियमावली रची गई होगी और उसके उदाहरणों के रूप में कवियों ने कविताओं का रचना प्रारम्भ किया होगा—यह परिपाटी तब से लगातार चली आई तथा अब तक चली जा रही है)।

पुरातत्व-खोज की रिपोर्टों से यह पता चलता है कि ईसा की कई शताब्दी पूर्व से काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का विकास हो चला था। इस समय के शिलालेख जो गद्य में हैं यह प्रकट करते हैं कि उस समय अनुप्रास, यमक तथा शब्द-कौतुक के चमत्कारों का विशेष प्राधान्य था और काव्य दो प्रकार का (गद्य एवम् पद्यकाव्य) माना जाता था और स्फुट, मधु, कान्तोदारादि गुण भी (जो पश्चात् को प्रसाद, माधुर्यादि के नामों से अवबोधित किये गये हैं) लोगों को ज्ञात हो चुके थे। सामासिक तथा अलंकृत भाषा एवम् शैली का मान्य था। यही बात ४ शताब्दी पूर्व ई० के भी शिलालेखों से ज्ञात होती है*। अस्तु—

---

* रुद्रदमन, (१५० पूर्व ईसा) के शिलालेख, ४०० पूर्व ईसा के शिलालेख, नासिक के शिलालेख देखिये।

प्राचीन ग्रन्थों से भी हमें इसी प्रकार का पता मिलता है। लीजिये—(१) निघंटु को—इसमें वेद के उपमादि सूचक मंत्रों का संग्रह है, जिससे, जैसा हम वेदों के विषय में लिख चुके हैं, ज्ञात होता है कि वेदों में अलंकार पाये जाते हैं।

(२) निरुक्त—यास्क जी इसमें निघंटु के काव्य-भाग की व्याख्या करते हुये उपमा की समीचीन परिभाषा का गार्ग्याचार्य से उल्लेख देते हैं और दिखलाते हैं कि वैदिक उपमा में उपमान उपमेय से बढ़कर ही नहीं होता वरन् घट कर भी माना जाता है और उपमेय की तुलना एक छोटे उपमान से भी की जाती है, यद्यपि साधारण तथा व्यापक नियम यही है कि उपमान उपमेय की अपेक्षा अधिक उच्चकोटि का तथा प्रसिद्ध होता या माना जाता है। *

उपमा के चारों अंग पाणिनि के बहुत प्रथम ही निश्चित हो चुके थे—यह पाणिनि के सूत्रों से स्पष्ट है। †

पाणिनि ने नटसूत्र का, जो शिलालिन् तथा कृशास्व का रचा हुआ था, उल्लेख किया है, किन्तु दुःख यह है कि ये ग्रंथ अब अप्राप्य हैं।

वेदान्तसूत्र से भी दो अलंकारों—(१) उपमा और (२) रूपक का पता चलता है, दोनों अलंकारों का उसमें उल्लेख हैं। ‡

---

* उपमानानि सामान्यवचनैः।

† तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्। आदि

‡ " अतएवचोपमा सूर्यकादिवत्—३ अ० २ पा० १८ सू०
आनुमानिकमप्येकेषां शरीररूपक विन्यस्त गृहीतेर्दर्शयितश्च।

(३) बुद्धचरित (अश्वघोष कृत—३ शताब्दी पूर्व ई०) प्रगट करता है कि उसके समय में अनुप्रास, यथा-संख्य, शृंखलादि का विशेष प्राधान्य था क्योंकि ये अलंकार उसमें विशेष रूप से मिलते हैं। इसी प्रकार आगे चलकर हमें सुबन्धु-रचित वासवदत्ता में श्लिष्ट पदावली का सुन्दर चमत्कार यह स्पष्ट करता है कि उस समय शब्दालंकारों में श्लेष की बड़ी महत्ता थी। इससे इसका भी पता चलता है कि वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा मानी जाती थी। वह शृंखलाबंध, उत्प्रेक्षा और आक्षेप का भी परिचय देता है।

प्रसिद्ध कवि तथा गद्यकाव्यकार जी बाण भी कई प्रकार के चित्रकाव्य-चमत्कारों का उल्लेख अपनी कादम्बरी में देते हैं, जैसे, अक्षरच्युतक, मात्राच्युतक, प्रहेलिका। इससे स्पष्ट है कि उनके समय में चित्रकाव्य का भी विकास हो चुका तथा हो रहा था। अलंकारों में से वे श्लेष, (जिसकी प्रधानता विशेष है) उत्प्रेक्षा, उपमा, दीपक जाति और परिसंख्यादि का सुन्दर समीचीन प्रयोग तथा उल्लेख करते हैं। काव्य में रस की भी सूचना आप देते हैं। इससे स्पष्ट है कि आप के समय में अलंकार-शास्त्र का वैज्ञानिक रीति (Scientific Style) से बहुत कुछ विकास हो चुका था।

अब उसमें अलंकार-सिद्धान्त की प्रधानता के साथ ही साथ रस-सिद्धान्त की भी सत्ता-महत्ता आ चली थी। चित्रकाव्य तथा शब्दालंकारों का आतंक अभी तक जमा था, हाँ उसके साथ ही अन्य सिद्धान्तों एवम् अर्थालंकारों का भी ज़ोर हो चला था।

इन सबके पश्चात् हम उस युग एवम् उन साहित्य-मर्मज्ञ कला-कुशल, विद्वान तथा प्रकृति-पर्यवेक्षक कवियों की ओर आते

हैं जिन्होंने अलंकार-शास्त्र का, जो उनके समय तक पर्याप्त-रूप से विकसित हो चुका था, अध्ययन करके अपनी स्वाभाविकी प्रतिभा के साथ विविध नियमोपनियमों को पालते हुये प्रौढ़ तथा उच्च-कोटि के काव्य-साहित्य का निर्माण किया है। देखिये—कवि-कुल कलाधर कालिदास, भारती-भूषण भारवि, काव्य-कानन-केशरी किरातकार, मधुर-मंजुल मनोरम भावकार माघ तथा अन्य काव्य-कलाकुशल कविवरों के काव्यों को। हाँ, यह अवश्य है कि ये सब अपनी स्वाभाविकी काव्य-प्रतिभा की मौलिकता तथा कल्पना की स्वतंत्रगति को नियमों के परिपालनार्थ किसी प्रकार विनष्ट नहीं होने देते। तथा काव्य-निर्माण वे काव्य-शास्त्र के नियमों को समझाने के लिये उदाहरणों के रूप में नहीं करते (जैसा दूसरे कवियों ने किया है) हाँ इनके काव्यों में से दूसरों ने भले ही उद्धृत किया है। हाँ, ये लोग काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों तथा नियमों के अनुसार (जैसे वे इनके समय तक निश्चित रूप से विकसित हो बन चुके थे) अवश्य ही चलते हैं। एक वर्ग ऐसे कवियों का भी मिलता है जिन्होंने काव्य-शास्त्र के लिये ही अपनी कवित्वशक्ति का उपयोग किया है। इससे यह स्पष्ट है कि साहित्य के क्षेत्र में कवियों के लिये दो मुख्य मार्ग हो गये थे :—(१) स्वतंत्ररूप से काव्य का निर्माण करना (अपनी नैसर्गिकी प्रतिभा एवं कला-कल्पना की स्वतंत्र गति के ही अनुसार, किन्तु काव्य सौंदर्य, माधुर्य तथा चमत्कार का ध्यान रखते हुये तथा एतदर्थ उपयुक्तनियमों को ध्यान में रखते हुये)। (२) केवल काव्य-कला तथा अलंकार शास्त्र के नियमों एवं सिद्धान्तों को स्पष्ट रूप से समभिव्यक्त करने के लिये काव्योदाहरणों की रचना करना।*

---

* साथ ही ऐसे कवि भी थे जो केवल छन्द-बद्धता या केवल छन्द या पद्य रचना ही करते थे। वे किसी भी विषय को लेकर उसे पद्य में लिख

इसके साथ ही साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि इस प्रकार काव्य एवम् काव्यालंकार शास्त्र में विकास-वृद्धि हो जाने पर एक और नई बात पैदा हो गई। प्रथम-काव्य बहुत स्वाभाविक रूप में था (देखिये वाल्मीकीय रामायण एवम् अन्य ऋषि-प्रणीत ग्रन्थ) उसमें कृत्तिमत्ता एवम् वाह्याडम्बर न था, किन्तु अब वह कला-पूर्ण, कृत्तिम तथा आडम्बरपूर्ण हो गया। साथ ही जैसे प्रथम वह सर्व-साधारण के लिये होता था वैसे ही अब वह उनके लिये न रह कर केवल शिष्ट विद्वन्मण्डली ही को संकीर्ण सीमा के अन्दर विचरने वाला हो गया। अब उसमें वैसी नैसर्गिकता, वास्तविकता, सरलता, सुबोधिता एवम् सुन्दरता जैसी प्रथम थी, न रह गई, वरन् उसमें अब कला-कौशल की कुतूहलकरी क्लिष्टता एवम् कृत्तिमत्ता विशेषरूप से आ गई।

डालते थे। उनकी इस पद्य-रचना में (इसे काव्य या कविता की रचना नहीं कहते—क्योंकि इसमें काव्य के सिवा एक अङ्ग के अर्थात् छंद या वृत्ति या पद्यवत्ता के—और शेष सारे अङ्ग प्रायः नहीं पाये जाते) कवित्व गुण एवं काव्यानन्द नहीं होता। यह छुन्दवद्ध रचना उस विषय को सरलता के साथ याद करने, यथा उसे सुदीर्घ समय तक मन-मस्तिष्क में अङ्कित रखने के ही लिये की जाती थी, या की जा रही है। ध्यान देने की बात है यह प्रणाली उस समय की है जब साहित्य विस्तृत एवं प्रवर्धित रूप में हो चला था, और साहित्य के इतिहास का यह मध्यकाल था।

यह भी स्मरण रखना चाहिये कि प्रथम सूत्र-रचना-शैली ही का प्राधान्य एवं प्रचार-प्रसार था—दर्शन-शास्त्र व्याकरणादि (काम सूत्र,गृह सूत्रादि) इसी शैली में लिखे गये हैं, तथा साहित्य एवं काव्यालंकार शास्त्र में भी इसी का व्यवहार किया गया था (देखिये नाट्य-शास्त्र, काव्यालंकार सूत्रादि ग्रंथ—) यह कदाचित् इसीलिये किया गया होगा चूंकि शास्त्रों में (दर्शन

काव्यकला एवम् काव्यालंकार शास्त्र पृथक पृथक हो साहित्य के दो (काव्य-साहित्य के) भाग हो गये, दोनों की स्वतंत्र सत्ता एवं महत्ता सदा के लिये स्थापित होगई ।

शास्त्रों में) सूत्र-शैली ही का प्रयोग हुआ था । साथ ही यह भी कारण है कि संस्कृत भाषा की विचित्र संकुचन-शक्ति के प्रभाव से लाभ प्राप्त कर तनिक स्थान, समय एवं प्रयास से एक बड़ी बात भी सूत्र-रूप में रखी जा सकती है, और उससे पाठ करने में सरलता, (समय तथा मस्तिष्क में स्थान की बचत) शीघ्रता एवं कम मेहनत पड़ती है और सारा विषय कंठस्थ रक्खा जा सकता है तथा वह सुदीर्घ समय तक स्मृति में बिना पुस्तक के भी जागृत रखा जा सकता तथा (मुद्रण यन्त्र की अविद्यमानता से ग्रंथों की कदाचित बड़ी न्यूनता थी—सारी किताबें हाथ से ही बहुत समय एवं प्रयास के बाद लिखी जा सकती एवं जाती थीं और किसी प्रकार लुप्त-गुप्त होने पर सरलता के साथ प्राप्य नहीं होती या हो सकती थीं और साधारणतः आसानी से लिखी या लिखाई भी नहीं जा सकती थीं क्योंकि एतदर्थ उपयुक्त साधन—जैसे काग़ज ; स्याही, आदि दुर्लभ और दुष्प्राप्य थे) । इससे यह लाभ अवश्य था कि सारा विद्या-भंडार पुस्तकों पर आधारित न होकर, जैसा होने पर उसका विनाश, किताबों के विनाश पर सर्वथा निर्भर रहता है—मस्तिष्क तथा रसना पर समाधारित रहता था और सिवा मृत्यु के कभी नष्ट नहीं किया जा सकता था तथा पुस्तकों के नाश होने पर भी स्मरण-शक्ति के कोष से निकाला जाकर पुनरेव पुस्तकों के रूप में रूपान्तरित किया जा सकता था) उसको बहुत दिनों तक स्थायी रख सकते हैं और पुस्तकों के बिना भी पुनरुक्ति (Revision) कर तथा आवश्यकता पड़ने पर अपना काम चला सकते हैं । सूत्रशैली सिवा संस्कृत भाषा के और किसी भी भाषा में नहीं है और न हो ही सकती है, (हिन्दी में भी यही बात है ।)

काव्यालंकार शास्त्र के द्वारा गौण रूप से समालोचना, (काव्य-गुण दोषों की विवेचना एवम् परीक्षा) का भी मार्ग चल पड़ा। इसके कारण काव्य-कला एवम् काव्यालंकार शास्त्र दोनों में विशद् विकास हो चला और वह उच्चकोटिता की ओर प्रतिदिन अग्रसर होता गया।

चूंकि काव्य-समालोचक सहृदय एवम् विद्वान लोग ही विशेष रूप से होते थे, इसी कारण काव्य-कला में विद्वता के प्रकाशित करने का प्रयत्न सभी कवि लोग कर चले, इससे काव्य उच्च तो होगया; किन्तु उच्च कोटि के साहित्य के रूप में होकर वह सर्व साधारण के योग्य न रह गया, वरन् क्लिष्ट होकर विद्वानों के ही लिये रह गया। यही कारण है कि सर्व साधरण लोगों में से कवि-प्रतिभावाले कुछ लोग संस्कृत भाषा तथा उसके उच्च-कोटि की काव्य-कला के साहित्य का निर्माण करना छोड़ साधारण बोली में (जिससे प्रकृति एवम् अपभ्रंश भाषायें विकसित होकर निकल पड़ीं) सर्व साधारण के लिये कविता कर चले, किन्तु आगे चलकर विद्वानों के हाथ में पड़ कर यह बोलियाँ—प्रकृति एवं अपभ्रंश के अविकसित एवम् असाहित्यिक रूप—फिर साहित्यिक भाषाओं के रूप में हो गईं। प्रथम प्राकृत एवम् अपभ्रंश असभ्य एवम् अशिष्ट लोगों की भाषायें कही जाती थीं। इसके लिये नाट्यशास्त्र (दशरूपकादि) के ग्रन्थ प्रमाण हैं तथा नाटकों से भी यही बात सूचित होती है, क्योंकि उनमें अशिष्ट लोग ही जैसे नौकर-चाकर, स्त्रियाँ आदि, इनका प्रयोग करते हैं। काव्य में इनके प्राथमिक या मूल रूपों का, जिनके विकसित रूपों से इनके साहित्यिक रूप बने हैं—प्रयोग ग्राम्यदोष माना गया है।

राजशेखर कृत काव्य-मीमांसा के १०वें अध्याय से प्रकट होता है (जिसमें उसने कविचर्या और राजचर्या का विवरण दिया है)

कि कवि को व्याकरण, छंद, कोष, उपवेद, श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, अन्य सहकारिणी कलाओं तथा आवश्यक ज्ञान-विज्ञान से परिचित होना चाहिये, क्योंकि इन सब का प्रयोग या उपयोग उसे स्वकाव्य में करना पड़ेगा। इसके साथ उसने कवि के उस कल्पना-रचित गृह का सविस्तार वर्णन किया है जिसमें कवि रहता है तथा उसे रहना चाहिये। यहीं पर हमें कवि-परीक्षा के विषय में बहुत कुछ पता चलता है। यह परीक्षा एक नियुक्त की गई विद्वत्स-मिति के द्वारा ली जाती थी, और विद्वानों की सभा ही समुचित समालोचना के उपरान्त कवि तथा उसकी कविता का मूल्य या योग्यतादि का निर्णय करती थी। इससे यह स्पष्ट है कि कवि-कार्य उस समय बहुत कठिन एवम् विद्वता-पूर्ण हो गया था, इसीसे काव्य-साहित्य भी कला-कौशल की पराकाष्ठा की ओर द्रुतगति से बढ़ता हुआ कठिन और जटिल हो गया था।

ये सब बातें तथा काव्य के बृहत्कोष का यह सूक्ष्म प्रदर्शन स्पष्टतया बतलाता है कि काव्यालंकार शास्त्र एक ही सुव्यवस्थित तथा साम्यभाव (एकरूपता) से चलने वाला सिद्धान्तादर्श नहीं है, क्योंकि इसमें हमें इसके प्रारम्भकाल से लेकर आज तक क्रमपूर्वक एक निरन्तर परिवर्तित होने वाला सजीव विकास दृग्गोचर होता है तथा इसकी उन्नति और उत्तरोत्तर वृद्धि की सुन्दर शृंखला दिखाई देती है।

प्रचीन आचार्यों के मतों में खण्डन-मण्डन, सामयिक तथा आवश्यकोचित परिवर्तन, परिमार्जन एवम् रूपान्तर होते गये। काव्यात्मा का निरूपण विविध सिद्धान्तों एवम् विचारों से हुआ, जिससे उसके शरीर एवम् अंगों के सम्बन्ध में भी अनेक विचारों एवम् मतों की सृष्टि हो गई, प्रत्येक समय प्रत्येक नया सिद्धान्त काव्य के ऐतिहासिक विकास को नया रूप देता गया। यह उन्नति

या यह प्रवर्धित विकास, मनुष्य के खोजे हुये अन्य विज्ञानों के विकास के समान, निरन्तर ही नैसर्गिक, स्पष्ट तथा वैज्ञानिक विकास के सिद्धान्त की नीति-रीति के सर्वथा अनुकूल ही रहा।

रुचिर रोचकता तथा रुचि-सौष्ठव के परिमार्जन के लालसोत्साह ने भी काव्यालंकार शास्त्र के इस विकास में बड़ी सहायता दी है। काव्य-सिन्धु की गहराई में प्रविष्ट हो कर कला-कौशल एवम् कल्पना के द्वारा कवियों ने अपूर्व एवम् विचित्र विनोदप्रद सुन्दर रत्नों का अन्वेषण किया है। साहित्य में इससे तथा रुचि-वैचित्र्य से सिद्धान्त-विभिन्नता तथा परिवर्तन-पार्थक्य का गहरा प्राधान्य व प्रचार हो गया। यह और भी स्पष्ट हो जाता है, जब हम दो ऐसे कवियों एवम् आचार्यों की तुलनात्मक आलोचना करते हैं जो भिन्न भिन्न समयों में हुये थे या हैं।*

---

*उदाहरणार्थ लीजिये वाल्मीकि तथा माघ को। रामायण में कथानक घटनायें, कार्य, सच्चरित्रता और जीवन-रहस्य का स्वाभाविकता, स्पष्टता एवम् सुन्दरता के साथ सच्चा प्रदर्शन मिलता है, इसमें अपना एक स्वतन्त्र सौंदर्य एवम् मनोरञ्जन है, उसमें कवि-काव्य-कला का कौशल, स्वाभाविक सौंदर्य का परिपोषक होकर, वाह्यालंकार के रूप में मिलता है, जैसा भामा का मत है, किन्तु माघ में काव्य अपने ही लिये अभीष्ट होता है, उसमें कला का सौंदर्य प्रधान है, घटनायें, कार्य एवम् चरित्र-चित्रण की अन्य प्रमुख बातें गौण रूप में हैं। कथानक का प्रगटीकरण केवल थोड़ी ही पंक्तियों में हुआ है, और केवल उक्ति-चमत्कार, शैली या रीति-शालिमा, वर्ण-गणना की शुद्धता, व्याकरण-विद्वत्ता तथा नियमों की चरितार्थता का ही प्राधान्य काव्य और कवि के लक्ष्य के रूप में प्रगट होता है। प्रत्येक छंद, पद तथा भाव, विद्वान एवम् कला-कुशल कवि की विदग्धता, विद्या-विशदता तथा कल्पना-कुतूहल की प्रगाढ़ पटुता का ही परिचय देता है। समस्त-काव्य से कवि की

इस उपर्युक्त स्वल्प विवेचना से यह स्पष्ट हो गया होगा कि किस प्रकार काव्य-शास्त्र का प्रारम्भ हुआ है तथा कैसे और किन किन प्रधान कारणों से उसमें परिवर्तन, परिवर्धन एवं परिमार्जन-से विकास हुआ है। किस किस तथा किन किन कारणों से काव्य एवं काव्यालंकार शास्त्र की प्रगति भिन्न भिन्न सिद्धान्तों एवं मतों के आधार पर आगे बढ़ती हुई भिन्न भिन्न पथों पर हुई है।

काव्य एवं काव्यालंकार शास्त्र में क्या सम्बन्ध है तथा उनके रूप-रूपान्तर कैसे निश्चित होते आये हैं और फिर कैसे हो गये हैं। किस प्रकार तथा क्यों कला एवं शास्त्र के ऐसे रूप हो गये हैं। इन बातों का कुछ ज्ञान उक्त-लेख से हो गया होगा।

अब हम काव्यालंकार शास्त्र का ऐतिहासिक वर्णन सूक्ष्म रूप से नीचे करते हैं। यह समुचित नहीं प्रतीत होता कि यहाँ पर हम संस्कृत के उन सभी ग्रन्थों का सूक्ष्म परिचय भी दें जो काव्यालंकार शास्त्र से सम्बन्ध रखने तथा उस पर प्रकाश डालने वाले हैं, क्योंकि उनकी संख्या बहुत बड़ी है और हमारे पास उतना स्थान एवं समय नहीं है।

यह अवश्य ही समीचीन तथा उपयुक्तोपादेय प्रतीत होता है कि हम उनमें से प्रधान आचार्यों के प्रधान प्रधान ग्रन्थों का कुछ आवश्यकोचित हाल दे दें। यही बात हम, इसके अनन्तर हिन्दी-काव्यालंकार के ग्रन्थों के साथ करेंगे, नहीं तो ग्रन्थ बहुत बढ़ जावेगा।

प्रतिभा, उसकी अनुभव-ज्ञान-शक्ति तथा उसके पांडित्य की प्रौढ़ता ही स्पष्ट रूप से झलकती है। इसीलिये कवि तथा उसके काव्य को समझने, उसकी विचित्र रोचकता का अनुभव करने एवं उससे आनन्द प्राप्त करने के लिये हमें काव्यालंकार शास्त्र के सिवा और कलाओं एवम् विद्याओं से पर्याप्त परिचय प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ती है तथा ऐसा करना हमारे लिये अनिवार्य ही ठहरता है।

यह हम कह ही चुके हैं कि इस शास्त्र का सबसे प्राचीन प्राप्त ग्रन्थ श्री भरत मुनि कृत नाट्यशास्त्र है। यह विशेषतया, जैसा नाम ही से स्पष्ट है, नाट्य या नाटक सम्बन्धी बातों की विवेचना करता है। काव्यालंकार को गौण रूप में तथा जहाँ तक उसका सम्बन्ध नाटक से है वहीं तक लेता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि भरत के समय तथा उसके पूर्व एवं कुछ समय पश्चात् तक काव्यालंकार शास्त्र तथा नाट्यशास्त्र दो भिन्न भिन्न शास्त्र थे, काव्य और नाटक भी पृथक् ही पृथक् थे। (बहुत समय के बाद यह हुआ है कि काव्य को व्यापक अर्थ देकर उसके अन्तर्गत नाटक को भी ले लिया गया और उसे बहुत समय पश्चात् ही, जब काव्य में अलंकारों के (उनका संकीर्ण अर्थ मान कर) स्थान पर रसों को प्रधानता दी गई, उच्चासन दिया गया और यह कहा गया कि "काव्येषु नाटकं रम्यं" तथा रसात्मकं वाक्यं काव्यम्"—)

इस ग्रन्थ में मुनि महाराज ने रस-सिद्धान्त को उठा कर वैज्ञानिक ढंग से उसका अच्छा विवेचन किया है—अपने सिद्धान्त को विद्वत्ता एवं प्रौढ़ता के साथ प्रतिपादित कर उसकी ऐसी मार्मिक तथा सर्वांगपूर्ण व्याख्या दी है कि फिर उसमें कुछ और वृद्धि, तथा परिमार्जन या परिवर्तन करने की आवश्यकता ही नहीं रही। इसी से यह ग्रन्थ रस-सिद्धान्त का अप्रतिम, या अद्वितीय आधार हो गया, इसी पर पश्चात् के सभी ग्रन्थ, जैसे—दशरूपक, साहित्यदर्पणादि समाधारित हुये। इस प्रशस्त ग्रन्थ की हमारे लिये यही महत्ता है कि इसीमें सबसे प्रथम काव्यालंकार शास्त्र का, जो हमारा विषय है, सबसे प्राचीन रूप मिलता है। काव्यशास्त्र के ऐतिहासिक अध्ययन के लिये यह ग्रन्थ प्रस्थान-स्थान है। इसमें काव्यशास्त्र के विषय में बहुत सूक्ष्म प्रकाश डाला

गया है। चूंकि वह वैज्ञानिक तथा यथार्थ रूप से सर्वांग पूर्ण नहीं, इसीलिये हम इसे योंही ऐतिहासिक दृष्टि से देखकर आगे चलते हैं।

नाट्यशास्त्र के बाद हमें भामा का काव्यालंकार नामी ग्रंथ मिलता है। इसी ग्रन्थ को काव्यालंकार शास्त्र का सबसे प्राचीन-सुव्यवस्थित तथा प्रथम प्राप्य ग्रन्थ माना गया है।

यद्यपि भामा के पूर्व भी इस शास्त्र पर कुछ आचार्यों ने कार्य किया है (जैसा हमें भामा स्वयमेव सूचित करते हैं), किन्तु उनके ग्रन्थ हमें अब प्राप्त नहीं। ऐसी दशा में हम इसी को सबसे प्राचीन मानते हैं। साथ ही इसमें हमें काव्यालंकार शास्त्र पूर्ण वैज्ञानिक रीति-नीति के साथ लिखा हुआ मिलता है। अतः कह सकते हैं और जैसा विद्वानों के द्वारा कहा भी गया है, कि भामा ही काव्यालंकार शास्त्र को वैज्ञानिक शैली से लिखने वाले सबसे प्रथम आचार्य हैं।

इस ग्रन्थ से यह भी स्पष्ट है कि उस समय में अलंकारों का स्थान काव्य में बहुत उच्च तथा प्रधान था, यद्यपि रस-सिद्धान्त (भरत मुनि का) इससे कदाचित् प्राचीन है तथापि उसकी काव्य में प्रधानता न होकर, नाटक या नाट्यशास्त्र में ही थी, यह भरत मुनि के ग्रन्थ से स्पष्ट है। काव्य-क्षेत्र में रस गौण ही था, ऐसा अन्य लब्ध ऐतिहासिक साधनों (शिलालेखों एवं काव्यग्रन्थों) से भी ज्ञात होता है और इसे हम पहिले दिखा भी चुके हैं।

दंडी जी काव्य के दूसरे प्रधान आचार्य हैं, आपने ३ खंडों में काव्यादर्श नामी ग्रन्थ लिखा है। भामा का प्रायः विरोध करते हुये भी आप उन्हीं के आधार पर चलते हैं।

आप रीति एवं गुण सिद्धान्तों पर विशेष बल देते तथा प्रहेलिका (शब्दालंकार) से विशेष अनुराग प्रगट करते हैं।

इससे सिद्ध है कि सब कुछ होते हुये भी आपको अलंकारों का आदर करना ही पड़ा है।

आपके ग्रन्थ में शब्दालंकारों को ही विशेषता दी गई है और अर्थालंकारों पर विशेष बल नहीं दिया गया।

१—भामा का काव्यालंकार

इसमें ६ अध्याय हैं—उनमें निम्न विषय वर्णित हैं—

प्रथम अ०—१—मंगलाचरण-भूमिका

२—सत्काव्य के कारण और फल

३ - काव्य-परिभाषा और भेद

४—रीति या शैली (भिन्न २ रीतियों का विरोध)

५—सत्कवि द्वारा त्याज्य काव्य-दोष, स्थान विशेष में उन में गुणत्व का आ जाना।

द्वितीय अ०—१—गुण-सिद्धान्त का विरोध या खंडन, प्रसाद, माधुर्य और ओज गुणों की सूचना

तृतीय अ० तक—२—काव्य के मूलतत्व, अलंकारों की परिभाषा, विवेचना, एवं उनके उदाहरण

चतुर्थ अ०—१—दोषों की विस्तृत व्याख्या तथा उनमें समय एवं स्थान विशेष में गुणत्व आना।

पंचमाध्याय—१—काव्य-न्याय-निर्णय

षष्ठ अध्याय—१—व्याकरणानुसार, शब्द, पद, और वाक्यों की शुद्धता का वर्णन

२–दंडी का काव्यादर्श

१ ला. खंड—१—भूमिका, पूर्वाचार्यों एवं ग्रन्थों का स्वल्प परिचय

२—सत्काव्य से लाभ

(काव्य-परिभाषा तथा भेद) (व्यापक अर्थ में)
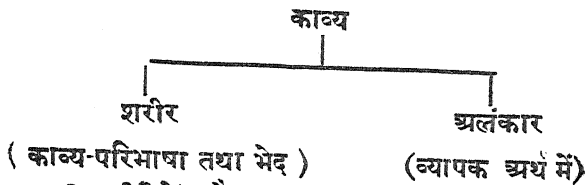
३—रीतियें और गुणों का विस्तृत वर्णन

४ – कवि की आवश्यकतायें

५—शब्दालंकार के भेद—९६ छंदों में

२ रा. खंड—१—अर्थालंकार—परिभाषायें, और उदाहरण

३ रा. खंड—दोषों की विवेचना (५१ छंदों में)

*इनके अनन्तर वामन और उद्भट प्रधानाचार्य होकर आते हैं। दोनों समकालीन ही प्रतीत होते हैं, किन्तु दोनों के मतों एवम् ग्रन्थों में कुछ विशेष साम्य नहीं। दोनों ही भामा से परिचित हैं।

वामन ने ही सब से प्रथम काव्यालंकार शास्त्र को सूत्रशैली में लिखा है, इससे विषय कुछ क्लिष्ट एवम् दुर्बोध सा हो गया है, उन्होंने स्वयमेव उन सूत्रों की वृत्ति-रूप में व्याख्या भी दी है और ग्रन्थ का नाम "काव्यालंकारसूत्रवृत्ति" रक्खा है।

काव्य में आप अलंकारों का (व्यापक अर्थ में) ही प्राधान्य मानते हैं। साथ ही रीति को काव्यात्मा कहते हैं। गुणों को काव्य के शोभाकारी बताते हैं।

---

*"काव्यशोभायाः कर्तारो गुणाः तदतिशय हेतवस्तु अलंकारः।" वामन

उद्भट—आप भामा के ग्रन्थ पर टीका लिखते हैं तथा काव्यालंकार-सार-संग्रह नामी काव्यालंकार पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी रचते हैं। आपने भामा का ही अनुसरण किया है।

हम यहाँ पर स्पष्ट रूप से देखते हैं कि काव्य में अलंकारों का प्राधान्य कुछ शिथिल हो चला—इन्हें केवल काव्य के शरीर में सौंदर्य बढ़ाने तथा वहिरङ्ग सजावट करने ही को रक्खा गया, उसकी आत्मा रीति के रूप में मानी जाने लगी। यों वाह्य शरीर से लोग भीतर को प्रविष्ट हो चले, गहराई में पहुँचने लगे, और वाह्याभ्यंतर-सम्बन्ध भी निर्धारित करने लगे। बस, इस प्रकार शास्त्र में विकास एवम् वृद्धि हो चली। रुचि-वैचित्र्य से सिद्धान्त-पार्थक्य एवम् सूक्ष्मान्वेषण से नवनियमाविष्कार भी हो चले।

उद्भट के बाद रुद्रट जी अपना "काव्यालंकार" ग्रन्थ (भामा के ग्रन्थ के अनुकरण रूप में) रचते हैं। यह ग्रन्थ बहुत क्लिष्ट है। आपने अनेक नवीन सिद्धान्तों एवम् नियमों की कल्पना की है, जैसे—अलंकारतत्व, (१—वास्तव २—औपम्य ३—अतिशय ४—श्लेष)

आपने काव्यालंकार शास्त्र में रस-सिद्धान्त की भी (जिसे केवल नाटक में ही अब तक स्थान प्राप्त था, काव्यालंकार शास्त्र में नहीं) विस्तृत व्याख्या, विवेचना के साथ उठाई है—ऐसा इनके पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने नहीं किया था। आपने नायक-नायिका-भेद भी इसके साथ दिया है।

आपने इस प्रकार रस से काव्य का सम्बन्ध तथा काव्यालंकार शास्त्र से इसका सम्पर्क जोड़ दिया, तथा इन्हें सम्मिलित कर आगे आने वाले रस-सिद्धान्त को प्रधानता देने वाले आचार्यों के लिये नया मार्ग—काव्य एवम् काव्य-शास्त्र में रसादि का समावेश

करना, चला दिया। ऐसा करते हुये भी आपने अलंकारों का महत्व बना ही रक्खा है। वास्तव में आप का स्थान काव्यालंकार शास्त्र के लेखकों में बहुत ऊँचा है, यद्यपि आपके आविष्कृत सिद्धान्तों को बहुत विशेष सम्मान नहीं प्राप्त हो सका—तो भी हम कहते हैं कि आप में मौलिकता एवम् खोजने की शक्ति खूब अनोखी और चोखी है।

आपका प्राचीन पथों में परिमार्जन और परिवर्धन करने, नवीन सिद्धान्तों को उठाने तथा सुधार करने में बहुत बड़ा हाथ है।

वामन ने केवल उपमा ही को अलंकारों का मूलाधार बतलाया है, किन्तु आपने उनके चार तत्व खोजकर दिखाये हैं।

वामन का काव्यालंकारसूत्रवृत्ति

इसमें ५ अधिकरण, तथा १० अध्याय हैं, (प्रथम में ३ अध्याय, द्वितीय तृतीय में २ अध्याय, चतुर्थ में ३ और पाँचवें में २ अध्याय है)।

प्रथम—अलंकार का अर्थ या परिभाषा—दोष-रहितता, गुण एवम् अलंकार (संकीर्णार्थ में—काव्य-भूषण—शब्दालंकार—एवम् अर्थालंकार) के चमत्कार-सौंदर्य।

द्वितीय—रीतियों (जो आपके मतानुसार काव्यात्मा है) का विवेचन, काव्य के अंग और कवि का गुण या लक्षण, काव्य के भेद।

तृतीय—दोषों की विवेचना—
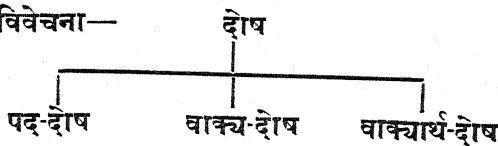
गुणों की विवेचना —

चतुर्थ—अलंकार के सिद्धान्त—

सब अर्थालंकार उपमा के ही भेदोपभेद हैं

पञ्चम —कवि-समय—कवि-आचार या सिद्धान्त (परिपाटी)
शब्द-साधन—शब्दों की शुद्धता।

रुद्रट का काव्यालंकार (१६वें अध्याय में) आर्याछन्द में लिखा है।

प्रथम—प्राक्कथन, सत्काव्य-फल, कवि की ज्ञातव्य बातें।

द्वितीय—काव्य-परिभाषा—शब्द और अर्थ का सुन्दर सामंजस्य, शब्द-तत्व, गुण (शक्ति)—संज्ञा—यौगिक, रूढ़ि (इसी पर रीति-सिद्धान्त की निर्भरता)।

वाक्य-विवेचन—

शब्दालंकार विवेचन, दोष—१. काव्य-दोष, २. छन्दोगत दोष

दोष
- शब्द-दोष
- वाक्य-दोष

अर्थालंकारों का विस्तृत विवेचन—

अलंकार-तत्व, एवम् तदनुसार वर्गीकरण—(१—वास्तव २—औपम्य ३—अतिशय ४—श्लेष)। अर्थ-दोष (उपमा-दोष) रस-सिद्धान्त (नायक-नायिका-भेद)।

अब आइये आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक की ओर। इसका काव्यालंकार शास्त्र के इतिहास में बड़ा ही महत्व है, क्योंकि इसके द्वारा इस क्षेत्र में बहुत कुछ प्रगाढ़ परिवर्तन हो गया है। ध्वनि, (सूक्ष्यार्थ) तथा व्यंग्य का काव्य में प्राधान्य हो गया। (इसके अनुसार—ध्वनि ही काव्यालंकार की आत्मा है) भामा के वक्रोक्ति-सिद्धान्त को जो अतिशयोत्कर्ष की पुट रखता था (वक्रोक्ति सब अलंकारों तथा काव्य का मूलतत्व है ऐसा भामा का मत है, अतिशय इसका सहयोगी एवं सहायक है) इस ध्वनि-सिद्धान्त ने उठा ही दिया, रस सिद्धान्त पर भी अपना पूर्ण प्रभाव डाला, और रीति-रचना को दबा दिया। यहाँ तक इसका आतंक बढ़ा कि हिन्दी काव्यालंकार के आचार्य श्री भिखारीदास ने भी इसको प्रधानता दे दी।

इसीलिये इसका स्थान साहित्य के क्षेत्र में बहुत ऊँचा है। अलंकारों की रीति-नीति तथा उनके लक्षणों पर इसकी छाप बैठ गई और वे इस सिद्धान्त से प्रभावित हो गये, यहाँ तक कि ध्वनि-सम्बन्धी अलंकारों की सत्ता स्वतंत्र रूप से पृथक ही हो गई, (जैसे प्रौढोक्ति, अन्योक्ति)।

जिस प्रकार रस-सिद्धान्त ने अपना प्रभाव अलंकार-सिद्धान्त वादियों पर डाल कर अलंकारों को अपने प्रभाव से एक दूसरे रूप में रखवा लिया था, और अपने से सम्बन्ध रखने वाले अलंकारों को (जैसे—रसवत, ऊर्जस्वि, प्रेयादि) काव्यालंकार शास्त्र में स्वतंत्र स्थान दिलवा दिया था उसी प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त ने भी किया है।

यहाँ यह भी लिख देना अनावश्यक न होकर समीचीन ही ठहरेगा कि रीति एवं गुण-सिद्धातों ने अपना कुछ भी प्रभाव अर्थालंकारों पर नहीं डाल पाया, हाँ, उनका आतंक शब्दालंकारों पर अवश्य छा गया और यहाँ तक छा गया कि वृत्यनुप्रास (जिसे रीत्यनुप्रास भी कह सकते हैं क्योंकि रीतियाँ और वृत्तियाँ * एक ही है—नामों में ही अन्तर है—ऐसा कुछ आचार्यों का मत है) का नया संसार ही विरचित हो गया। तथा इसके तीन मुख्य भेद—(१) उपनागरिका (ग्राम्या) (२) परुषा (३) कोमला नामी वृत्तियों अथवा (१) गौड़ी, (२) पांचाली, (३) वैदर्भी नामी तीन रीतियों के अनुसार या आधार पर हो गये।

इस प्रकार इन भिन्न भिन्न सिद्धान्तों ने काव्यालंकार शास्त्र पर अपने अपने विशेष प्रभाव डाले और उसमें परिवर्तन के साथ ही साथ बहुत कुछ नवीन विकास एवं वृद्धि का वैभव भी उत्पन्न कर दिया।

ध्यान रखना चाहिये कि ध्वनि-सिद्धान्त के जन्म के उपरान्त प्रायः सभी आचार्य कुछ न कुछ उससे अवश्यमेव प्रभावित हुये हैं—चाहे वे किसी भी सिद्धान्त के प्रौढ़ अनुयायी क्यों न रहे हों।

---

* रीति—" विशिष्टापद रचना रीतिः—रीतिरात्मा काव्यस्य " ÷ रीतियाँ तथा वृत्तियाँ वर्णों एवं समासों पर ही समाधारित रहती हैं।

काव्यप्रकाशकार मम्मट तो सर्वत्र सभी भाँति ध्वनि-सिद्धान्त से प्रभावित हुए हैं, और आप पर आधारित होकर हिन्दी के कई आचार्य चलते हैं। गुण-सिद्धान्त को आपने ध्वनि (शब्द-शक्ति, अभिधा, लक्षणा, व्यंजना) के साथ ही साथ उठाया और उसे रीति से संयुक्त करने का प्रयास किया है—गुणों को भी आपने विशेष स्थान काव्य में दिया है, हाँ, गुणों को रीतियों के समान वर्ण-संगठन पर ही निर्भर मान अलंकारों से इनको पृथक कर दिया है। आपने अपने सभी पूर्वप्रभूत आचार्यों से सहायता ली है। इसी से इसमें वे सभी सिद्धान्त पाये जाते हैं जो उस समय तक काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में आ चुके थे।

मम्मट का काव्यप्रकाश
(१०५०, ११५० पू० ई०)

यह १० उल्लासों, १४२ कारिकाओं, उनकी वृत्तियों एवं उदाहरणों से संयुक्त एक मान्य ग्रन्थ है। इसमें उस समय तक के सभी सिद्धान्तों का विवेचन सूक्ष्म रूप से किया गया है—
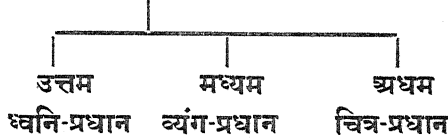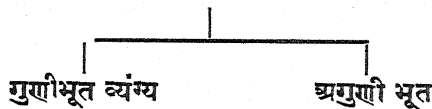
इनमें से प्रत्येक के भेदोपभेद—

३—रस-सिद्धान्त—रसों का विस्तृत-विवेचन

४—चित्र-काव्य— चित्र

शब्द-चित्र अर्थ-चित्र

५—दोष-विवेचना—दोष

पद वाक्य अर्थ रस

दोषों में स्थान विशेष पर गुणत्व का आना

६—गुणालंकार-भेद— ३ गुण

प्रसाद माधुर्य ओज

अन्य गुणों का इनके अन्तर्गत होना।

दोषहीनता तथा वर्णसंगठन से गुणोत्पत्ति

७—शब्दालंकार—वक्रोक्ति, अनुप्रास

छेक वृत्ति चित्र लाट श्लेष यमक

८—अर्थालंकार—इनके दोषादि का वर्णन

स्पष्ट है कि कई आचार्यों के द्वारा इनके समय तक (११५० ई० तक) काव्य-शास्त्र की वृद्धि एवम् उसका विकाश विशेषरूप से होकर उसमें पूर्ति-स्फूर्ति तथा कला-कौशल की चमत्कृत छवि-छटा आ विराजी थी। वह सर्वथा निखर विखर चुका था।

इनके पश्चात् और जितने भी आचार्य एवम् लेखक आते हैं वे सब इन सब के ही सिद्धान्तों को लेकर चलते हैं, हाँ, यह अवश्य करते हैं कि कोई किसी को विशेष रूप से अपनाता तथा मानता है और कोई किसी को; परन्तु वे इनमें से किसी भी आचार्य के मत को छोड़ते नहीं, उसे उठाते अवश्य हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इनके मतों को काव्य-शास्त्र में सदा के लिये निश्चित तथा ध्रुव स्थान प्राप्त होगया और काव्य-शास्त्र के विषय का विभाग एवं क्रम निश्चित होगया। प्रारम्भ से इतने समय तक को हम उत्पत्ति एवम् विकास का समय कह सकते हैं, क्योंकि इतने ही समय के भीतर काव्यालंकार-शास्त्र के सभी प्रधान प्रधान अंगों का जन्म एवम् विकास-विवर्धन हुआ है। इसके पश्चात् तो विवाद एवम् खंडन-मंडन का ही समय आता है, जो मध्य-काल कहा जा सकता है—इसमें तर्क का वल एवम् आलोक विशेष प्रधान होता है। साथ ही इस समय में जब काव्य-शास्त्र का सभी मसाला एकत्रित हो गया तब उसका एक क्रम से विभक्त किया जाना तथा यथास्थान उसका सजाया जाना ही आवश्यक ठहरा, यह इसी काल में हुआ। हाँ, यह अवश्य हुआ कि कुछ इधर उधर दो एक आचार्य इस समय में भी ऐसे हुये, जिन्होंने अपने कुछ विशेष मत उठाये, (किन्तु वे सब उन मतों के नितान्त नवीन आविष्कारक न थे वरन् उन्होंने उन सब सिद्धान्तों के सूत्र अपने इन्हीं पूर्वप्रभूत आचार्यों में से किसी एक के मत से खोज निकाले थे, हाँ उन्होंने उनमें अपनी ओर से कुछ प्रौढ़ता तथा प्रतिभा अवश्य भरी है) इसीलिये हम उन्हें भी यहाँ सूक्ष्म रूप से दिखला देते हैं।

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तल को लीजिये। भामा के आधार पर आप वक्रोक्ति को काव्यालंकार की आत्मा मानते तथा सिद्ध

करते हैं। इसीलिये आप स्वभावोक्ति को अलंकार ही नहीं मानते। शब्दालंकारों को आप वर्णविन्यास-वक्रत्व कहते हैं। वृत्तियों तथा रीतियों को भी वर्ण-विन्यास-वक्रत्व के ही अन्तर्गत मानते हैं। वक्रता के मुख्य दो भेद देते हैं—(१) वाक्यवैचित्र्यवक्रता, (२) वस्तुवैचित्र्यवक्रता। रस सम्बन्धी सभी अलंकारों को आप अलग हटा देते हैं, जैसे रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, उदात्तादि।

ध्वनि एवम् व्यंग-सिद्धान्तों की स्वतंत्र सत्ता को अस्वीकार कर उनको वक्रोक्ति-सिद्धान्त के ही अन्दर तदंगों के रूप में ही आप मानते हैं।

कुन्तल का वक्रोक्ति जीवित—

"लोकोत्तरचमत्कारिवैचित्र्यसिद्धये। काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यऽपूर्वो विधीयते। अलंकृतिरलंकारमुपोद्धृत्यविविच्यते।

येन संपद्यते काव्यं तदिदानीं विचार्यते।
तदुपायतयातत्वं सालंकारस्य काव्यता॥

काव्य— शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
वंधे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥

सालंकृत वक्रता से चमत्कृत शब्दार्थवान वाक्य ही काव्य है—

वक्रोक्तिः—शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारी स्वस्यन्दसुन्दरः॥
उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्धभंगी भणितिरुच्यते॥

प्रतिदिन की व्यावहारिक साधारण भावव्यक्तकारी रीति से पृथक, वक्रोक्ति, समाकर्षानन्दकारी एक चमत्कारपूर्ण वाणी की भावप्रकाशन रीति है, जो कवि-प्रतिभा की चातुरी से हृदय को मुग्ध कर देती है।

भोजराज को भी हम इसलिये नहीं छोड़ सकते, चूंकि आपने अग्निपुराण का अनुकरण करते हुये अलंकारों के शब्द एवम् अर्थ के आधार पर किये गये, सर्वमान्य वर्गीकरण में, उभय या शब्दार्थ सम्बन्धी अलंकारों का वर्ग पृथक् करके एक विशेषता ला दी है, और आपका अनुकरण पश्चात् के सभी आचार्यों या लेखकों ने किया है। हिन्दी के भी आचार्यों में से कई आचार्यों ने इसे स्वीकार कर अपना लिया है।

आप ही सब से प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने महर्षि जैमिनि के ६ प्रमाणों को भी अलंकारों का रूप देकर काव्यालंकार शास्त्र में स्थान दे दिया है। इसमें भी आपका अनुकरण प्रायः सभी आचार्य (हिन्दी और संस्कृत दोनों के) करते हैं।

आपका "सरस्वती कंठाभरण" नामी ग्रन्थ (१०३०-१०५० ई०) अलंकारों का एक संग्रह मात्र है और दूसरे ग्रन्थों ही पर आधारित है। काव्य के अन्यांगों का वर्णन इसमें बहुत ही सूक्ष्म रूप से किया गया है।

शेष सभी लेखकों को एक प्रकार से अनुवादक ही समझिये, या केवल संग्रहकर्त्ता ही मानिये। वे इतना अवश्य करते हैं कि अपनी रुचि एवम् अपने मत विशेष के अनुसार अलंकारों से तथा अन्य काव्यांगों में कुछ काट छाँट, उनमें कुछ न्यूनाधिक्य, तथा कुछ परिमार्जन एवम् परिवर्तन अवश्य करते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो दो एक नये अलंकार भी रच देते हैं। जैसे—रूय्यक, जिन्होंने दो अलंकार नितान्त नये दिये हैं, (१) विकल्प और (२) विचित्रालंकार।

यह काव्यालंकार शास्त्र के इतिहास का वह तृतीय काल है जब शास्त्र सर्वाङ्गपूर्ण बन चुका था तथा उसका रूप निश्चित हो

चुका था और किसी को कुछ विशेष कार्य करने की आवश्यकता न रह गई थी। इसीलिये पश्चात् के सभी लेखक केवल संग्रह कर्त्ताओं के ही रूपों में आते हैं।

इस समय में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह हुई कि इस समय रस-सिद्धान्त को पुष्टता दी गई, साथ ही नाटकों को काव्य में (रस-सिद्धान्त के ही आधार पर) प्रधान स्थान दे दिया गया। दशरूपक तथा साहित्यदर्पण दोनों इसके लिये प्रमाण हैं। साहित्य-दर्पण स्पष्ट रूप से कहता है " रसात्मकम् वाक्यम् काव्यम् "।

इसका एक विशेष कारण यह भी है कि इस समय तक सुकवियों ने नाटकों को भी बहुत उच्च कोटि का बना दिया था—(जैसे श्रीकालिदास ने शकुन्तला, भवभूति ने उत्तर रामचरित, महावीर चरित को), तथा कुछ ऐसे नाटककारों ने (जैसे मालतीमाधवकार, मुद्राराक्षसकार) यह देखकर कि काव्य का निर्माण काव्यालंकार शास्त्र के अनुसार (जिसमें मत-मतान्तरों का बहुत बिवाद बढ़ गया था, तथा जिसमें जटिलता आ गई थी) करना कठिन एवम् दुष्कर है, नाटकों में, जिनका पथ एक बार भरत मुनि के द्वारा निर्धारित होकर छोड़ दिया गया था तथा वह बहुत स्वच्छ और प्रतिद्वन्दता से रहित हो विस्तृत रूप में पड़ा था, कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था, तथा बहुत कुछ कार्य स्वतंत्रता के साथ कर भी डाला था और ऐसी रचनायें रख दी थीं कि लोगों को मजबूर होकर उन्हें काव्य में प्रधान स्थान देना पड़ा। बस इन्हीं सब कारणों से " काव्येषुनाटकं रम्यं " ऐसा विद्वानों एवम् काव्यकलामर्मज्ञों को कहना ही पड़ा।

इस काल में जितने लेखकों ने काव्यालंकारशास्त्र पर ग्रन्थ लिखे, प्रायः सबों ने पूर्वाचार्यों के ही सिद्धान्तों को लेकर कुछ नमक

मिर्च के साथ उनको एक समिष्टि सी बना दी है और यों संग्रह-कार के ही रूप में कुछ विशेषता दिखलाई है। ऐसा होते हुये भी वे दर्शनीय हो हैं। अब यह भी विचार लेना चाहिये कि इस शैथिल्य के मुख्य दो कारण हो सकते हैं (१) काव्यालंकार शास्त्र के रूप का सर्वाङ्गपूर्ण हो पूर्ण रूप से निश्चित हो जाना तथा (२) इस काल में (अर्थात् १२ वीं शताब्दी के पश्चात्) आधुनिक भाषाओं के (उत्तरी भारत में हिन्दी आदि के) रूपों तथा उनके साहित्य एवं उनके साहित्यिक उत्थान का प्रारम्भ द्रुतिगति से होना। इसके प्रथम प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के जन्म तथा विकास का होना भी संस्कृत-साहित्य के शैथिल्य का कारण हो सकता है और यथार्थ में है भी। प्राकृत और अपभ्रंश दोनों को भी साहित्य-क्षेत्र में स्थान प्राप्त हो गया था, और इसी से संस्कृत-साहित्य क्षीण तथा हीन सा हो चला था, तौ भी उसमें अब तक (हिन्दी आदि भाषाओं के उत्थान के पूर्व तक) कुछ ओज शेष था, जो प्रायः १८ वीं या १७ वीं शताब्दी तक रहा, बाद को नितान्त ही दब गया। बहुत थोड़े से इने गिने संस्कृत-भाषा एवं तत्साहित्य के प्रेमी विद्वान् ही उसमें कुछ कार्य, जो प्राचीनाचार्यों के ही ऊपर सर्वथैव निर्भर रहता था, करते रहे। इस प्रकार उसकी मौलिकता का युग समाप्त हो गया और युग आया दूसरी भाषा तथा साहित्य का। इस काल में बस संस्कृतज्ञ पंडित लोग टीका-टिप्पणियों एवं पूर्वरचित ग्रन्थों की व्याख्या-विवेचनाओं में ही लगे रहे, मौलिक-रचनायें करना उन्होंने छोड़ ही सा दिया।

इसीलिये काव्यालंकार-शास्त्र के क्षेत्र में भी हम यही सब बातें पाते हैं। हेमचन्द्र (१०८८—११७८) रूय्यक (१२ शताब्दी के पूर्व काल में) वाग्भट्ट (१३ शताब्दी) जयदेव (१३ शताब्दी) वैद्यानाथ (१५ शताब्दी,) विश्वनाथ, केशव मिश्र (१६ शताब्दी)

जगन्नाथ (१७ शताब्दी) आदि सभी प्रधान लेखक केवल संग्रह-कर्त्ताओं के रूप में ही हमें मिलते हैं।

१८ वीं शताब्दी में तो संस्कृत भाषा और उसके साहित्य की रही सही बात भी उठ गई, और हिन्दी-साहित्य का प्रचार एवं प्रस्तार वेग से हो चला। अतः अब हम आगे हिन्दी काव्यालंकार शास्त्र के विकास पर विचार करते हैं।

हिन्दी-अलंकार शास्त्र का इतिहास

हिन्दी भाषा का जन्म लगभग १००० ई० में माना जाता है, किन्तु उसका यथार्थ-रूप हमें १२०० ई० के पश्चात् से ही देखने को मिलता है। इसके प्रथम हमें अपभ्रंश भाषा का ही प्राधान्य दिखाई देता है, हिन्दी भाषा उस समय यदि उत्पन्न भी हो चुकी थी तो वह केवल नवजात शिशु के समान ही हाथ पैर चलाती, जो कुछ भी पाती मुख में रखती, उठने, बैठने, खड़ी होने तथा चलने फिरने के लिये अल्प प्रयास ही करती थी।

दुर्भाग्य से, इसके ऊपर इसी अलपावस्था (शैशवकाल) में आक्रमणों का दुष्प्रभाव पड़ा और इसे बलपूर्वक रणक्षेत्र में वीरता के कड़खे साहस के साथ गाने पड़े। किन्तु धन्य है इसे ! कि इसने बड़े ही साहस, अदम्योत्साह तथा शौर्य के साथ इस काल में निर्वाह किया और वीरप्रसवा भारतभू की भव्य भारती की वीर कन्यका हो वीर-गाथाओं (रासो ग्रन्थों) का रौद्र एवं वीर रस से सना हुआ सुन्दर साहित्य रच ही दिया।

यह स्पष्ट है कि ऐसे समय में इसे स्वतन्त्रता पूर्वक सुख शान्ति के साथ सुन्दर, सरस तथा चमत्कार-चातुर्यपूर्ण मनोरञ्जक काव्य-कला के कुशल कार्यों तथा सुन्दर साहित्य-शास्त्र (काव्यालंकार शास्त्र) के क्षेत्र में कार्य करने का अवकाश नहीं था। इसके साथ ही अभी ज्ञानानुभव तथा काव्यकला एवं साहित्य शास्त्र में प्रौढ़ योग्यता, या पटुता भी इसे प्राप्त न थी। इसीलिये हमें इस समय हिन्दी-काव्यालंकार-शास्त्र का क्षेत्र नितान्त ही शून्य सा प्राप्त होता है। हम प्रथम ही कह चुके हैं कि इसी काल में

संस्कृत के विद्वान् आचार्य काव्य-क्षेत्र में कार्य कर रहे थे और काव्यालंकार शास्त्र की स्फूर्तिमयी पूर्ति करने जा रहे थे।

यह भी हम दिखला चुके हैं कि साहित्य-शास्त्र का निर्माण, साहित्य का निर्माण तथा उसकी प्रौढ़ पूर्ति के पश्चात् ही उसी के आधार पर होता है। अभी हिन्दी-साहित्य कुछ था ही नहीं, उसमें काव्य-निर्माण कुछ हुआ ही न था, तब काव्यालंकारशास्त्र का निर्माण कैसे हो जाता। हाँ; यह अवश्य था कि इसके लिये इसे संस्कृत से पूर्ण सहायता मिलती थी। किन्तु सहायता, सहारा, आधार पाने तथा काव्य-निर्माण करने की सामग्री के होने पर भी अन्य अत्यावश्यक साधन, साधक तथा समय यहाँ सुलभ न थे। कला कुशल कारीगर भी न थे, जो थे भी वे दूसरे कार्यों (वीर-गाथा-साहित्य के भवन बनाने) में लगे थे। साथ ही हिन्दी-भाषा अभी पूर्ण प्रौढ़ भी न थी, उसमें शैशव था, उसका शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक (एवं, ज्ञानानुभव सम्बन्धी संस्कार) अथवा बाह्याभ्यंतरिक किसी भी प्रकार का पर्याप्त विकास न हुआ था, उसका आकार, प्रकार, रंग, ढंग तथा उसकी चाल, ढाल अभी निश्चित न थी। उसमें साहित्यिक ज्ञानालोक तथा तरुण अनुभवावेश न आया था। उसने अभी कला-कौशल के पाठ को भी किसी कला एवं शास्त्रशाला में किसी विद्वान् आचार्य या अध्यापक के द्वारा पढ़ना भी प्रारम्भ न किया था। अभी उसकी शक्ति अविकसित रूप में दबी पड़ी थी। ऐसी दशा में वह कहाँ से प्रौढ़ साहित्यिक कार्य कर सकती थी।

जिस प्रकार मनुष्य अनुकरण करते करते अनुभव के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता तथा विद्वान् हो विद्या के क्षेत्र में कार्य करता है, उसी प्रकार भाषा भी प्रथम अनुकरण करके तथा दूसरों के ज्ञानानुभव को प्राप्त करके, उसीके सहारे से अपनी योग्यता तथा अपना

सुवर्णार्थ-कोष बढ़ा चढ़ा कर साहित्य एवं विद्या के क्षेत्र में प्रविष्ट करके कार्य करती है।

हिन्दी भाषा का, जैसा कहा जा चुका है, यह बाल्यकाल था, इसमें इसने १४०० के बाद ही प्रवेश किया, तब स्वभावतः ही इसे अनुकरण करना, दूसरों से सीखना तथा सहायता लेना पड़ा, इसी से हमें इसके सभी प्रकार के ज्ञान का आधार संस्कृत-साहित्य में प्राप्त होता है और इसका साहित्य सब प्रकार संस्कृत साहित्य ही पर समाधारित तथा उसीके अनुकरण रूप में बना हुआ मिलता है और उसमें विशेष रूप की मौलिकता नहीं प्राप्त होती।

लगभग १६०० ई० के समीप या इसके पश्चात्, हिन्दी अपने बाल्यकाल से बढ़कर यौवनावस्था में पदार्पण करती है और विकसित होकर कुछ प्रौढ़ होती है। इस समय से इसे साहित्य में भी स्थान प्राप्त होने लगता है तथा इसके आकार-प्रकार की नीति-रीति, एवं स्थिति कुछ परिमार्जित, परिष्कृत तथा संस्कृत हो चलती है।

इसी समय से यह साहित्य के क्षेत्र में कार्य करना भी प्रारम्भ करती है। अपने गुरु संस्कृत से सीख कर वह अब दूसरों को सिखाना भी प्रारम्भ करती है, और एक प्रकार से विद्यार्थी की दशा को छोड़ शिक्षक की दशा में आती है, किन्तु जिस प्रकार शिक्षक लोग स्वाध्याय एवं पुस्तकावलोकन जारी रखते हुये अपनी तैय्यारी विशेष रूप से करके कार्य करते हैं उसी प्रकार हिन्दी भाषा भी करती चलती है।

बाल्यकाल के अन्तिम समय में इसने बड़े बड़े महात्माओं जैसे सूर, तुलसी, जायसी, एवं कबीरादि से धार्मिक उपदेश तथा

चारित्रिक सिद्धान्त ख़ूब सुने थे और उन्हीं में यह लीन करा दी गई थी, किन्तु तौ भी युवावस्था के विकासावेश के कारण इसकी रुचि ललित कला, सरस एवं मधुर शृंगार-काव्य तथा सौंदर्य-विलास की ओर बढ़ी ही और इसने बहुत कुछ ललित लीला भी की। इसके अनन्तर इसकी प्रौढ़ता बढ़ने लगी और अवस्था बढ़ने पर जिस प्रकार मनुष्यों के विचार तथा हावभाव, वेशभूषा एवं आचारादि बदल जाते हैं उसी प्रकार हिन्दी भाषा के भी सब रंग ढंग बदल गये। अब इसमें प्रौढ़ता आई, साथ ही विचार-गांभीर्य, परिपक्व एवं सुव्यवस्थित नीति रीति, कला-चातुरी, वचन एवं वाणी की विदग्धता आदि नये गुण भी आचले। यह परिष्कृत, परिमार्जित एवं संस्कृत हो गई। इसमें स्थिरता, निश्चितता तथा विशदता आ चली। अब शृङ्गार-काव्य एवं मधुरसंगीत को छोड़ इसने गंभीर विषयों, ज्ञान-विज्ञान तथा अन्य कलाओं की शाखाओं की ओर अपने को लगाना प्रारम्भ कर दिया।

इस प्रकार हिन्दी भाषा क्रमशः विकसित होकर आज के रूप में आ गई। यह विषय-प्रवेश के पूर्व भाषा सम्बन्धी सूक्ष्म विवेचन काव्यालंकार शास्त्र के सम्बन्ध में जो कुछ सूचित करता है वह यह है कि (१) हिन्दी में प्रथम काव्यशास्त्र न था (२) १४०० ई० के पश्चात् इसका कार्य प्रारम्भ हुआ और (३) १६०० ई० के पश्चात् हिन्दी का काव्यशास्त्र स्थिरता से चला और १९०० तक चला आया। इसके बाद उसमें रूपान्तर यों हो चला कि गद्य का भाषा-साहित्य में पद्य के स्थान पर प्राधान्य हो जाने के कारण काव्यशास्त्र भी पद्यात्मक (संस्कृत के अनुकरण रूप में तथा उसी की शैली के अधार पर) न रह कर गद्यात्मक हो चला और प्रधान न रह गया, क्योंकि इस गद्य के युग में भाषा का प्रवेश अनेक विषयों में हो चला (अन्य भाषाओं तथा उनके साहित्यों के सम्पर्क तथा अंग्रेज़ी भाषा एवं

साहित्य के प्रभाव से) वे अन्य विषय (ज्ञान-विज्ञान संम्बन्धी) प्रधान एवं महत्व पूर्ण होने से उठ चले। अस्तु, अब हम अपने विषय का ऐतिहासिक रूप एवं विकास का यथाक्रम होना इस समय देख सकते हैं।

हिन्दी का काव्यालंकारशास्त्र दो प्रधान रूपों तथा अंगों में विभक्त होता है, (१) काव्य का सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन (रस, भाव, दोष, गुण, वृत्ति रीति, अलंकार, शब्द-शक्ति-ध्वनि, लक्षणा-व्यंजना, अभिधादि का वर्णन)

(२) केवल अलंकार-विवेचन—

कुछ आचार्य तो सर्वांगपूर्ण काव्यालंकारशास्त्र लिखते हैं— जैसे मुख्यतया, केशव., जसवन्तसिंह, भिखारीदास और लछिरामादि और कुछ लोग केवल एक या दो ही काव्यांगों की विवेचना करते हैं जैसे—मतिराम, भूषण, पद्माकर, और देव आदि।

इन दोनों शैलियों का काल विभाजन नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक ही समय या शताब्दी में दोनों कभी कभी साथ साथ भी चलती हैं। यह और कह देना चाहिये कि दोनों शैलियों का आधार संस्कृत में ही है, यही बात संस्कृत के काव्यालंकारशास्त्र तथा उसके आचार्यों एवं लेखकों में भी पाई जाती है। यह प्रथम ही कहा गया है कि हमारे हिन्दी के आचार्य सर्वथा संस्कृत के आचार्यों पर ही आधारित हैं, हाँ, कहीं कहीं कुछ न्यूनाधिकता के साथ भले ही वे इस विषय की विवेचना करते हों, किन्तु यह एक दूसरी बात ही है। अस्तु—

काव्यालंकारशास्त्र का सब से प्रथम लेखक पुण्य या पुष्य माना जाता है। इसने संस्कृत से अलंकारों का हिन्दी के दोहों में अनुवाद किया था, किन्तु इसका ग्रन्थ (जो लगभग ९०० ई० के

आसपास में लिखा गया माना जाता है।) अब अप्राप्य है, इसलिये उसके विषय में कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता। *पुष्य के पश्चात् कृपाराम के द्वारा एक ग्रन्थ इस विषय पर लिखा हुआ कहा जाता है। कृपाराम का लिखा हुआ "हित तरंगिणी नामक एक ग्रंथ उपलब्ध है किन्तु वह इस विषय (अलंकार) पर तो नहीं है वरन् रस-सिद्धान्त पर है तथा नायक-नायिका-भेद की विवेचना करता है † और कोई दूसरा ग्रन्थ इनका प्राप्य नहीं, अतः कह सकते हैं कि ये महाशय यदि कुछ कर भी गये हों तो चूंकि वह अब हमारे लिये अप्राप्य है, कुछ विशेष मूल्य नहीं रखता।

इन दोनों के पश्चात् तीन लेखक इसी विषय पर ग्रन्थ लिखते हुये और कहे जाते हैं—(१) गोप, (२) गोपा (३) करनेस बंदीजन किन्तु इन तीनों के भी ग्रन्थ अब अप्राप्य हैं, अतः इन्हें भी हम छोड़ देते हैं।

अब इनके पश्चात् हमारी भाषा के उपलब्ध इतिहास-ग्रन्थ तथा खोज की रिपोर्टें हमें इस विषय के लेखकों का उस समय तक परिचय नहीं देतीं जब तक कि हम लगभग ९०० या १००० वर्ष का

---

* मिश्र० ब० विनो०—पृ० २५६

† यह भी इसी कारण से (चूँकि इनका ग्रंथउपलब्ध नहीं) नहीं कहा जा सकता कि वस्तुतः इन्होंने हिन्दी में ही (जो उस समय में प्रचलित थी) उसे लिखा था या जिस भाषा में लिखा था वह कोई दूसरी भाषा थी या अपभ्रंश, प्राकृत एवं संस्कृत मिश्रित भाषा से निकली हुई या कोई जन साधारण की असाहित्तिक, अपरिमार्जिति, अपरिष्कृत, असंस्कृत एवं अपरिपक्व भाषा थी। यह भी माना जाता है कि उस समय हिन्दी का जन्म भी न हुआ था, यदि यह मानलें, जैसा मानना ठीक भी है, तो इन्होंने कदापि हिन्दी में नहीं लिखा था। कुछ भी हो, प्रश्न संदिग्ध एवं जटिल ही है।

बृहत्समय पार कर १७वीं शताब्दी में नहीं आ पहुँचते। इससे यही नतीजा निकाला जा सकता है कि इस लम्बे समय में इस विषय पर किसी ने कुछ कार्य ही न किया होगा। यदि किया भी होगा तो वह अबतक हमारे सामने नहीं आसका, वह भूत की अँधेरी गुफा में ही कहीं अदृश्य रूप में पड़ा होगा। संभव तो यही प्रतीत होता है कि इस समय में किसी ने इस विषय पर अवश्य ही कुछ कार्य न किया होगा; क्योंकि यह समय ऐसा सुख-शान्तिपूर्ण न था कि साहित्य को ऐसी कलाओं एवं ऐसे विषयों के विकासार्थ उपयुक्त कुछ कार्य होता।

इस समय में दो विशेष बाधायें इस विषय के विकास-मार्ग में थीं (१) प्रथम मुसलमानों के आक्रमणों का उपद्रव, जिससे चारों ओर अशान्ति और खलबली पड़ी थी और परिस्थिति, देश, समाज तथा सभी लोगों की दशा संकटापन्न थी, ऐसी दूषित एवं अनिष्टाशान्तिकारी बेला में (जलवायु में) काव्य-कला शास्त्र का सुन्दर, सरस तथा मृदुल पौदा पनप, तथा पल न सकता था, इसमें विकास आना, उसका पल्लवित, पुष्पित तथा फलयुक्त होना तो दूर रहा। (२) इसके अनन्तर जब मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया और कुछ सुख-शान्ति फैली तब एक दूसरी बाधा इस मार्ग में आ गई, दो मतों या धर्मों का संघर्ष हो चला, मुसलमान अपने धर्म का प्रसार-प्रचार कर चले (उचित एवं अनुचित रीति से) ऐसी अवस्था में हिन्दुओं को भी धार्मिक आन्दोलन उठाना पड़ा और ज़ोरों से उठाना पड़ा। राम और कृष्ण भक्ति तथा ईश्वराराधन के कई पंथ तिग्मगति में चलने लगे। जिस प्रकार वैष्णवधर्म तथा उसकी कतिपय शाखाओं के आन्दोलनों से संस्कृत काव्यालंकार शास्त्र में शिथिलता आ गई थी (जैसे इससे प्रथम भी ऐसा ही हो चुका था) उसी प्रकार हिन्दी-काव्यालंकारशास्त्र के विकास-मार्ग में

भी प्रारम्भ ही से धार्मिक अन्दोलनों के कारण (जो उसी विराट धर्म के रूपान्तर, शाखा या जाल के रूप में हो उसी पर आधारित थे और दूसरे रूप में हिन्दू-मुलसमान धर्मों के मिश्रित रूप में थे—कबीर पंथादि) रुकावट तथा शिथिलता आ गई और उसकी गति सर्वथा बंद ही सी होगई।

इसके साथ ही साथ एक और कारण इसकी तथा हिन्दी भाषा एवं उसके साहित्य की वृद्धि के न होने का यह भी है कि मुसलमान शाह जो उस समय यहां शासन कर रहे थे, अरबी-फारसी के बोलने व पढ़ने लिखने वाले थे, उन्हींके प्रेमी नेमी थे और देश-भाषा हिन्दी के वे अपनाने वाले न थे। वे उसको प्रोत्साहन या सहायता भी न देते थे, उसे उठने भी न देना चाहते थे वरन् इसे शासित लोगों की भाषा समझ घृणा से देखते और दबाते थे। ऐसी दशा में हिन्दी भाषा तथा इसका साहित्य सर्वथा अपने सच्चे प्रेमियों के ही सहारे चलता रहा, उन्होंने जो कुछ हो सका इसका कार्य किया। इसके साथ ही संस्कृत के विद्वान तथा राजा लोग भी इसको विशेष रूप से अपनाने में संकोच सा करते थे। संस्कृत का वहां प्राधान्य था, उससे उतर कर प्राकृत एवं अपभ्रंश का था। ऐसे ही कहीं कहीं हिन्दी को कोई अपनाता था, क्योंकि हिन्दी अभी उतनी प्रौढ साहित्यिक भाषा के निखरे-विखरे रूप में न हो शिष्ट एवं संस्कृत न थी।

यह सब बातें १६०० ई० के पश्चात तक चलती रहीं, इसी से हिन्दी-साहित्य का विकास इस समय तक नहीं हो सका, और यदि हुआ भी तो, बस धार्मिक-साहित्य का, काव्यालंकार शास्त्र के विषय दबे ही पड़े रहे। १६०० ई० के इधर परिस्थितियां बदलीं, संस्कृत वृद्ध हो शिथिल हो गई और हिन्दी भाषा बढ़ चढ़ कर प्रौढ़ हो चली। "नये के नौ दाम पुराने के छः" की कहावत के

अनुसार जनता ने हिन्दी का आदर करना प्रारम्भ कर दिया। तुलसी सूर तथा केशव आदि महाकवियों ने हिन्दी-काव्य (ब्रजभाषा काव्य) से सब को आकृष्ट कर लिया, राज-सभाओं ने भी इस साहित्यिक रूप में आई हुई ब्रजभाषा का आदर करना प्रारम्भ कर दिया। संस्कृत के विद्वानों ने भी परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं से प्रेरित हो हिन्दी को उठाया और अपनाया।

मुगल सम्राटों ने भी जिनका अब उत्तरी भारत में सिक्का जम गया था, इस प्रजा-भाषा को, आवश्यकता जान तथा इसकी सहायता के बिना राजा-प्रजा का सम्बन्ध-सुचारु रूप से न चलता हुआ देख कर, अपनाना प्रारम्भ कर दिया, तथा इसके कवियों एवं लेखकों को वे पर्याप्त प्रोत्साहन भी देने लगे। हिन्दी की ब्रज-भाषा ने अपनी शक्ति से अपना आतंक भी जमा रमा लिया, क्योंकि उसे शान्ति से कार्य करने का स्थान (ब्रज की सुख-शान्ति पूर्ण भूमि तथा भक्ति की आनंदमयी और विनोद भरी गोद) तथा समय प्राप्त हो गया था। साथही आचर्यों को काव्यालंकार शास्त्र के निर्माणार्थ आधारभूत पर्याप्त काव्य-साहित्य भी मिल गया था। बस ऐसी अवस्था में हिन्दी काव्यालंकार शास्त्र का निकास-विकास अवश्यंभावी ठहरा।

सं० १६५८ (१६०१ ई०) में महाकवि तथा काव्याचार्य केशवदास ने सब से प्रथम काव्यालंकार शास्त्र पर "कविप्रिया" नामी एक ग्रन्थ लिखा।

हिन्दी भाषा के महाकवियों में आपका स्थान तृतीय माना जाता है और आपकी उपमा सूर्यव सूर तथा चंद्रेव तुलसी के पश्चात नक्षत्र से दी जाती है। आप काव्य-कला के कुशल आचार्य हैं और भाषा-भारती के भूषण हैं। आपको शब्द-संगठन

वैचित्र, कला-कौतुक तथा वर्ण-विन्यास के चमत्कृत रचना की रोचकता से विशेष प्रेम है। छन्दशास्त्र के भी आप प्रगाढ़ मर्मज्ञ हैं। आपका उतना अनुराग रस, ध्वनि एवं व्यंग्यादि से नहीं, जितना अलंकार और चमत्कार से हैं।

आपकी कविप्रिया अपने रंग ढंग की अनोखी व चोखी पुस्तक है। इस पुस्तक में शब्दालंकारों का विशेष विवेचनात्मक वर्णन दिया गया है, जिससे यही बात ज्ञात होती है कि आपके समय में तथा आपके विचार से शब्दालंकारों का ही काव्य में प्राधान्य था। यही बात हमें संस्कृत-काव्यालंकार शास्त्र के प्रारम्भ में भी मिलती है। ऐसा जान पड़ता है कि जब काव्य-साहित्य की भाषा विकसित होती है तभी यह बात देख पड़ती है, और यह तदर्थ आवश्यक भी है, क्योंकि शब्दालंकारों (यमक, अनुप्रासादि) की सहायता से अनेक नवीन साहित्यिक शब्दों की कल्पना होती और हो सकती है जो काव्य एवं साहित्यिक भाषा की विकास-वृद्धि के लिये अत्यंत आवश्यक है। *

यह बात (शब्दालंकारों की प्रधानता) हमें उस काल की कविता तथा आगे के काव्य में भी विशेष रूप से दिखलाई पड़ती है।

---

* हमारी धारणा तो यह है कि वर्णावृत्ति Repitition एवं अनुप्रास, यमकादि के ही साहाय्य से साहित्य में एक बहुत बड़ा शब्द-कोष बना है तथा वर्णिक पुनरुक्ति के ही आधार पर ऐसे शब्दों की रचना हुई जैसे, रदन, बदन, सदन मदन, पदन, कदन, छदन, नदन,—

चंदन, वंदन, नंदन, कंदन दंदन स्पंदन फंदन, स्यंदनादि—अन्त्यानुप्रास की सहायता से ही बने हुए जान पड़ते हैं। देखो हमारा लेख।

इसके साथ ही हम यह भी कह सकते हैं कि उस समय तक हिन्दी-काव्यालंकार शास्त्र की परिपाटी निश्चित न थी। केशवदास की प्रयुक्त परिपाटी, जो केशव मिश्र तथा अन्य संस्कृत के आचार्यों पर कुछ आधारित है, हिन्दी में नवीन और अद्वितीय ही है। ज्ञात होता है कि तुलसी और सूरादि जनता का ध्यान हिन्दी-काव्य की ओर और केशव साधारण लोगों के साथ ही बड़े बड़े राजाओं तथा शिष्ट लोगों का ध्यान काव्य-कला एवं काव्यालंकारशास्त्र की ओर समाकृष्ट करने में सर्वथा सफल हुए थे। केशव के पश्चात् ही लोग काव्यालंकारशास्त्र पर ग्रन्थ लिखने लगे, उनमें से अति प्रधान श्री महाराज जसवन्तसिंह का भाषा भूषण है। यह सब प्रकार कुवलयानन्द एवं चन्द्रालोक पर ही आधारित है (हाँ प्रथम भाग में रसभावादि का विषय तथा कहीं कहीं कोई अन्य अंश भी साहित्य दर्पणादि अन्य मान्य ग्रन्थों से लिये गये हैं) दोहों में परिभाषायें या लक्षण तथा उदाहरण सरल तथा सुबोध भाषा में दिये गये हैं, यह शैली भी कुवलयानंद का अनुकरण मात्र है। अपनी रसवत्ता, एवं सरलता के कारण इसका प्रचार-प्रसार बढ़ गया, और इसे प्राधान्य भी प्राप्त हो गया। यह प्रमाणित तथा मान्य समझा गया। इसने अर्थालंकारों का प्राधान्य रमा जमा दिया। शब्दालंकारों का ज़ोर इससे कुछ कम पड़ गया।

केशव का ग्रन्थ क्लिष्ट तथा जटिल होने के कारण अपना कुछ विशेष प्रभाव न डाल सका।

ध्यान देने का विषय यह है कि उसके उपरान्त १७ वीं तथा १८ वीं सदी में हिन्दी का सम्पर्क उर्दू तथा फारसी के काव्यों से बढ़ गया, इससे उर्दू फ़ारसी की भाँति शृङ्गार की प्रधानता हिन्दी-काव्य में भी होगई तथा वाक्यविन्यास या इबारत आराई का भी महत्व फ़ारसी-उर्दू की भाँति हिन्दी में हो चला, इसी से लोगों ने

अर्थालंकारों पर विशेष बल देना प्रारम्भ कर दिया। साथ ही उर्दू पर हिन्दी के शब्दालंकारों विशेषतया अनुप्रास (अन्त्यानुप्रास एवं तुकान्त) का प्रभाव भी सम्पर्क-साहचर्य से बहुत गहरा पड़ा और उसमें भी कविता अन्तानुप्रासपूर्ण पदावली (मुकफ्फा इबारत) के साथ सतुकान्त हो चली। इसके साथ ही एक बात विशेष यह हुई कि मुगल दरबार तथा तदनुकरण से हिन्दू-राज-दरबारों में भी विलास-प्रियता तथा शृङ्गार-सरसता का रंग जम गया, इससे कविता शृङ्गार रस में ही डूब गई तथा रस-सिद्धान्त (विशेषतः शृङ्गाररस एवं नायक-नायिका-भेद) का महत्व चारों ओर व्याप्त होगया।

इससे अलंकारों में कुछ शिथिलता आ चली। ऐसी ही दशा इन शताब्दियों के पूर्व काव्यालंकार शास्त्र के प्रारम्भिक काल में भी भक्ति की सरिता के प्रवाह से हो गई थी।

यह तब पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है जब हम देव, मतिराम आदि के काव्यालंकार-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ देखते हैं—देवजी रस-सिद्धान्त पर ही अपने भाव-विलास नामी ग्रन्थ में विशेष बल देते हैं और अलंकारों को गौण तथा बहुत ही सूक्ष्म रूप में रखते हैं। मतिराम ने भी अलंकारों के विषय को उठाते हुये अपने उदाहरणों से यही दिखलाया है कि वे काव्य में गौण तथा वाह्य सौंदर्य के परिपोषक रूप में ही हैं, काव्यात्मा रस है और रसों में शृङ्गार ही शिरोमणि या रस राज है।*

भूषण जी ने भी अपने अलंकारों के उदाहरणों से (जो वीर रस से भरे पूरे हैं) यही प्रगट किया है कि काव्यात्मा रस ही है।

---

* भवभूति ने करुणा रस को ही प्रधान कहा है:—

'एको रसः करुण एव निमित्त भेदात्।

—उत्तर रामचरित।

यह केवल परिस्थिति का ही प्रबल प्रभाव था कि उन्होंने अपने जीवन भर में केवल वीर रस में ही विशेष कविता की है। यह अवश्य है कि उन्होंने अलंकारों की प्रधानता, अपना ग्रन्थ केवल अलंकारों पर ही लिखकर, स्थापित की है। उन्होंने काव्यालंकार शास्त्र के और किसी भी अंग की पुष्टि उस पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिख कर या अपने काव्यालंकार सम्बन्धी शिवराज-भूषण में उसे स्थान देकर नहीं की। इससे कहा जा सकता है कि आप अलंकार सिद्धान्त के ही अनुयायी थे। आपने शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों दिये हैं, और अलंकारों को ही आप काव्य में प्रधानता देते हैं। यह सब बातें तो १८वीं शताब्दी तक होती रहीं। १९वीं शताब्दी में एक दूसरी ही लहर उठती है, अंग्रेज़ों के सम्पर्क से भारतीयों में बहुत कुछ विशेष परिवर्तन हो चला था, पाश्चात्य सभ्यता, भाषा-भावादि का प्रभाव हिन्दी-साहित्य सभ्यता तथा भाषा पर पड़ रहा था। राजनैतिक परिवर्तन से परिस्थितियों एवं दशाओं में रूपान्तर हो चला था। गद्य का बल बढ़ता जाता था, क्योंकि समय का चक्र इसी को घुमाकर सामने रख रहा था, पद्य या काव्य की दशा हीन, दीन, एवं क्षीण होती जाती थी। विज्ञान तथा अन्य प्रकार के विषयों का समाचार पत्रों के द्वारा भाषा में विकास हो चला था। यह समय नवीन आविष्कारों का तो था, किन्तु साहित्यिक क्षेत्र में नहीं, उसमें तो लोगों ने यही उचित समझा था कि अन्य भाषा के भूषणों को रूपान्तरित करके अपनी भाषा में रखना चाहिये। यह बात प्रथम संस्कृत भाषा से ही प्रारम्भ हुई थी। लोगों ने कुवलयानन्द और चन्द्रालोक को, जो प्रधानतया काव्यालंकारों की ही विवेचना करते हैं, लेकर उनका एक प्रकार से अनुवाद ही करना प्रारम्भ कर दिया, बना बनाया मसाला मिला, उसे बस अपनी भाषा में रख

ही देना शेष रह गया था। प्रायः यही प्रणाली इस अनुवाद-प्रधान युग में सर्वव्यापी एवं सर्व साधारण होगई, गुलाब, गोविन्द, रामसिंह, पद्माकर, दूलह आदि प्रायः सभी लेखकों ने उक्त दोनों संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद ही किये हैं। हाँ, दो एक प्रधान आचार्य अवश्य ही काव्य के सभी अंगों की मार्मिकविवेचना पर्याप्त मौलिकता के साथ करते हैं। इनमें सब से प्रधान भिखारीदास और लछिराम हैं, इन्होंने काव्य-निर्णय और रावणेश्वर कल्पतरु नामी ग्रन्थ लिखे हैं। लछिराम में उतनी अच्छी तथा अधिक मौलिकता तो नहीं (क्योंकि वे विशेषतया मम्मट के काव्य-प्रकाश तथा कुवलयानन्द पर समाधारित हैं) किन्तु भिखारीदास में अवश्यमेव आचार्यता की सच्ची मौलिकता मिलती है। आपने कई एक अपने नये सिद्धान्त तथा अपनी नई शैलियाँ दी हैं। तुक का वैज्ञानिक विवेचन आपने बड़ी ही विद्वत्ता एवं मौलिकता के साथ किया है। इसे अनुप्रास (अन्त्यानुप्रास) से पृथक् रखा है। तुक वास्तव में हिन्दी-काव्य और अलंकार-शास्त्र की अपनी ही चीज़ है। भिखारीदास ही प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने इसका सांगोपांग वर्णन दिया है, इनके प्रथम तथा पश्चात् भी किसी ने ऐसा नहीं किया। आपने अलंकारों का वर्गीकरण भी अपने ढंग का निराला ही दिया है। आपने सब प्रकार के अलंकारों (रस, भाव, ध्वनि, व्यंग-सम्बन्धी, अर्थालंकारों, शब्दालंकारों तथा उभयालंकारों) का विवेचन किया है, और ध्वनि तथा व्यंग को काव्य में प्रधानता देते हुये अलंकारों की भी महत्ता मानी है।

लछिरामजी ने इतनी विशेषता नहीं की।

अब हम एक और विशेष बात काव्यालंकारशास्त्र के लेखकों एवं आचार्यों के विषय में यह कह देना चाहते हैं, कि वे मुख्यतया

इन दो भिन्न भिन्न प्रकार की श्रेणियों में रखे जा सकते हैं:—(१) वे लेखक जो केवल अलंकारों का ही वर्णन अपने ग्रन्थों में करते हैं, जैसे पद्माकर, दूलह, गोकुल, गोविन्द एवं रामसिंह आदि (२) वे लेखक जो काव्य के दशांगों पर ग्रन्थ लिखते हैं और सभी अंगों पर समान बल रखते हैं। अब इन दो पथों के मध्य-पथ का अनुसरण करते हुये वे लेखक भी लिये जा सकते हैं जो अलंकारों का तो वर्णन प्रधान रूप से तथा अन्य काव्यांगों का सूक्ष्म एवं गौण रूप से करते हैं।

दूसरी बात जो काव्यालंकार के इतिहास के विषय में निष्कर्ष रूप से कही जा सकती है, यह है कि प्रथम इसके प्रारम्भिक काल में शब्द कौतुकों (वर्ण-कौतुक—एकाक्षरावृत्ति, अनुलोम प्रतिलोम, प्रहेलिका आदि) पर विशेष ध्यान दिया जाता था। अर्थालंकारों का इतना प्राधान्य एवं बाहुल्य-विस्तार न था—उपमा का प्रसार अवश्य अधिक था। मध्यकाल में यह बात ठीक विपरीति सी दीखती है। अर्थालंकारों का मान, स्थान तथा प्राधान्य बढ़ गया और वे भिखारी दास के समय तक बहुत से रूपों-प्रतिरूपों में होकर बढ़ चढ़ गये। यद्यपि ये सब प्रायः प्रथम ही संस्कृत-काव्यालंकार में विकसित होकर आ चुके थे तथापि हमारे कहने का तात्पर्य यहाँ यह है कि जब हिन्दी के मध्यकाल में जनता की अभिरुचि अर्थालंकारों की ओर विशेष झुकी तब आचार्यों को उनका विवेचन संस्कृत के आधार पर विशेष रूप से करना पड़ा और भाषा-काव्य की आवश्यकता देख उन्हें उनको बढ़ाना चढ़ाना भी पड़ा।

प्रथम काल में जिस प्रकार शब्दालंकारों का कुछ मौलिक विकास हुआ है, वैसे ही इस काल में भी अर्थालंकारों के क्षेत्र में कुछ मौलिकोन्नति हुई है।

चित्रालंकार जो शब्दालंकारों के साथ प्रथम बढ़ाया चढ़ाया गया था, अब लुप्तप्राय सा हो चला था।

उसके स्थान पर रस-भावादि सम्बन्धी अलंकार ला बिठाये गये, चित्रालंकारों की भाँति शब्दालंकारों का पूर्ण वहिष्कार नहीं किया गया, हां, उनको गौण स्थान दे दिया गया, वह भी बहुत कुछ सूक्ष्म एवं संकीर्ण रूप में। किन्तु काव्य में बराबर ही इनका समावेश अच्छे रूप में होता रहा।

तृतीय काल या मध्यकाल के अन्तिम वर्षों में फिर कुछ परिवर्तन दीखता है, वह यों कि सभी प्रकार के अलंकारों को साम्य भाव से देखा गया है।

अब आधुनिक काल में, जो प्रायः १९०० या १९१० से वर्तमान समय तक आता है, विशेष रूप से, एक बृहत्परिवर्तन एवं आन्दोलन इस क्षेत्र में होता है। इसका कारण विशेषतया खड़ी बोली, उसके कवि तथा उनकी कवितायें हैं, जिन पर दूसरी भाषा के—जैसे बंगला, अंग्रेज़ी, तथा उर्दू—कवियों और उनकी कविताओं का विशेष प्रभाव पड़ा है। बात यह हो चली है कि अलंकारों की ओर से रुचि उठ सी गई है, और इनका मान-सन्मान का प्राधान्य शिथिल ही नहीं वरन् हीन-क्षीण और नितान्त ही लुप्त सा होगया है। इनका अधिकार खड़ी बोली तथा उसके काव्य पर कुछ भी नहीं समझा गया, तथा इन्हें ब्रजभाषा एवं संस्कृत के लिये ही उचितोपयुक्त तथा आवश्यक जाना माना गया है। इनका स्थान काव्याङ्गों में से एक मुख्य अंग के समान भी नहीं रह गया। यदि ये स्वयमेव काव्य में आ जावें तो भले ही आ जावें, कवि इनकी ओर कुछ भी ध्यान न देगा। ऐसी अवस्था में इनके विकास का बन्द हो जाना कुछ आश्चर्य-जनक नहीं। अब तो इनका पठन-पाठन भी केवल प्राचीन काव्यालंकार-शास्त्र के ज्ञानार्थ ही होता है। केवल

प्राचीन सिद्धान्तों के रूप में ही ये देखे-लेखे जाते हैं, अर्थात् इन पर सिद्धान्त की दृष्टि से ही कुछ मूल्य रक्खा जाता है, व्यावहारिक दृष्टि से तो, इनका सिक्का अब उठ गया, इनका चलन एवं प्रयोग अब नहीं होता, काव्य-शास्त्र की एक ऐतिहासिक वस्तु के रूप में ही इनका परिचयानुभव तथा ज्ञान प्राप्त किया जाता है। वह भी साहित्य के विद्यार्थियों द्वारा ही। इसी लक्ष्य के साथ इन के विषय पर कुछ पुस्तकें (छोटी छोटी) जैसे—अलंकारप्रकाश—(लेखक बा० कन्हैय्या लाल पोद्दार), अलंकार मंजूषा—(लेखक, लाला भगवानदीन), अलंकार प्रबोध, (रामरतन) आदि लिखी गई हैं तथा इनको कुछ ऐसी काव्यालंकार शास्त्र सम्बन्धी (दशाङ्ग काव्य सम्बन्धी) पुस्तकों में जैसे काव्य-कल्पद्रुम (ले०, बा० कन्हैय्या लाल पोद्दार) काव्य प्रभाकर तथा कुछ दो एक अन्य पुस्तकों में काव्यांङ्ग के समान स्थान दिया गया है। यह अवश्य है कि अब भी कुछ कवि ऐसे हैं जो ब्रजभाषा-काव्य के प्रेमी तथा उसी भाषा में कविता लिखने के नेमी हैं, जैसे—बा० जगन्नाथ दास रत्नाकर"—लाला भगवान दीन, पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', पं० राधावल्लभ पांडे 'बन्धु', वचनेशजी, द्विजेशजी और इस ग्रन्थ का यह लेखक भी। ये लोग इनका आदर करते तथा इनका पूर्ववत् प्रधान्य भी मानते हैं। किन्तु इनकी संख्या खड़ी बोली के अलंकारादि-विरोधी नये कवियों की अपेक्षा बहुत न्यून है। हाँ, यह अवश्य है कि उनका मान एवं स्थान आधुनिक खड़ी बोली के नये कवियों की अपेक्षा साहित्यिकक्षेत्र या रंगमंच पर विशेष प्रधान है। इससे यह आशा है कि अभी शीघ्र ही अलंकार-सिद्धान्त का नितान्त लोप न हो सकेगा। इसकी महत्ता-सत्ता अभी रहेगी। हाँ कुछ लोग अब प्राचीन काव्य-पद्धति के सच्चे प्रेमी होकर इसको फिर उठाने तथा बढ़ाने भी लगे हैं, इसलिये आशा है कि कदाचित्

फिर इसमें जान आ जावे, यदि यह बढ़े चढ़ेगा भी नहीं (क्योंकि विरोधी दल बहुत बड़ा और बलवानसा दीखता है) तो शीघ्र ही घटेगा भी नहीं।

एक बात और विशेष उल्लेखनीय है, वह है अलंकार-शास्त्र के अलंकारों की लेखन-शैली। हम यह प्रथम ही दिखा चुके हैं कि संस्कृत में अलंकारों के पूर्वाचार्यों ने परिभाषायें सूत्रों के रूप में दी हैं क्योंकि उस समय मुद्रणयंत्रादि साधन न थे, तथा कागज़ादि सामग्री भी उपयुक्त एवं पर्याप्त रूप से प्राप्त न थी, साथ ही सूत्र थोड़े स्थान में आते एवं स्वल्प ही श्रम से कंठस्थ किये जा सकते और चिरस्थायी होते हैं। माध्यमिक काल में संस्कृत के विद्वानों ने कविता या छंदों का सहारा लिया और परिभाषायें एवं उदाहरण सब कविता या छंदों ही में लिखे। यह प्रणाली एवं शैली व्यापक, सर्वसाधारण और मान्य सी ही हो गई। इसी का अनुकरण हमारी हिन्दी भाषा के आचार्यों ने किया और १६०० तक यही शैली (परिभाषायें सोदाहरण छंदों विशेषतः दोहों में ही देना) प्रचलित रही—तथा १६०० के पश्चात् तक भी कुछ लेखकों ने इसी शैली का अनुसरण किया है—किन्तु समय के प्रभाव से तथा अन्य भाषाओं, जैसे—अंग्रेज़ी आदि, उनके साहित्य एवं उनकी गद्य शैली के प्रभाव से इधर गद्य का विकास-प्रकाश खूब हुआ, उसका प्रचार-प्रसार देशव्यापी होगया—साहित्य में उसी का प्राधान्य मान्य ठहरा। समस्त विषय (काव्य या कविता को छोड़ कर) गद्य में ही लिखे जाने लगे—बस अलंकार शास्त्र भी इसी में लिखा जाने लगा—प्रायः सभी नवीन ग्रन्थ, जैसे—अलंकारप्रकाश एवं काव्यकल्पद्रुम आदि—परिभाषाओं को गद्य में हो लिखते हैं—हाँ उदाहरण अवश्य कविता में (छंदों में) रखते हैं, अब इनमें भी गद्य का व्यवहार हो चला है।

इतना और लिख देना उचित जान पड़ता है कि १७वीं एवं १८वीं शताब्दियों के आचार्यों ने तो अलंकारों की परिभाषायें छंदों में लिखीं है किन्तु टीकाकारों ने (संस्कृत के टीकाकारों) की भाँति उनका स्पष्टीकरण, विवेचन या भावार्थ गद्य में लिखा है। यह बात विशेषतया प्रधानाचार्यों के ही ग्रन्थों के साथ पाई जाती है।

साथ ही एक यह बात और उल्लेखनीय है कि अलंकारों के स्पष्टीकरणार्थ उदाहरणों के देने में दो रीतियों का अनुसरण किया गया है। १—अन्य कवियों की उन छंदों एवं कविताओं को उद्धृत करना जिनमें अमुक अलंकार का प्राधान्य, प्राबल्य एवं बाहुल्य है। (२) लेखक तथा उसके टीकाकार का अपनी ओर से उदाहरणों के छंद रचकर देना, ऐसी दशा में भी दो और मार्ग दिखाई पड़ते हैं:—

१—परिभाषा सूचक छंद तथा उदाहरण के छंद एक ही हों। जैसे—दोनों दोहों, कवित्तों या अन्य छंदों में हों।

२—परिभाषा एवं उदाहरण के छंद पृथक् पृथक् प्रकार के हों। जैसे—परिभाषा तो दोहे में, और उदाहरण कवित्त या सवैया आदि में।

इनमें भी यह और देख लेना चाहिये कि परिभाषा और उदाहरण दोनों एक ही छंद में साथ ही साथ रक्खे गये हैं, जैसे—भाषाभूषण में, या दोनों पृथक् पृथक् दिये गये हैं। जैसे—ललितललाम एवं शिवराजभूषणादि में।

इस सूक्ष्म लेख से हिन्दी-अलंकार शास्त्र के इतिहास का पर्याप्त परिचय प्राप्त हो गया होगा, अतः अब हम आगे अलंकारों के विकास पर विचार करते हैं।

अलंकारों की संख्या एवं विकास

(हिन्दी आचार्यों के द्वारा)

हिन्दी अलंकार शास्त्र के सब से प्रथम, प्राचीन लेखक जिनका ग्रन्थ इस समय तक हमें प्राप्य है—महाकवि केशवदास जी हैं। आप आचार्य माने जाते हैं और वस्तुतः आप इस प्रतिष्ठित उपाधि के पूर्णतया अधिकारी भी हैं।

आपने " कविप्रिया " नामी ग्रंथ लिखा है. यह ग्रंथ फाल्गुन के शुक्ल पक्ष के बुधवार सं० १६५८ वि० में समाप्त हुआ था।* हम यह लिख चुके हैं कि आपने इस ग्रन्थ के लिखने में संस्कृत के ग्रन्थों से (पं० केशवमिश्र तथा अन्य आचार्यों के ग्रन्थों से भी) सहायता ली हैं तौ भी आपने इसमें अपनी मौलिकता की स्पष्ट छाप लगा दी है।

हिन्दी-साहित्य में (काव्य-कला एवं अलंकारशास्त्र में) आपका क्या स्थान है, इस विषय पर हमें यहाँ इसके सिवा और कुछ नहीं कहना कि आप कवियों में सूरदास तथा तुलसी दास के पश्चात् तृतीय कोटि में और काव्य-गगन में जगमगाते हुये नक्षत्र के समान माने जाते हैं। अलंकार शास्त्र के आचार्य, काव्य-कला के पंडित, छंदशास्त्र के मर्मज्ञ, चित्रकाव्य के कुशल चित्रकार, पदवाक्यप्रमाणज्ञ, तथा भाषा के सिद्ध हस्त विरंचि कहे जाते हैं।

---

* केशव मिश्र के आधार पर यह ग्रंथ लिखा हुआ जान पड़ता है !

आपने, जैसा हम प्रथम दिखा चुके हैं, अपनी कविप्रिया में अलंकारों को दो मुख्य विभागों—१—सामान्य एवं २—विशिष्ट, में विभक्त कर प्रथम में १—वर्ण (रंग) २—वर्ण्य (वर्णनीय विषय) ३—भू (वर्णनीय स्थान, प्रदेशादि) ४—राजश्री (राजा सम्बन्धी बातों एवं विषयों) की विस्तृत विवेचना की है, और दूसरे में ३५ अलंकारों का मार्मिक विवेचन किया है, (इन अलंकारों के उपभेद इस संख्या में नहीं गने गये) इनमें ५ अलंकार नये अलंकार हैं—१. गिनती (जो केशव मिश्र के आधार पर है ?) २—आशिष (जो उद्भट और भामा के आधार पर है) ३—प्रेम ४—सुसिद्ध ५— असिद्ध । प्रथम दो तो संस्कृत के आचार्य भामा तथा केशव मिश्र के आधार पर हैं अवश्य, परन्तु हिन्दी अलंकार शास्त्र के लिये ये नितान्त नये हैं क्योंकि इनको किसी भी आचार्य ने नहीं दिया, शेष तीन तो नितान्त ही नवीन हैं। साथ ही आपने आक्षेप,उक्ति, उपमा, रूपक और दीपक के कुछ ऐसे भेद भी दिये हैं जो हिन्दी-अलंकार तथा कदाचित् संस्कृतालंकार शास्त्र के लिये भी नवीन हैं। इससे यह स्पष्ट है कि आप वस्तुतः एक प्रधान आचार्य ही नहीं आविष्कारक भी थे।

ध्यान देने की बात है कि जिस प्रकार सं० अ० शास्त्र ऐसी ही छोटी संख्या से प्रारम्भ होता है वैसे ही हिन्दी-अलंकार शास्त्र भी। केशव का वर्गीकरण तो विचित्र एवं अद्वितीय ही है। आपके इस वर्गीकरण से यह स्पष्ट है कि आपने अलंकार शब्द को दो अर्थों में लिया है—(१) वह, जिससे काव्य में शोभा तथा श्री की वृद्धि हो और व्यापक रूप से उसमें प्रतिभा की आभा आलोकित हो (२) वे काव्यालंकार जो शारीरिक आभूषणों के समान काव्य-शरीर (जो शब्द, अर्थ, तथा भाषा से बना हुआ माना गया है) को सजा कर चमत्कृत करदें।

प्रथम अर्थ के अनुसार अलंकारों के अन्तर्गत वे सब बातें आ जाती हैं जिन से काव्य स्वतः रोचक हो सकता है और जिनका सम्बन्ध काव्य-विषय (वर्णनीय विषय) या काव्य-सामग्री से है—इन अलंकारों का भी ध्यान रखना कवि के लिये आवश्यक है—क्योंकि काव्य-विषय या सामग्री ही यदि अच्छी एवं रोचक न होगी तो काव्य-शरीर कैसे अच्छा बन सकेगा और शरीर के अच्छे न होने पर, उसमें स्वाभाविक सौंदर्य न होने पर, उस पर सजाये हुये अलंकार (आभूषण) भी शोभा न पा सकेंगे तथा उसे सुन्दर न कर सकेंगे।

यदि विषय ही अच्छा नहीं तो उसका वर्णन कैसे अच्छा हो सकता है, यह बात स्पष्ट है। यह अवश्य है कि एक कला-कुशल कवि अपनी प्रतिभा एवं चातुरी से एक बार किसी अरोचक विषय में भी रोचक सौंदर्य तथा कला-कान्ति का कौशल दिखा सकता है, परन्तु वह उतना विशेष मनोरञ्जक, आनन्दप्रद सौंदर्य-पूर्ण न होगा, जितना एक अच्छे विषय का सालंकृत वर्णन—क्योंकि उसमें दूना सौंदर्य रहेगा—एक तो विषय का दूसरे कला या अलंकारों का।

इसी विचार से केशव ने ऐसा विभाग दिया है। यहाँ यह भी ध्यान में रखने की बात है कि केशव ने शब्द, और अर्थ के आधार पर वर्गीकरण नहीं दिया, यद्यपि दोनों ही प्रकार के मुख्य मुख्य अलंकार उन्होंने दिये हैं।

यमक तथा चित्र का आपने पृथक् पृथक् दो अध्यायों में विशद विवेचन किया है और आप के बराबर हिन्दी के किसी भी दूसरे आचार्य ने इनका वर्णन तथा इनके भेदोपभेदों की विवेचनात्मक व्याख्या नहीं दी। इससे स्पष्ट है कि आप शब्दालंकारों के अधिक प्रेमी थे। आपने अनुप्रास का विवेचन नहीं किया, साथ

ही पुनरुक्तवदाभासादि को छोड़ ही दिया है। चित्र-काव्य या चित्रालंकार का भी वर्णन एक स्वतंत्र अध्याय में किया है, इससे स्पष्ट है कि आप इसके भी कुशल-कलाकार तथा प्रेमी मर्मज्ञ थे।

दूसरे प्रधान अलंकार-लेखक एवं आचार्य राजा जसवन्तसिंह हैं। आपने चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द के ही आधार पर "भाषाभूषण" नामी एक प्रतिष्ठित तथा प्रामाणिक ग्रन्थ लिखा है। इसमें दूसरे संस्कृत-ग्रन्थों से भी सहायता ली है।

रस, भाव, ध्वनि एवं लक्षणा-व्यंजनादि के सिद्धान्तों का प्रथम संक्षेप में उल्लेख देकर अलंकारों को अर्थ एवं शब्द के आधार पर उठाया है और कुल १०३ अलंकारों की विवेचना दोहों में की है। दोहों के पूर्व चरणों में परिभाषायें तथा उत्तर चरणों में उनके उदाहरण उसी शैली एवं क्रम से दिये गये हैं जिस में चन्द्रालोक एवं कुवलयानन्द में वे दिये गये हैं।

इन १०३ अलंकारों में २ शब्दालंकार, १ यमक तथा इनके भेदोपभेद नहीं दिये—हाँ, ३ अनुप्रास —छेक, लाटानुप्रास, वृत्यनुप्रास दिये हैं। अन्त में आपने कहा है कि ये शब्द और अर्थ सम्बन्धी अलंकार १०८ हैं, शब्दालंकार बहुत प्रकार के हैं किन्तु भाषा के योग्य केवल छः ही हैं, किन्तु हमें मुद्रित भाषाभूषण में ऐसा नहीं मिलता।

यहाँ यह देख लेना चाहिये कि ध्वनि एवं व्यंग्य सम्बन्धी अलंकार प्रौढोक्ति तो दिया गया है, किन्तु रस एवं भाव सम्बन्धी अलंकार छोड़ दिये गये हैं। पुनरुक्तवदाभास, श्लेष (केवल अर्थगत) तथा वक्रोक्ति (केवल अर्थगत) के शब्द सम्बन्धी रूप नहीं दिये गये, प्रथम को तो बिलकुल ही छोड़ दिया गया है। यही कुछ बातें इनके सम्बन्ध में स्मरणीय हैं, वैसे तो इस ग्रन्थ में कोई विशेष मौलिकता नहीं है।

मतिराम ने कुल ६७ अलंकारों (उपभेदों को छोड़ कर) का वर्णन अपने ललितललाम में किया है। जैसा कहा गया है, उन्होंने रस, भाव, ध्वनि, न्यायादि सम्बन्धी अलंकार छोड़ दिये हैं। उनकी पुस्तक के टीकाकार गुलाब कवि ने १५ अलंकार (रस-भावादि सम्बन्धी) पृथक् से जोड़ दिये हैं। मतिराम जी ने जो नये अलंकार दिये हैं उन्हें हम अलंकार-विकास में दे चुके ही हैं।

भूषण त्रिपाठी ने कुल ६५ अलंकार दिये हैं (उपभेदों को छोड़कर) किन्तु आपने अपनी अलंकार-उपक्रमणिका में, जो छंद बद्ध है—१०५ या १०६ अलंकार कहे हैं (?)* ज्ञात होता है कि आपने इस तालिका में उपभेदों में से कुछ को प्रधान अलंकारों के रूप में मान कर गिन लिया है।

आपने मौलिकतार्थ नामों में ही कुछ थोड़ा हेरफेर किया है, शेष सब बातें संस्कृत के ग्रन्थों पर ही आधारित रक्खी हैं।

देवजी ने केवल ३६ मुख्य-अलंकार दिये हैं, अन्य सभी अलंकारों को इन्हीं में से किसी न किसी के भेद कहे हैं। रस, भाव सम्बन्धी सभी अलंकार लेकर आपने यह दिखा दिया है कि आप अलंकारों को काव्य में कुछ विशेष स्थान नहीं देते, तथा उन्हें रसभावादि के परिपोषक अंग ही जानते मानते हैं। आप इस प्रकार रससिद्धान्तानुयायी ही जान पड़ते हैं।

भिखारीदास ने अलंकारों की संख्या खूब बढ़ा दी है, कुल १०३ अलंकार आपने दिये हैं. इन में रस, भाव, ध्वनि, व्यंग्य, न्यायादि सम्बन्धी सभी अलंकार सम्मिलित हैं।

आपने चित्र और तुक का विवेचन पृथक् दिया है, और दिया है बहुत विस्तृत एवं वैज्ञानिक ढंग से। अलंकारों की संख्या

* देखिये मिश्र बन्धुओं की शिवराज-भूषण या भूषण-ग्रन्थावली।

आपने १०८ बताई है (८६ अर्थालंकार ८ काव्यालंकार, ५ शब्दालंकार—१२ प्रकार के अनुप्रास, चित्र २१ वातादि सम्बन्धी) किन्तु यह ठीक नहीं मिलती।

यह अवश्य है कि आप के द्वारा हिन्दी-अलंकार शास्त्र का अच्छा विकास हो गया है। कदाचित् किसी भी अन्य लेखक ने इतना विकास नहीं दिखलाया। आप ही प्रथम आचार्य थे जिन्होंने तुक का वैज्ञानिक एवं सुव्यवस्थित विवेचन सब से प्रथम दिया है, जिसका अनुकरण अब 'भानु' आदि लेखकों ने किया है। शब्दालंकारों में भी आप के कारण अच्छा विकास हुआ है, कई एक नये भेद आगये हैं जैसे—पुनरुक्तप्रकाश, वीप्सा, सिंहावलोकनादि।

लछिराम ने आपका पूर्ण अनुकरण अपने ग्रन्थ रावणेश्वर-कल्पतरु में किया है, और सब प्रकार के प्रायः सभी अलंकार दिये हैं। साथ ही दो अर्थालंकारों को मिला कर एक नये अलंकार के बनाने की प्रणाली भी निकाली है, जिसका अनुकरण एवं प्रचार-प्रसार विशेष रूप से नहीं हो सका। यही बात कुछ न्यूनाधिक रूप में दूलह ने भी की है। शेष सभी लेखकों ने केवल अर्थालंकारों का ही वर्णन किया है—वह भी प्रायः उतना ही जितना कुवलयानंद में प्राप्त होता है।

लछिराम ने कुल ११३ अलंकार दिये हैं (इनमें उपभेद नहीं गिने गये) इनमें सभी प्रकार के अलंकार आ गये हैं। शब्दालंकार इनमें केवल २ हैं, (१) अनुप्रास (छेक, वृत्यनु०) (२) चित्र। शेष सब छोड़ दिये गये हैं। चेत चंद्रिका में १०० और पद्माभरण, कंठाभरण, अलंकार-दर्पण तथा कर्णाभरण में १०० (या १०२) अलंकार दिये गये हैं। लेकिन इन सबों ने शब्दालंकार छोड़ दिये हैं (दूलह के कंठाभरण को छोड़ कर, जैसा प्रथम कहा जा चुका है)

दूलह ने ७ अलंकार रस, भावादि सम्बन्धी और भी दिये और सबों ने इन्हें भी छोड़ दिये हैं।

अब इससे स्पष्ट है कि लछिराम ने सब से अधिक अलंकार दिये हैं, तथा उनके समय तक पर्याप्त क्या अधिक विकास हिन्दी काव्यालंकार शास्त्र का हो चुका था।

आधुनिक लेखकों को हम बहुत आवश्यक न समझ कर (क्योंकि वे प्रायः सर्वथा इन्हीं लोगों तथा संस्कृत लेखकों पर आधारित हैं) छोड़ रहे हैं, उनके द्वारा कुछ विशेष विकास भी इस विषय में नहीं किया गया।

अलंकारों की सविकास वृद्धि
(संस्कृत में)
अलंकारों की संख्या में वृद्धि होने पर ऐतिहासिक दृष्टि

काव्य-शास्त्र का सब से प्राचीन ग्रन्थ जो अब तक प्राप्य है श्री भरत मुनि का "नाट्यशास्त्र" है—इसमें हमें सबसे प्रथम ४ ही अलंकार प्राप्त होते हैं—(१) उपमा, (२) रूपक, (३) दीपक (४) यमक (अनुप्रास), जिसे मुनि महाराज शब्दाभ्यास कहते हैं।

इनमें से मुनि जी उपमा के ६ भेद और यमक के १० भेद दिखलाते हैं—रूपक और दीपक के भेद एक भी नहीं देते। इससे ज्ञात होता है कि उनके समय में उपमा और यमक का विकास हो गया। था और इस प्रकार विकास या वृद्धि का सूत्रपात हो चुका था।

इससे यह भी स्पष्ट है कि भरत के समय में उपमा (अर्थालंकार) और यमक (शब्दालंकार) पर विशेष बल दिया जाता था तथा इनकी विशद विवेचना के साथ इनका विकास हो गया था। यद्यपि शब्द और अर्थ के आधार पर वर्गीकरण नहीं हुआ था तौ भी दोनों पर अलग अलग ज़ोर दिया जाता था। शब्दाभ्यास शब्द यह स्पष्ट करता है कि उस समय शब्द-कौतुक या शाब्दिक-चमत्कार का कुतूहल काव्य-कला के कौशल का एक मुख्य अंग था।

भरत के पश्चात् अलंकारशास्त्र के दूसरे प्रधान आचार्य भामा हैं। भामा का ग्रन्थ "काव्यालंकार के नाम से मिलता है, कहना चाहिये कि अलंकार-सिद्धान्त के प्रथम आचार्य भामा ही हैं। भरत और भामा के बीच में भी कई आचार्य हुये थे किन्तु उनके ग्रन्थ अब प्राप्य नहीं, उनमें से मेधावी का उल्लेख भामा ने स्पष्ट दिया है। इस काल में अलंकारों की वृद्धि अवश्य हुई थी, इसी से भामा के समय में आकर हमें दो विभागों में अलंकारों का वर्गीकरण मिलता है—

(१) शब्दालंकार—यमक और अनुप्रास

(२) अभिधेयालंकार (अर्थालंकार)

यद्यपि भामा ने इसी क्रम से अलंकार को नहीं रक्खा, वरन् ५ पाँच अलंकारों का एक एक वर्ग बनाकर अन्त में २४ अलंकार साथ ही ले लिये हैं, तौ भी उक्त वर्गीकरण की सूचना वे अवश्य देते हैं। जान पड़ता है कि शब्द और अर्थ सम्बन्धी वर्गीकरण भामा की इस काव्य-परिभाषा के ही "शब्दार्थौ सहितं काव्यम्" कारण हुआ है।

भामा के समय तक में कुछ नये अलंकारों की कल्पना भी हो चुकी थी, क्योंकि उन्होंने अपने ग्रंथ में उन्हें रक्खा है।

उपमा, रूपक, दीपक, यमक और अनुप्रास से प्रारम्भ करके भामा ने दिखलाया है कि भरत के ४ अलंकारों के आगे और अलंकारों की भी सृष्टि हो गई थी—उन्होंने अनुप्रास (जिसे वह वर्णाभ्यास कहते हैं) को यमक से (जिसे वे पदाभ्यास कहते हैं) पृथक् लिया है, किन्तु भरत ने दोनों को साथ ही लेकर शब्दाभ्यास के ही अन्तर्गत रखा है।

६ नये अलंकार—१—आक्षेप, २—अर्थान्तरन्यास ३—व्यतिरेक ४—विभावना ५—समासोक्ति ६—अतिशयोक्ति और कल्पित हो गये थे, ये भरत के ग्रन्थ में नहीं पाये जाते।

ऐसा ज्ञात होता है कि भरत के पश्चात् अलंकार-सिद्धान्त में बहुत बल आ गया था और इसका प्रचार भी ख़ूब हो गया था, जिसके कारण अलंकारों में तो समृद्धि-वृद्धि हो रही थी और नाटकीय रस-सिद्धान्त तथा नाट्यशास्त्र में शिथिलता आ चली थी। यह भी सम्भव है कि भामा के सभी अलंकार भरत के समय में भी रहे हों, किन्तु भरत ने उनमें से चार अलंकार ही जो नाटक में आवश्यकोपयुक्त थे, लिये हों—किन्तु विषय-संदिग्ध ही है। विद्वानों का यह मत है कि भरत के पश्चात् अलंकार-सिद्धान्त तथा काव्य-शास्त्र का विकास अवश्य ही हुआ है और विकास-बाद के मतानुसार अलंकार-शास्त्र सरलता, सूक्ष्मता से जटिलता और विस्तृतता की ओर चला है।

यमक और अनुप्रास के भेद (भामा से)

अनुप्रास

१—एक या अधिक वर्णों की स्वर के साथ या बिना स्वर के आवृत्ति।
२—अर्थविचार भी इसमें आवश्यक है।

यमक

१—सस्वर वर्णों की आवृत्ति एक ही क्रम और संख्या में हो।
२—आवृत्त वर्णसार्थक, निरर्थक, एवं समानार्थक कुछ भी हों।

भरत मुनि :—

अलंकार
१ उपमा
२ रूपक
३ दीपक
४ यमक
Objective View
एक उपमेय और एक उपमान (शुद्धोपमा)
एक उपमेय और बहुत उपमान (उपमानमाला)
एक उपमान तथा बहुत उपमेय (उपमेय माला)
बहुत उपमेय और बहुत उपमान (माला)
१० भेद—कुछ के नाम व लक्षणादि वही बने रहे और कुछ के बदल गये हैं।
Comparative View
प्रशंसोपमा
निन्दोपमा (एक प्रकार का प्रतीप)
कल्पितोपमा
सदृशी
किंचित्सदृशी या असदृशी
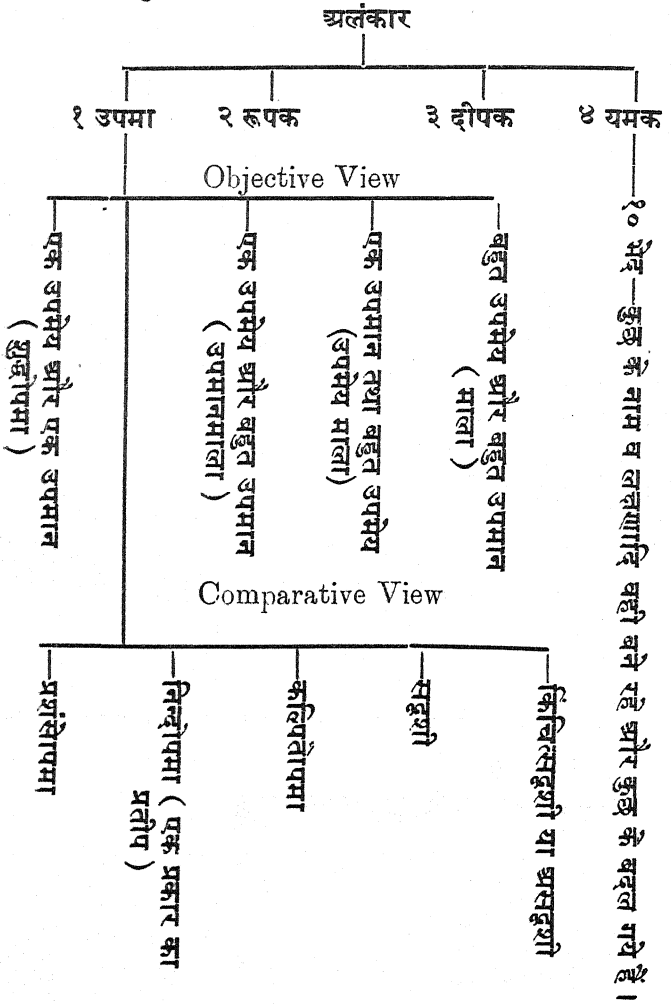
इसके पश्चात् दंडी के समय तक अलंकारों में थोड़ी सी और वृद्धि हुई, लगभग चार और नये अलंकार उत्पन्न होगये—१—वार्ता (भामा में तो नहीं, किन्तु दंडी में है)। २—यथासंख्य,* ३—उत्प्रेक्षा, ४—स्वभावोक्ति (जाति)।

दंडी के समय तक स्वभावोक्तिका रूप स्थिर हो गया था और इसी को सब अलंकारों का मूलाधार माना जाने लगाथा, जैसा इसके दूसरे नाम आद्यालंकार से ज्ञात होता है।

भामा ने इसे स्वीकार नहीं किया, कदाचित् इसलिये कि उसने वक्रोक्ति-सिद्धान्त को (वैचित्र्य या विच्छित्ति) ही अलंकारों का सार माना है। इसीलिये उसने, १—हेतु, २—सूक्ष्म और ३—लेश को भी अलंकार नहीं माना । यद्यपि ये अलंकार उसके समय में भी थे, क्योंक भट्टीकाव्यकार ने इन पर प्रकाश डाला है।

भामा ने कुल ३६ अलंकारों का वर्णन किया है, इससे पूर्णतया स्पष्ट है कि उसके पूर्व ही अलंकारों में पर्याप्त विकास हो गया

---

*मेधावी इसे संख्यान की संज्ञा देते हैं—ऐसा भामा ने कहा है।

भामा के काव्यालंकार में अलंकार ३६ ही हैं। देखो परिशिष्ट

१—स्वभावोक्ति, २—हेतु, ३—सूक्ष्म, ४—लेश, ५—वार्ता को छोड़ कर भामा ने अन्य सभी मुख्य अलंकार दिये हैं—

दंडी के काव्यादर्श में भी कुल अलंकार ३६ ही हैं।

प्रथम परिच्छेद। १—अनुप्रास।

द्वितीय ,, मुख्य मुख्य ३५ अर्थालंकार। देखो परिशिष्ट

तृतीय ,, १—यमक, २—चित्रबंध, (१—गोमूत्रिका, २—अर्धभ्रम, ३—सर्वतोभद्र, ४—स्वरस्थान, ५—वर्णनियम) ४—प्रहेलिका—(१६ भेद)।

था, इस पर भी भामा ने ४ या ५ अलंकारों को अलंकार ही नहीं माना और उन्हें छोड़ दिया है, नहीं तो संख्या ४३ या ४४ तक पहुँची होती।

भामा से पश्चात् दंडी ने ६वीं शताब्दी में काव्यादर्श नामी काव्यशास्त्र का एक ग्रन्थ रचा ; इसमें उसने पहले परिच्छेद में अनुप्रास, दूसरे में ३५ अलंकार (अर्थालंकार), तीसरे में यमक, चित्र वंध और प्रहेलिकादि के वर्णन सविस्तार दिये हैं।

दोनों की सूची स्पष्टतः कहती है कि भामा के छोड़े हुये सभी अलंकारों को दंडी ने स्वीकार किया है तथा निम्न अलंकार छोड़ दिये हैं—(प्रतिवस्तूपमा, व्याजस्तुति, —इसके स्थान पर व्याजोक्ति दिया है, उपमा रूपक, उपमेयोपमा, ससंदेह, अनन्वय उत्प्रेक्षावयव और संसृष्टि)।

साथ ही कुछ नये अलंकार भी दिये हैं—यथा आवृत्ति, और संकीर्ण।

इनके अतिरिक्त उसने चित्रवंध और प्रहेलिका को भी अलंकार के भेद स्वीकार किये हैं तथा उनकी विवेचना भी की है, साथ ही कुछ अलंकारों के नाम भी बदल दिये हैं—जैसे लेश के लिये लव, अप्रस्तुतप्रशंसा से लिये अप्रस्तुतस्तोत्र।

इससे स्पष्ट है कि इस समय में अर्थालंकारों और शब्दालंकारों का प्राबल्य कुछ कम रहा, हाँ वर्ण-कौतुक या चित्रालंकार की ओर अभिरुचि अवश्य बढ़ी हुई थी।

चित्रालंकार तथा प्रहेलिका का वर्णन न तो भामा में और न न भरत ही में मिलता है। यह भी स्पष्ट है कि इस समय तक वर्गीकरण भी स्पष्ट और नियमित या निश्चित न था।

लगभग ९वीं शताब्दी (८०० ई० के इधर उधर) में हम तीसरे आचार्य को पाते हैं—वह हैं उद्भट—

उद्भट ने केवल ४१ अलंकार दिये हैं और उन्हें ५ वर्गों में में विभक्त किया है किन्तु यह स्पष्ट नहीं कहा कि किस नियम का अनुसरण उन्होंने ऐसा करने में किया है।

भामा के कुछ अलंकारों को छोड़ कर—जैसे यमक, आशीः, उत्प्रेक्षावयव, उपमारूपक,—शेष सबको लेते हुये आपने कुछ नये अलंकार भी दिये हैं:—१—काव्यलिंग, २—दृष्टान्त, ३—संकर, ४—पुनरुक्तवदाभास। साथ ही छोड़े हुये (भामा द्वारा, किन्तु दंडी से लिये गये) अलंकारों को भी—स्वभावोक्ति—ले लिया है, किन्तु भामा के समान हेतु, सूक्ष्म, लेश, वार्ता नामी अलंकारों को छोड़ भी दिया है। इससे स्पष्ट है कि यह भामा के विशेष अनुयायी हैं। इनके समय तक उपर्युक्त काव्यलिंगादि ४ अलंकार नये रूप से आ गये थे और उन्हें अलंकारशास्त्र में स्थान भी प्राप्त हो गया था। "अर्थ भेदेन तावच्छब्दा भिद्यन्ते" के अनुसार आपने शब्द और अर्थ के भेद से श्लेष के दो भिन्न रूप दिखला कर दोनों को अर्थालंकार में ही रख दिया है।

आप श्लेष को सभी अलंकार से, जो उसके साथ पड़ जाते हैं, प्रबलतर मानते हैं और उसी का प्रधानत्व दिखाते हैं।

उपमा के भेद प्रभेद व्याकरण के नियमानुसार आपही के द्वारा सर्वप्रथम समुत्पादित प्रतीत होते हैं, इनकी विशद विवेचना मम्मटादि ने पश्चात् में की है—(और हमारे हिन्दी के आचार्यों ने इन्हें भाषा में लागू न होते देख छोड़ दिया है)—गुणों और अलंकारों को ये साम्य-दृष्टि से देखते तथा अलंकारों को ही काव्य में प्रधानता देते हैं। *

* उद्भट की अलंकार-सूची देखो परिशिष्ट में।

इनके पश्चात् वामन जी आते हैं। आपने उद्भट के विरोध में गुणों और अलंकारों को साम्य न देकर पृथक् ही पृथक् माना है, और १० गुणों को भी शब्द और अर्थ के भेद से विभक्त किया है, आप उद्भट के समकालीन थे, ऐसा विद्वानों का मत है। आपने कुल ३३ अलंकारों का विवेचन किया है, और पर्यायोक्ति, प्रेयः रसवत, ऊर्जस्वि, उदात्त, भाविक और सूक्ष्म अलंकारों को छोड़ दिया है। भामा के यमक, उपमारूपक उत्प्रेक्षावयव (उत्प्रेक्षा के स्थानापन्न रूप में दिया है) ले लिये हैं (जिन्हें उद्भट और दंडी ने छोड़ दिया है), वक्रोक्ति को स्पष्ट रूप से दिया है, इसे किसी ने भी तब तक अलंकार के रूप में न लिया था। यथासंख्य के स्थान पर आपने क्रम नाम रक्खा है।

आपने दंडी के संकीर्ण, आवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म, और लेश को भामा के समान छोड़ दिया है और आशीः को भी नहीं रक्खा। आप रीति-सिद्धान्त के प्रधान प्रवर्तक हैं और रीति ही को काव्य की आत्मा मानते हैं ("रीतिरात्मा काव्यस्य"—"विशिष्टा पद रचना रीतिः, विशेषोगुणात्मा, आदि)

" उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणाम् प्रायशः साम्यमेव सूचितम्।
तदेव अलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्—

—अलंकार सर्वस्वे।

उद्भट के अलंकार सार संग्रह में तो ४१ अलंकार हैं किन्तु वामन के अलंकार सूत्र में ३३ अलंकार हैं। देखो परिशिष्ट

चतुर्थ अधिकरण— १—यमक, २—अनुप्रास, ३—उपमा और औपम्य मूलक अन्य अलंकार।

द्वादशाध्यायः—भामा के छठवें प्रकरण के ही समान है—उसके शेष सभी अलंकार इसमें भी दिये हैं

अलंकारों को आप गुणों के अतिशयोत्कर्षकारक मानते हैं— "काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मागुणाः, तदतिशय हेतवस्तु अलंकाराः"।

रुद्रट—९वीं शताब्दी में (लगभग ८०० या ८५० ई० में) हुये हैं। आपने 'काव्यालंकार' नामी काव्य शास्त्र का एक प्रधान ग्रन्थ रचा है। इसके दूसरे अध्याय में ५ शब्दालंकारों की विवेचना की है। तीसरे और चौथे अध्यायों में क्रम से यमक और ८ प्रकार के श्लेष की व्याख्या है। पंचम अध्याय में चित्रकाव्य या चित्रालंकार की गवेषणा करते हैं। इसके उपरान्त आप अर्थालंकारों का वर्णन देते हैं।

७वें अध्याय में, आपने अर्थालंकारों के ४ मुख्य सिद्धान्त दिये हैं—(१) वास्तव, (२) औपम्य, (३) अतिशय, (४) श्लेष, और इन्हीं के आधार पर अर्थालंकारों का वर्गीकरण करके प्रथम में २३ अलंकार, द्वितीय में २१ अलंकार (८वें अध्याय में) तृतीय में १२ अलंकार (९वें अध्याय में) और चतुर्थ के अन्तर्गत १० प्रकार के शुद्ध श्लेष और दो प्रकार के संकरों का विवेचन किया है। इस प्रकार कुल ६८ अर्थालंकार* आप देते हैं, अथवा शब्द और अर्थ के कुल ७३ अलंकार आप उठाते हैं।

आप ही सबसे प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने वैज्ञानिक वर्गीकरण के सिद्धान्तों या मूल नियमों की उत्पत्ति की है, किन्तु इस वर्गीकरण में कतिपय अलंकार ऐसे हैं जो दो दो वर्गों में आ जाते हैं—जैसे सहोक्ति और समुच्चय प्रथम वास्तव में फिर औपम्य में भी, और उत्प्रेक्षा प्रथम औपम्य में, फिर अतिशय में भी आये हैं।

---

*रुद्रट के काव्यालंकार में कुल ६८ ही अलंकार हैं। देखिये परिशिष्ट

उपमेयोपमा और अनन्वयादि अलंकारों को स्वतंत्र अलंकार के रूप में, भामा और उद्भट के समान न मान कर आप उपमा के उपभेदों के रूप में मानते हैं।

कुछ अलंकारों के नामों में भी आपने परिवर्तन कर दिया है, जैसे व्याजस्तुति को व्याज श्लेष, द्वितीय उदात्त को अवसर, स्वभावोक्ति को जाति और चतुर्थ अतिशय को आप पूर्व कहते हैं।

आपके कुछ अलंकार दूसरों के द्वारा अलंकार ही नहीं माने गये—जैसे भाव, मत, साम्य, और पिहितादि।

पर्याय और भाव (प्रेय) में आप ध्वनि का समावेश करते हैं, यद्यपि आप ध्वनि के विषय में मैानवृत्ति ही रखते हैं।

गुण और रीति को आप कुछ भी महत्व नहीं देते, आपके मतानुसार रीति, वर्ण-विन्यास के नियमों से नियंत्रित शब्द-संगठन तथा समास-प्रयोग के क्षेत्रान्तर्गत है, वृत्तियों को भी आप समासाधारित मानते हैं और उन्हें " समासवती वृत्तियः " के नाम से पुकारते हैं।

आपने उद्भट के ४१ अलंकारों के साथ अपने ३० अलंकार और जोड़कर कुल ६८ अलंकार दिये हैं—(इनमें हम उपभेदों को नहीं ले रहे, नहीं तो संख्या और अधिक हो जायेगी)।

आपके कतिपय अलंकारों में परिवर्त्तन और परिमार्जन पश्चात् के आचार्यों के द्वारा किया गया है तथा कुछ अलंकार छोड़ भी दिये गये हैं।

इससे स्पष्ट है कि रुद्रट के समय तक अलंकारों में पर्याप्त वृद्धि एवं विकास हो गया था।

रुद्रट के पश्चात केवल सैद्धान्तिक वाद-विवाद का समय आ गया और आचार्य लोग अपने अपने सिद्धान्तों को पुष्ट तथा प्रतिपादित करने में विशेष रूप से लग गये। आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि-सिद्धान्त को उठा कर उसी को प्रधानता देते हुये काव्या शास्त्र तथा अलंकार शास्त्र के क्षेत्रों में नवीन तथा गहरा आन्दोलन उपस्थित कर दिया—अपने "ध्वन्यालोक" ग्रन्थ से वस्तुतः एक प्रकार का विशेषालोक लोक में छा दिया। इससे अलंकार सिद्धान्त को कुछ फीका पड़ जाना पड़ा, तथा भामोद्भटादि के मतों को दब जाना पड़ा।

"वक्रोक्ति जीवितकार" कुंतल ने भामा के प्राचीन "वक्रोक्ति वाद" को पुनर्जीवन प्रदान किया और अलंकार-सिद्धान्त को उससे पुष्टता दी, साथ ही ध्वनि-सिद्धान्त को बहुत अंश में वक्रोक्ति के ही अन्दर खींच कर दबा सा दिया। अलंकारों को वक्रोक्ति (विचार या भाव प्रकाश की विचित्र तथा आकर्षानन्दप्रदायिनी साधारण रीति से विलक्षणता एवं विशेष चमत्कार रखने वाली कवि की सुन्दर शैली को कहते हैं) के आधार पर समाधारित कर काव्य में उसकी ही प्रधानता दिखाई है।

रसवत, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित और उदात्त अलंकार का पूर्ण वहिष्करण कर अन्य अलंकारों का विवेचन आपने अपने ही सिद्धान्त के अनुसार किया है। आपने उन सब अलंकारों को भी छोड़ दिया है जो वक्रोक्ति से सम्बन्ध नहीं रखते। इसीलिये आपने बहुत ही कम अलंकार (लगभग २६) ही दिये हैं।

यह सब विवाद १०३० ई० के लगभग तक चलता रहा। इस समय भोजराज ने अलंकारों का एक वृहत्संग्रह "सरस्वती कंठाभरण" के नाम से ला उपस्थित किया। आपने दूसरे परिच्छेद में २४ शब्दालंकार और तीसरे में २४ अर्थालंकार तथा चौथे में २४

शब्दार्थालंकार या उभयालंकार दिये हैं । उपमा, आक्षेप, अपन्हुति तथा रूपकादि को उभयालंकार मानने से आपका सिद्धान्त अद्वितीय है, किसी ने भी इन्हें शब्दार्थालंकार नहीं माना । रीतियों को आप शब्दालंकारों में ही लेते हैं। आप ही ने सब से प्रथम महर्षि जैमिनि के ६ प्रमाणों को अलंकारों के अन्तर्गत रक्खा हैं।

उभयालंकारों का विचार आपने अग्निपुराण से लिया है, ऐसा प्रतीत होता है । आपने कुल ७२ अलंकार दिये हैं । आप का यह संग्रह बहुत बृहत तो है परन्तु सर्व मान्य नहीं है ।

१२ हवीं शताब्दी में हमें रुय्यक का अलंकार सर्वस्व मिलता है, जिसे एक प्रमाणित ग्रन्थ माना गया है । रुय्यक जी ध्वनि-सिद्धान्त के कट्टर अनुयायी हैं।

भामा, उद्भट, रुद्रट और वामन के मतों का सूक्ष्म रूप से प्रदर्शन कराते हुये ही आप चलते हैं। ४ प्रकार के शब्दालंकार (यमक, अनुप्रास, पुनरुक्तवदाभास तथा चित्र) देकर आप उपमा से प्रारम्भ कर ७५ अर्थालंकारों का विवेचन करते हैं। आपने मम्मट के दिये हुये अलंकारों में रस-भाव सम्बन्धी अलंकार और जोड़ दिये हैं, साथ ही आपने २ अलंकार नितान्त ही नवीन दिये हैं—(१) विकल्प (२) विचित्र । आपके ग्रन्थ का अनुसरण साहित्यदर्पण, एकावली, कुवलयानन्द आदि पश्चात के प्रायः सभी ग्रन्थ करते हैं ।

१३ वीं शताब्दी के प्रारम्भ तथा १२ वीं के अन्तिम काल में वाग्भट्ट जी का वाग्भटालंकार नामी ग्रन्थ मिलता है । इसके चतुर्थ परिच्छेद में ४ शब्दालंकार—चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास, और यमक हैं—पुनरुक्तवदाभास नहीं है, वक्रोक्ति को अर्थालंकारों से खींच कर उसके स्थान पर रखा गया है—उनके उपभेदों के साथ देकर आप ३५ अर्थालंकारों का वर्णन करते हैं ।

इनके बाद हेम चन्द्र जी का काव्यानुशासन आता है—इसके ५ वें अध्याय में ६ शब्दालंकार (अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति, और पुनरुक्तवदाभास) तथा ६ वें अध्याय में २६ अर्थालंकार दिये गये हैं। यह बात विशेष ध्यान में रखने की है कि आपने संसृष्टि को संकर के, तुल्ययोगिता को दीपक के, पर्याय को परिवृत्ति के साथ उनके अन्तर्गत रूपों के समान ही सा रक्खा है। अनन्वय एवं उपमेयोपमा को उपमा के भेद मान, निदर्शना के अन्दर प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त को भी रक्खा है। स्वभावोक्ति को जाति और अप्रस्तुतप्रशंसा को अन्योक्ति कह कर पुकारा है।

रसवत, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहितादि रस एवं भाव सम्बन्धी सभी अलंकारों को आपने वहिष्कृत कर दिया है।

एकावली नामी ग्रन्थ अन्य बातों के लिये मम्मट पर तथा अलंकारों के लिये विशेषतः रुय्यक पर समाधारित है तथा कुछ बहुत प्रमाणिक ग्रन्थ नहीं है।

अब लीजिये मम्मट के काव्य प्रकाश को। यह ग्रन्थ बहुत मान्य और प्रमाणिक है। इसी के अधार पर अनेक ग्रन्थ बने हैं। हमारे भिखारी दास तथा लछिरामादि जो काव्य के सर्वांगों पर ग्रन्थ लिखने वाले हैं, इन्हीं का आश्रय लेकर चलते हैं। आपने रस-सिद्धान्त, ध्वनि तथा व्यंजना (लक्षणा भी) आदि शब्द-शक्तियों के सिद्धान्तों की विशद विवेचना कर के ध्वनि काव्य को उत्तम, व्यंग्य को मध्यम तथा चित्र काव्य को अधम माना है। रस को उतना महत्व आप नहीं देते जितना ध्वनि और व्यंग्य के सिद्धान्तों को। गुणों (प्रसाद, माधुर्य और ओज) को अलंकारों से भिन्न तथा वर्ण-संगठन के ऊपर ही समाधारित सा प्रतिपादित करते हैं।

चित्र को शब्द एवं अर्थ के अनुसार दो प्रकार का दिखलाया है।

आपने ५ शब्दालंकार (१—वक्रोक्ति—श्लेष, काकु, २—अनुप्रास—छेक, वृत्ति, लाट, ३—यमक, ४—श्लेष, ५—चित्र) देकर शेष सभी अर्थालंकार दिये हैं।

कहना चाहिये कि काव्य या अलंकार शास्त्र में जो कुछ विकास-प्रकाश एवं कला-कार्य हुआ था, जितने सिद्धान्त एवं मत उसमें प्रगट हुये थे—रस, अलंकार ध्वनि, रीति व गुण सिद्धान्तादि—सब को लेकर आपने इसमें एकत्र रख दिया है, और सबकी विवेचना पर्याप्त रूप से कर ध्वनि-सिद्धान्त को कुछ प्रधानता दी है। सब का निष्कर्ष यही प्राप्त होता है, कि इसी से यह ग्रन्थ पश्चात्काल के लिये काव्य-शास्त्र का उद्गम, काव्यागार या भाँडागार सा हो गया, सब उत्तर कालीन लेखक इसी को किसी न किसी रूप में अपना आधार बना कर चलते हैं। सूक्ष्म रूप से सारे साहित्य या काव्य-शास्त्र को यहाँ थोड़े में एकत्र कर समिष्टि के रूप में रख दिया गया है—यही इस ग्रन्थ की विशेषता, महत्ता एवं सुन्दरता है। गागर में सागर की कहावत चरितार्थ की गई है, हाँ, यह ध्वन्यालोक, उद्भट, भामा, रुद्रट, वामन एवं अभिनवगुप्तादि के ऊपर समाधारित है। मम्मट ने इन सब से सहायता ली है, अवश्य, परन्तु अपने स्वतंत्र विचार भी, सब का यथा स्थान एवं यथा योग्य खंडन मंडन कर, इसमें दिखलाये हैं। आपका समय १०५० और ११५० ई० (कदाचित ११००) के लगभग माना गया है। वामन के गुण-सिद्धान्त को आपने ठीक न मान कर, उसका खंडन करते हुये अपने मत का प्रदर्शन यों किया है—“काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मागुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः”। आप भामा के समान कहते हैं “सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते...कोऽलंकारोऽनया विना”

१२०० ई० के लगभग वह ग्रन्थ हमें मिलता है जिस पर ही विशेष रूप से हमारे हिन्दी अलंकार शास्त्र के बहुत से आचार्य अपने ग्रन्थों को समाधारित करते हैं। वह ग्रन्थ है चन्द्रालोक, जिसे जयदेव ने रचा है। इसमें १०० अलंकार अर्थ सम्बन्धी और ४ शब्दालंकार (यमक, चित्र, पुनरुक्तवदाभास और अनुप्रास—छेक, वृत्यानुप्रास, लाटानुप्रास) दिये गये हैं। अनुष्टुप वृत्ति की प्रथम पंक्ति तो अलंकार की परिभाषा और दूसरी उसका उदाहरण देती हैं—यही शैली हमारे आचार्यों ने भी रक्खी है, हाँ अनुष्टुप वृत्ति के स्थान पर उन्होंने दोहा छंद दिया है—*

इसी ग्रन्थ में हमें सबसे प्रथम अलंकारों की इतनी बृहत् संख्या प्राप्त होती है, अन्य सभी ग्रन्थों में इतने से कम ही अलंकार मिलते हैं।

इसी ग्रंथ को लेकर एक दूसरा ग्रंथ केवल अलंकरों पर ही अप्पय दीक्षित ने कुबलयानन्द के नाम से रचा है, अप्पय ने चन्द्रालोक के १०० अलंकारों में २४ और नये अलंकार जोड़ दिये हैं, और संख्या १२४ तक पहुँचा दी है। आपने केवल अर्थालंकारों को ही लिया है—शब्दालंकारों को छोड़ ही दिया है। २२ अलंकारों जैसे उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण, रूपक, परिणाम, ससंदेह, भ्रांतिमान, उल्लेख, अपन्हुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि, को आपने उपमा के ही भेद या प्रपंच रूप माने हैं।

प्रतापरुद्रयशोभूषण—(वैद्यनाथ कृत १४५८, १४५६ ई०) कोई विशेष मान्य ग्रंथ नहीं, यह प्रायः सर्वथा काव्य प्रकाश, रुय्यक तथा चंद्रालोक पर समाधारित है। इसमें भोज के समान कवि ने शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार या मिश्रालंकार दिये हैं।

---

* देखो—भाषाभूषण, कर्णाभरण, अलंकारदर्पणादि ग्रंथ—

अब वाग्भट्ट द्वितीय का काव्यानुशासन लीजिये। इसके तीसरे अध्याय में ६३ अर्थालंकार दिये गये हैं जिन में से कुछ तो नितान्त ही नवीन हैं जैसे—अन्य, अपर, पूर्व, लेश, पिहित, मत, उभयन्यास, भाव और आशी:—हाँ, इनमें से कुछ तो भामा व उद्भटादि के दिये हुये प्राचीन हैं जो बीच के आचार्यों से बहिष्कृत कर दिये गये थे, हाँ, कुछ अवश्यमेव नवीन हैं। हिन्दी तथा संस्कृत के किसी भी लेखक ने आपके इन अलंकारों में से कई को नहीं माना। ४थे अध्याय में ६ शब्दालंकार—चित्रश्लेष, अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक, पुनरुक्तवदाभास और उनके भेद दिये गये हैं।

१६ वीं शताब्दी के मध्यकाल में केशवमिश्र ने अलंकार शेखर नामी एक ग्रंथ लिखा है। इस में कुछ विचित्रता अवश्य है। कहीं कहीं तो ऐसा जान पड़ता है कि हमारे केशवदास ने अपनी कविप्रिया में इन्हीं से सहायता ली है। ८ रत्न और २२ मरीचियों में यह ग्रंथ समाप्त होता है—२ रे रत्न में उक्ति, मुद्रा और इनके भेद दिये गये हैं, ७ वें में उक्ति और समाधि को (जिन्हें अलंकार माना गया है) शब्दगुणों (संक्षिप्तत्व, उदात्तत्व, प्रसादादि के साथ) और भाविकत्व (सुशब्दत्व, सुधर्मिता और पर्यायोक्ति को जो अलंकार माने गये हैं) अर्थ-गुण ही दिखलाया है। १०वीं मरीचि में आठ शब्दालंकार (चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास, गूढ—यह नवीन है, श्लेष, प्रहेलिका, प्रश्नोत्तर—यह नवीन है, और यमक) तथा ११ वीं मरीचि में केवल १४ अर्थालंकार दिये गये हैं—उपमा के दस भेद तथा रूपकादि के भेद भी दिखलाये हैं।

पन्द्रहवीं मरीचि में—कवि-परिपाटी और १६ वीं में वर्ण्य-विषय—जैसे नृप, महिषी, देश, नगर, नारी के विचित्र लक्षण देते हुये १७ वीं मरीचि में प्रकृति के विविध पदार्थों के वर्ण्य-रंग, संख्या सूचक शब्द, कौतुकपूर्ण शब्दखेल—गतागत, भाषासम, समस्या

पूरणादि का वर्णन किया गया है। इन में से बहुत सी बातें हमारे केशवदास ने अपनी कविप्रिया में रख ली हैं।

लगभग १६२०—१६६० ई० में पंडित राज जगन्नाथ ने रस गंगाधर नामी ग्रंथ संस्कृत में रचा, जो प्रमाणित और प्रधान माना जाता है। ध्वन्यालोक, और काव्यप्रकाश के बाद इसी का मान है, स्वतंत्रता पूर्वक पंडित जी ने साहस के साथ ध्वन्यालोक, मम्मट तथा रूय्यकादि प्राचीन आचार्यों का यथास्थान खंडन भी किया है। आपके ग्रंथ में कुल ७० हो अलंकार मिलते हैं।

इस उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अलंकार शास्त्र पर शनैः शनैः संस्कृत के आचार्यों ने १७हवीं शताब्दी तक लगातार प्रशंस-नीय कार्य किया है. और विषय को मार्मिक विवेचना एवं गवेषणा की है। प्रथम अलंकारों का वृत बहुत हो संकीर्ण था, उसकी सीमा घिरी हुई थी, किन्तु धीरे धीरे उसमें विकास-विस्तार होता गया। यह अवश्य है कि अलंकार-सिद्धान्त पर समय समय में दूसरे सिद्धान्तों—जैसे रस, ध्वनि एवं व्यंग्यादि के आक्रमण हुये, जिनका प्रभाव इसके विकास एवं विस्तार पर बहुत गहरा पड़ा, तो भी यह स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष सिद्ध बात है कि इसकी महत्ता-सत्ता किसी प्रकार विनष्ट नहीं हो सकी, इसका स्थान एवं इसकी प्रतिभा काव्य-क्षेत्र में निश्चल ही बनी रही, सभी सिद्धान्तवादियों को अलंकारों को मानना एवं रखना ही पड़ा।

यह भी स्पष्ट ही है कि इधर को शताब्दियों जैसे १४वीं, १५ वीं, १६ वीं एवं १७ वीं में इसमें कुछ शिथिलता अवश्य आगई, उसका कारण यही है कि देश में मुसलमानों के आक्रमणों से अशान्ति फैल गई तथा धार्मिक आन्दोलनों एवं सामाजिक-राजनैतिक

ओतप्रोत के कारण देश का साहित्यिक (विशेषताया संस्कृत साहित्यिक) वायुमंडल सानुकूल एवं समृद्ध-स्फूर्ति के रूप में न रहा, उसमें कुछ अंधकार तथा धुँधलापन आ गया। साथ ही भाषा (साहित्यक भाषा) में परिवर्तन का नर्तन होने लगा, हिन्दी तथा उसकी शाखा व्रजभाषा का बल-वेग बढ़ चला और संस्कृत सर्व साधारण की पहुँच से बाहर होकर केवल विद्वन्मंडली की ही सीमा के अन्दर प्रतिवद्ध सी हो गई. इतना सब होने पर भी इसने अपना बहुत कुछ प्रभुत्व एवं आतंक दृढता के साथ रमा, जमा ही रक्खा। मुसलमानों ने भी इसका लोहा मान, इसका आदर-सत्कार किया। इसके आचार्यों के सामने किसी भी भाषा के आचार्यों की दाल न गली, सबको इसी के सहारे से साथ हो हाथ पकड़कर चलना ही पड़ा, हमारी हिन्दी भाषा, उसका साहित्य एवं अलंकार या काव्य शास्त्र तो सर्वथा इसी के ऊपर समाधारित है और इसका चिर ऋणी एवं कृतज्ञ भी है।

अब हम अपने हिन्दी आचार्यों के अलंकार या काव्य-क्षेत्र में किये हुये कार्य को विवेचनात्मक, तुलनात्मक तथा समालोचनात्मक दृष्टि से देखेंगे।

हमारी भाषा का इतिहास (हिन्दी साहित्य का इतिहास) तथा हमारी अलंकार शास्त्र सम्बन्धी पुस्तकों की सूची, जिसे हम अपने परिशिष्ट में दे रहे हैं—स्पष्ट रूप से बतलाती है कि हिन्दी के प्रारम्भिक काल (९ वीं, १० वीं एवं ११ हवीं शताब्दियों) में इस विषय पर कदाचित कोई भी कार्य नहीं हुआ, होता भी कैसे, क्योंकि उस समय तो हिन्दी भाषा (उसका साहित्य तो, भाषा के विकसित तारुण्य में ही निखरता-बिखरता तथा प्रगट होता है, दूर रहा) निरी बच्ची थी, उसकी काव्य-कली कच्ची ही थी,

तब कैसे उसमें अलंकार का सौष्ठव-सौन्दर्य खिलता। फिर साथ ही उस समय भाषा का साहित्यक मंडल भी अशान्त था, क्योंकि उस पर अनेक प्रकार की आँधियों के झोंके पड़ रहे थे। साथ ही संस्कृत के अलंकारशास्त्र में भी, जिसके आधार पर हिन्दी-अलंकार शास्त्र को खड़ा होना था, सैद्धान्तिक ओत-प्रोत, विवादास्थैर्य तथा मतमतान्तरान्दोलनकृत अनिश्चित तारल्य विद्यमान था, जिनके कारण उसमें खंडन-मंडन की तरंगे तिग्म गति से उठती थीं और परिवर्तन का चंचलदोला नर्तन कर रहा था। ऐसी दशा में जब आधार ही स्थिर तथा निश्चित रूप से दृढ़ नहीं तब उस पर सुदृढ़ अट्टालिका कैसे बनाई जा सकती थी।

१६ वीं और १७ वीं शताब्दी तक यही बातें रहीं, फिर संस्कृत में कुछ शिथिलता आ चली, वह शिष्ट समाज के विद्वन्मंडली की साहित्यिक उच्च भाषा या देववाणी के रूप में ही सीमावद्ध हो चली और समय एवं देश-दशाओं या परिस्थितियों के प्रभाव से हिन्दी सर्व साधारण की भाषा होकर उठी और ब्रजभाषा के रूप में साहित्यिक भाषा भी बन गई। बस उसमें साहित्य-सुषमा भी आई, यौवनावेश का मधुर पराग काव्य-कलिका के विकसितानन में भर चला, उसपर काव्यसुधामधु-प्रेमी कवि-मधुप गुंजार करने लगे, विद्वान वनमाली उसको सजाने, सँवारने तथा नीति-रीति से रचाने लगे और अलंकारों की भी रचना उसमें हो चली। यह सब चूंकि संस्कृत-साहित्य की सुमन-सुरभि के प्रेमी मालियों के द्वारा विशेष रूप से हुआ, अतः उसी के आधार पर सब कार्य किया गया। साथ ही आदर्श भी उसी संस्कृत-साहित्य का सामने रहा। इन्हीं सब कारणों से हिन्दी-साहित्य, (प्राचीन) तथा उसका काव्यालंकार शास्त्र विशेष रूप से संस्कृत-काव्यालंकार शास्त्र के ही सांचे में ढला हुआ तथा उसी पर समाधारित मिलता है। यह

अवश्य है कि हिन्दी-काव्यालंकार शास्त्र पर लिखे गये हिन्दी आचार्यों के ग्रन्थों से यह प्रगट होता है कि उन्होंने संस्कृत-ग्रन्थों का आधार ही लेकर इसे उठाकर विकसित करना चाहा था, किन्तु पश्चात के लेखकों ने अनुवाद करना ही प्रारम्भ कर दिया, उसे भी पूर्ण रूप से नहीं किया। केवल मूल २ सिद्धान्त ही ले लिये हैं और उनकी विवेचना तथा मत-भेद के निर्णय को उन्होंने छोड़ ही दिया है।

केशव, भिखारी तथा अन्य एक आध आचार्यों ने अवश्य ही कुछ मौलिकता दिखाई है और विकास-सिद्धान्तों का अनुसरण किया है। केशव ने केवल अर्थालंकारों में से मुख्य मुख्य अलंकार थोड़ी संख्या में लिये हैं और कुछ अलंकार अपनी ओर से नये भी दिये हैं, जैसे गिनती, प्रेम, सुसिद्धि प्रसिद्धि, प्रहेलिका, उक्ति—साथ ही कुछ अलंकारों के कुछ नये उपभेद भी दिखलाये हैं—विशेषतया रूपक, दीपक और उपमा के कुछ उपभेद नितांत ही नवीन हैं।

भिखारीदास ने अपनी मौलिकता विशेषतया अपने वर्गीकरण में ही दिखाई है। शब्दालंकारों में आपने ४ और नये भेद दिये हैं—१—पुनरुक्तिप्रकाश २—वीप्सा, ३—सिंहावलोकन और ४—तुक। आपने रस, ध्वनि और व्यंग्य सम्बन्धी अलंकारों को भी ले लिया है, न्याय तथा तर्कमूलक अलंकारों को अवश्य छोड़ दिया है। यद्यपि प्रमाण अलंकार के अन्दर आपने भोजराज के समान जैमिन के सभी प्रमाणों को दिखलाया है।

भूषण ने शब्दालंकारों में से तो मुख्य मुख्य और अर्थालंकार प्रायः सभी ले लिये हैं, हाँ उनके उपभेदों का वर्णन विवेचना-विस्तार के साथ विशेष रूप में नहीं दिया। आपने रुद्रट के समान कुछ अलंकारों का नाम भी बदल दिया है।

मतिराम ने शब्दालंकारों को बिलकुल ही छोड़ दिया है, केवल ६७ अर्थालंकार ही दिये हैं, प्रायः वे सभी चन्द्रालोक एवं कुवलयानंद के ही, अधार पर है, परस्पर नामी अलंकार एक नया प्राप्त होता है। कतिपय अलंकारों एवं उनके भेदों के नामों में आपने पर्याय वाचक शब्दों का भी प्रयोग किया है जैसे छलापन्हुति (कैतवापन्हुति)। रस एवं भावादि सम्बन्धी अलंकार सभी छोड़ दिये हैं।

भाषाभूषण में राजा जसवन्त सिंह ने कुछ विशेष वृद्धि नहीं की—कुबलयानन्द के ही आधार पर (विशेष रूप में अलंकारों का) वर्णन किया है।

देव ने अपने भावविलास में प्रथम ही बहुत कम अलंकार (प्रधान ही प्रधान) दिये हैं, किन्तु रस एवं भाव सम्बन्धी अलंकारों को नहीं छोड़ा, साथ ही एक अलंकार—संकीर्ण, नितान्त ही नवीन तथा भ्रम और संदेह के स्थान पर संशयालंकार ही दिया है।

१८०० से इधर के लेखकों में से कुछ ने विकास के लिये एक नई रीति निकाली थी, किन्तु वह कुछ सफल नहीं हो सकी। वे दो अलंकारों को मिलाकर एक मिश्रालंकार नये नाम के साथ रच रहे थे—यह रूप संकर, संसृष्टि तथा उभयालंकार के रूपों से पूर्ण पृथक था और केवल अर्थालंकारों के ही अन्तर्गत था।

लछिराम ने अपन्हुति तथा उत्प्रेक्षा को मिलाकर एक नये रूप का अर्थालंकार "अपन्हव नाम से दिया है, जो चेत चंद्रिका में भी मिलता है, किन्तु और कहीं नहीं। इसी प्रकार एकावली एवं प्रश्नोत्तर को मिलाकर मुक्त प्रकाशी नाम का नया अलंकार बना दिया है, यह भी किसी दूसरे ग्रंथ में नहीं मिलता।

अलंकार-दर्पण में निबंधना का प्रथम दर्शन होता है, फिर उसका उल्लेख एवं विवेचन पश्चात के सभी ग्रंथों में पाया जाता है।

इसी प्रकार विशेष और सामान्य के मिश्रित रूप को विशेषक संज्ञा दी गई है। चेतचंद्रिका में वैसख्य नामी एक अलंकार मिलता है, किन्तु उसमें विशेषालंकार नहीं है, उसी के स्थान पर कदाचित् यह दिया गया है (वैसख्य—विशेष से भाववाचक रूप में आता है।) योंही यथा संख्य के स्थान पर क्रमिकालंकार मिलता है।

शेष सभी अर्थालंकार कुबलयानन्द के ही आधार पर पश्चात के सभी प्रधान लेखकों ने दिये हैं, और सबों ने (लछिराम को छोड़कर) शब्दालंकार छोड़ दिये हैं। इसी प्रकार रस एवं भाव संवन्धी अलंकार भी छोड़े गये हैं। दूलह ने शब्दालंकारों में से केवल यमक और वृत्यनुप्रास ही दिये हैं, शेष सब छोड़ दिये गये हैं।

इससे अब यह स्पष्ट है कि हिन्दी लेखकों ने भी अलंकारों की वृद्धि का विचार किया था और आवश्यकतानुसार कुछ विकास या वृद्धि उनमें की भी है, किन्तु वह कुछ विशेष मूल्यवान नहीं। मिश्रार्थालंकारों के निर्माण का कार्य हो जाता, किन्तु खेद है कि उसकी गति रुक ही गई। पश्चात्काल के सभी लेखकों ने प्रायः रस, भाव, ध्वनि, न्याय, एवं प्रमाणादि सम्बन्धी अलंकारों को नहीं लिया। इसका मुख्य कारण कदाचित यही है कि वे सब प्रायः कुवलयानन्द पर ही आधारित रहे हैं।

वर्गीकरण और मूलतत्व

(संस्कृत से)

बहुत प्राचीन काल से ही अलंकारों को दो मुख्य वर्गों में विभक्त किया गया है, भामा ने (जो अलंकार शास्त्र का सब से प्रथम प्राप्त लेखक है) काव्य की परिभाषा—"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"—यों देकर अलंकारों को भी १—शब्दालंकार, २—अर्थालंकार नामी दो मुख्य वर्गों में बाँटा है, यही क्रम और दूसरे आचार्यों के द्वारा भी अपनाया गया है। * रुद्रट ही प्रथम आचार्य है जिन्होंने अर्थालंकारों के मूल सिद्धान्तों का विवेचन किया है, किन्तु उनके वे मूल सिद्धान्त किसी दूसरे आचार्य के द्वारा अपनाये नहीं गये। रुद्रट ने भी प्रथम अलंकारों को उन्हीं दो वर्गों (शब्दालंकार और अर्थालंकार) में विभक्त किया है, फिर अर्थालंकारों को चार मुख्य मूल सिद्धान्तों के अनुसार चार वर्गों में विभक्त किया है—१—वास्तव, २—औपम्य, ३—अतिशय, ४—श्लेष,—किन्तु कुछ अलंकार ऐसे हैं जो दो दो सिद्धान्तों पर निर्भर हैं इसीलिये उन्हें दोनों सिद्धान्तों के वर्गों में रक्खा गया है।

---

* दंडी, वामन, आदि भी इन्हीं दो भागों में अलंकारों को विभक्त करते हैं—

रुद्रट—
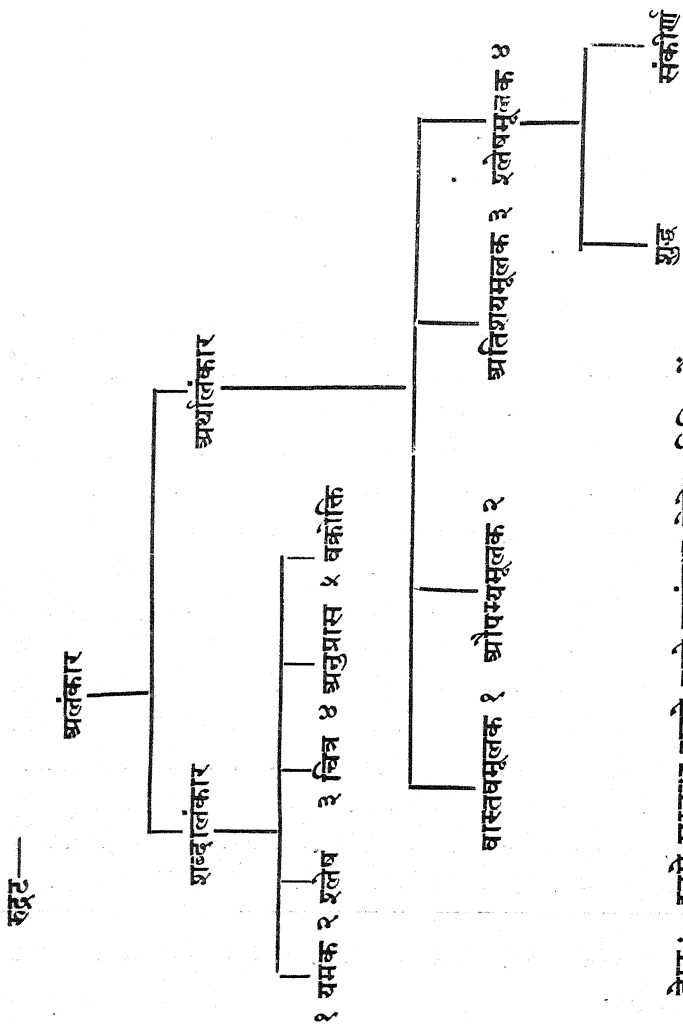
नोट :—इनसे सम्बन्ध रखने वाले अलंकार देखो परिशिष्ट में।

(१) वास्तव मूलक :— १—सहोक्ति २—समुच्चय ३—जाति (स्वभावोक्ति) ४—यथासंख्य (क्रम) ५—भाव ६—पर्याय ७—विषम ८—अनुमान ९—दीपक १०—परिकर ११—परिवृत्ति १२—परिसंख्या १३—हेतु १४—कारणमाला १५—व्यतिरेक १६—अन्योन्य १७—उत्तर १८—सार १९—सूक्ष्म २०—लेश २१—अवसर २२—मीलित २३—एकावली।

(२) औपम्य मू० :— १—उपमा २—उत्प्रेक्षा ३—रूपक ४—अपन्हुति ५—संशय (संदेह) ६—समासोक्ति ७—माला (मत) ८—उत्तर ९—अन्योक्ति १०—प्रतीप ११—अर्थान्तरन्यास १२—उभयन्यास १३—भ्रांतिमत् (भ्रम) १४—आक्षेप १५—प्रत्यनीक १६—दृष्टान्त १७—पूर्व (पूर्वरूप) १८—सहोक्ति १९—समुच्चय २०—साम्य (सम) २१—स्मरण।

(३) अतिशय मू० :— १—पूर्व २—विशेष ३—उत्प्रेक्षा ४—विभावना ५—तद्गुण ६—अधिक ७—वक्रोक्ति ८—विषम ९—असंगति १०—पिहित ११—व्याघात १२—हेतु।

(४) श्लेष मू० :—शुद्ध १—अविशेष २—विरोध ३—अधिक ४—वक्र ५—व्याज, ६—उक्ति (युक्ति) ७—असंभव ८—अवयव ९—तत्व १०—विरोधाभास।

संकीर्ण के दो ही रूप दिये गये हैं।

उद्भट ने अलंकारों को शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के वर्गों में स्पष्ट रूप से नहीं बाँटा और न इस वर्गीकरण के विषय में कुछ कहा ही है, हाँ, आपने अलंकारों को इस क्रम से अवश्य रक्खा है जिससे यह झलकता है कि वे इस वर्गीकरण के सिद्धान्त के अनुसार ही रक्खे गये हैं। उन्होंने प्रथम चार शब्दालंकारों और फिर अर्थालंकारों का, जिनकी संख्या ३७ है

वर्णन किया है। इसके साथ ही उन्होंने अलंकारों को भिन्न प्रकार के वर्गों में भी रक्खा है, किन्तु इस वर्गीकरण के सिद्धान्तों के विषय में कुछ भी नहीं कहा।

वामन :—इनके मतानुसार औपम्य ही एक मूल सिद्धान्त है इसी पर सभी अर्थालंकार समाधारित हैं, और सब उपमालंकार के प्रपंचमात्र हैं।

दंडी * के कथनानुसार स्वभावोक्ति (जाति) ही स्वाभाविक प्रकाशन-रीति है और इसीलिये समस्त अलंकारों की परिपोषिणी है। किन्तु इस सिद्धान्त का भामा, वामन और कुन्तल आदि ने खंडन किया है और मान्य नहीं ठहराया। हाँ, दंडी के इस सिद्धान्त को कुन्तल ने माना है कि अतिशय † सब अलंकारों का मूल है। इसी के आधार पर और लोग भी चलते हैं, किन्तु कुन्तल जी भामा के समान वक्रोक्ति पर विशेष ज़ोर देते हैं, क्योंकि इसी के प्रभाव से अलंकारों और काव्य में वह वैचित्र्य या विच्छित्ति आती है, जो काव्य का प्राणरूप है, अतः कह सकते हैं कि कुन्तल के मतानुसार वक्रोक्ति ही वास्तव में सम्पूर्ण अलंकारों का मूलाधार है।

आनन्दवर्धनाचार्य, जो ध्वनि-सिद्धान्त के प्रथम और प्रधान आचार्य हैं, ध्वनि को ही काव्य में प्रधान मानते हैं और उन्हीं अलंकारों की सत्ता मानते हैं जो ध्वनि के परिपोषक हैं। किन्तु उन पर कारिका लिखने वाले सहृदय महाराज यह दिखाने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं कि ध्वनि अलंकारों के ही अन्तर्गत है और अलंकारों ही

---

* जहाँ तक ज्ञात हुआ है, सब से प्रथम दंडी ही ने चित्रालंकार उठाये हैं।

† अभिनवगुप्त का भी यही सिद्धान्त है कि अतिशय ही सब अलंकारों का मूल है।

से समुद्भूत होती है, अतः अलंकारों का ही काव्य में प्राधान्य है। यही मत प्रतिहारेन्दुराज का भी है। कुन्तल भी ध्वनि-सिद्धान्त की स्वतंत्र सत्ता नहीं मानते, वरन् उसे वक्रोक्ति की व्यापकता के अन्तर्गत ही होते हुये दिखाते हैं।

भोजराज, अपने सरस्वतीकंठाभरण में अलंकारों को (१) शब्दालंकार (२) अर्थालंकार नामी दो वर्गों में विभक्त करते हुये अग्निपुराण के मतानुसार उभयालंकार नामी एक वर्ग और रखते हैं और इसमें वे अलंकार रखते हैं जो शाब्दिक और आर्थिक दोनों प्रकार का चमत्कार रखते हैं, इस प्रकार वे उस प्राचीन वाद-विवाद का परिहार करते हैं, जो श्लेषादि उन अलंकारों के विषय में उठा था जो शब्दालंकार और अर्थालंकार के अन्तर्गत भिन्न भिन्न आचार्यों के द्वारा माने गये थे।

जैसा अभी कहा गया है, भोज इस वर्गीकरण में अग्निपुराण* ही का अनुकरण करते हैं, हाँ, उभयालंकारों (शब्दार्थालंकार—अग्निपुराण) में अग्निपुराण के समान ऐसे अलंकार नहीं रखते जो यथार्थ में अर्थालंकार हैं—तो भी बहुत से ऐसे अर्थालंकारों जैसे रूपक, अपन्हुति, दीपकादि को उभयालंकारों में ही रखते हैं, इस प्रकार आप अपनी एक अकेली विचित्र रीति चलाते हैं। महर्षि जैमिनि के ६ प्रमाणों को भी आप अलंकारों के साथ रख लेते हैं। आपका कोई विशेष-सिद्धान्त नहीं है।

रूय्यक ने भी वही वर्गीकरण—शब्दालंकार और अर्थालंकार दिया है। आप रस और भाव सम्बन्धी अलंकार भी उठाते हैं और कुछ नये अलंकारों की भी कल्पना करते हैं।

---

* सब से प्रथम अग्निपुराण में ही हमें शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार—यह वर्गीकरण अलंकारों का मिलता है।

रूय्यक :—
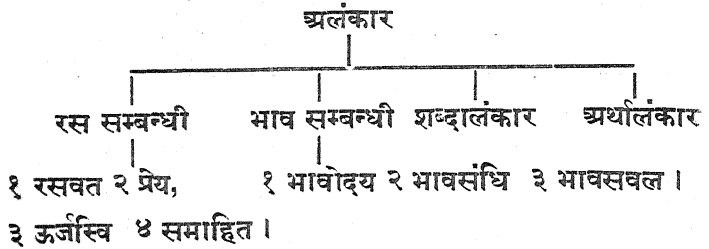
मम्मट ने भी अलंकारों का यही वर्गीकरण रक्खा है—(१) शब्दालंकार (२) अर्थालंकार और (३) चित्र, जिसके दो भेद किये हैं (१) शब्दचित्र और (२) अर्थचित्र, यही विशेषता आप में पाई जाती है, किन्तु चित्र को आपने शब्दालंकारों के ही अन्तर्गत माना है। आपका काव्यप्रकाश नामी ग्रन्थ ध्वन्यालोक तथा अलंकार-विषयक भामा, दंडी, उद्भट, रुद्रट, और वामन के ग्रन्थों पर समाधारित है। भामा के मतानुसार आप भी *वक्रोक्ति को अलंकारों में प्रधान मानते हैं। किन्तु गुणों (प्रसादादि) पर विशेष ज़ोर देते हुये अलंकारों को उनका परिपोषक तथा उनको विशेषता देने वाले मानते हैं।†

अप्पय ने चन्द्रालोक के आधार पर कुवलयानन्द नामी एक ग्रन्थ अलंकारों का रचा है। यह ग्रन्थ हमारे लिये बहुत आवश्यक है, क्योंकि इसी के आधार पर हमारे आचार्यों ने अपने अपने अलंकार-ग्रन्थ लिखे हैं। चन्द्रालोक में दिये हुये १०० अलंकारों में आपने २४ और जोड़ दिये हैं। चित्रालंकार (शब्द चित्र) को

---

* काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः

† सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते......कोऽलंकारोऽनया विना।

छोड़ दिया है, क्योंकि उसमें कुछ समाकर्षक-चमत्कार नहीं, किन्तु अर्थचित्र का वर्णन किया है। शब्दालंकारों को भी आपने छोड़ दिया है, क्योंकि उनमें भी कोई विशेष चमत्कार नहीं। केवल अर्थालंकारों का ही वर्णन विशद रूप से किया है। इसी शैली का अनुकरण हमारे बहुत से लेखकों ने किया है। अलंकारों की परिभाषायें और उदाहरण आपने अनुष्टुप जैसी एक छोटी छंद में ही दिया है। यही बात हमारे भी बहुतेरे लेखकों ने की है, विशेषतः १८हवीं और १९वीं सदी के सभी लेखकों ने इनका अक्षरशः अनुकरण किया है।

विद्यानाथ ने अलंकारों को भोज के समान ३ वर्गों—(१—शब्दालंकार २—अर्थालंकार ३—मिश्रालंकार) में बाँटा है, और किसी विशेष सिद्धान्त का प्रदर्शन नहीं किया।

वाग्भट्ट, विश्वनाथ, केशव मिश्र और दूसरे सभी आचार्य इसी वर्गीकरण को लेते हुए चलते हैं, हाँ अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों के भेदोपभेदों, लक्षणों, परिभाषाओं एवं मतों का खंडन-मंडन अवश्य करते हैं।

रुय्यक ने वर्गीकरण के मूलतत्व—(१) औपम्य (२) विरोध (३) शृंखला (४) न्याय (५) गूढ़ार्थप्रतीति, (६) संसृष्टि और (७) संकर माने हैं।

वैद्यनाथ ने औपम्य (सादृश्य) के स्थान पर 'साधारण' शब्द का प्रयोग किया है और वर्गीकरण के मूलतत्वों में अध्यवसाय और विशेषण-वैचित्र्य को भी माना है।

अब निष्कर्षरूप में यों कह सकते हैं :—

(१) दंडी

अलंकार	१—स्वभावोक्ति मूलक
"	२—वक्रोक्ति मूलक
"	३—अतिशय मूलक
	(२) वामन
"	१—औपम्य मूलक
	(३) रुद्रट
"	१—वास्तव
"	२—औपम्य
"	३—अतिशय
"	४—श्लेष
	(४) रूय्यक
"	१—औपम्य
"	२—विरोध
"	३—शृंखला
"	४—न्याय (३ भेद)
"	५—गूढ़ार्थ प्रतीत
"	६—संसृष्टि
"	७—संकर
	(५) वैद्यनाथ
"	१—अध्यवसाय (उपर्युक्तों के साथ)
"	२—विशेषण-वैचित्र्य
	(६) कुन्तल
"	१—वक्रोक्ति
"	२—अतिशय

हिन्दी के आचार्यों का मत

हिन्दी आचार्यों के मतों को सूक्ष्म ही रूप में देकर हम इस प्रसंग को विश्राम देगें और आगे अलंकारों की संख्या तथा उनके विकास पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करेंगे।

केशवदास ने, जो हिन्दी-अलंकार शास्त्र के सब से प्रधान तथा प्राप्त प्रथम आचार्य हैं, अलंकारों को दो वर्गों में बाँटा है (१) सामान्य—जिसमें कवि-परिपाटी तथा काव्य में वर्णनीय वस्तुओं विषयों को विवेचना की है—यह कदाचित् आपने अलंकार शेखर के रचयिता केशव मिश्र के आधार पर ही किया है। (२) विशिष्ट—इसके अन्दर अलंकारों में से प्रधान प्रधान अर्थालंकारों तथा यमक, श्लेषादि शब्दालंकारों की विवेचना की है। आपने शब्द और अर्थ के आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण नहीं किया। यमक, श्लेष, उपमा और रूपकादि की जो अत्यंत आवश्यक एवं प्रधान अलंकार हैं बहुत विशद गवषेणा की है।

जसवन्तसिंह ने भाषाभूषण में शब्द और अर्थ के आधार पर ही चन्द्रालोक तथा कुबलयानन्द के अनुसार अलंकारों का वर्गीकरण तथा विवेचन किया है।

मतिराम जी ने ललितललाम में अलंकारों के मुख्याधार को चमत्कार के रूप में माना है तथा उन्हें शब्द एवं अर्थ से भिन्न

और रस-भाव से पृथक कहा है, तथा अर्थालंकारों की ही समीक्षा दी है।

भूषण त्रिपाठी ने शिवराज भूषण में उपमा को प्रधान अलंकार माना है और यों कदाचित वामन के मत का अनुसरण किया है, किन्तु शब्द और अर्थ पर आधारित करके अलकारों का वर्गीकरण नहीं किया, केवल ३९ अलंकारों की ही विवेचना, जो बहुत सूक्ष्म है, की है।

भिखारीदास ने अपने काव्य-निर्णय में उद्भट के समान एक विचित्र प्रकार का वर्गीकरण दिया है। एक प्रधान अलंकार के नाम से एक वर्ग बनाकर उसमें उस प्रधान अलंकार से सम्बन्ध रखने वाले अलंकारों की विवेचना की है। ऐसा करते हुये भी, यह स्पष्ट है, उन्होंने, शब्द, अर्थ, भाव, रस, ध्वनि, व्यंग्य, न्याय (प्रमाण) पर आधारित होने वाले सभी प्रकार के अलंकारों का पूर्ण स्पष्टीकरण किया है, और विषय को सर्वांगपूर्ण बनाया है।

उत्तरकालीन शेष सभी आचार्य, जैसे—पद्माकर, लछिराम, दूलह आदि कुवलयानन्द का ही पूर्णतया अनुकरण करते हैं और विशेषतया अर्थालंकारों की ही विवेचना देते हैं, वह भी सर्वथा कुवलयानन्द के ही आधार पर। हमारे आधुनिक लेखकों, जैसे—जगन्नाथ प्रसाद "भानु" कन्हैय्या लाल पोद्दार ने अलंकार शास्त्र के लिखने में संस्कृत के प्रधान प्रधान आचार्यों के ही मतों का अनुसरण किया है और उन्हीं के ग्रन्थों के आधार पर अपने ग्रन्थ लिखे हैं, और शब्द, अर्थ तथा उभयालंकारों के रूप में ही वर्गीकरण रक्खा है।

अलंकारों के वर्गीकरण में बा० ब्रजरत्नदास ने भाषा-भूषण की भूमिका में कुछ अपने विचार, जो सुब्रह्मण्य जी शर्मा के विचारों पर ही सर्वथा समाधारित हैं, दिये हैं, उन्हें हम सूक्ष्म रूप में दे रहे हैं:—

अब यदि हम इस सब को ध्यान में रखते हुये यह देखते हैं कि, अलंकारों के कितने भेद इस समय तक प्राप्त हो चुके हैं, तो हम इस निर्णय को पहुँचते हैं कि निम्न प्रकार के अलंकार अब तक निश्चित रूपों के साथ आचार्यों के द्वारा दिये गये हैं—

१—शब्दालंकार

२—अर्थालंकार

३—शब्दार्थालंकार (मिश्र या उभयालंकार)

४—रस सम्बन्धी अलंकार

५—भाव " "

६—ध्वनि और व्यंग्य सम्बन्धी अलंकार

७—तर्क-न्याय मूलक अलंकार (प्रमाणालंकार भी)

८—विज्ञान सम्बन्धी (कार्य-कारण सम्बन्धी) अलंकार

९—संकर } अलंकार-समिष्टि
१०—संसृष्टि }

शर्मा जी तथा बा० ब्रजरत्नदास ने अर्थालंकारों का ही वर्गीकरण दिखलाया है, शब्दालंकारों का नहीं। हमारी समझ में शब्दालंकारों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से हो सकता है:—
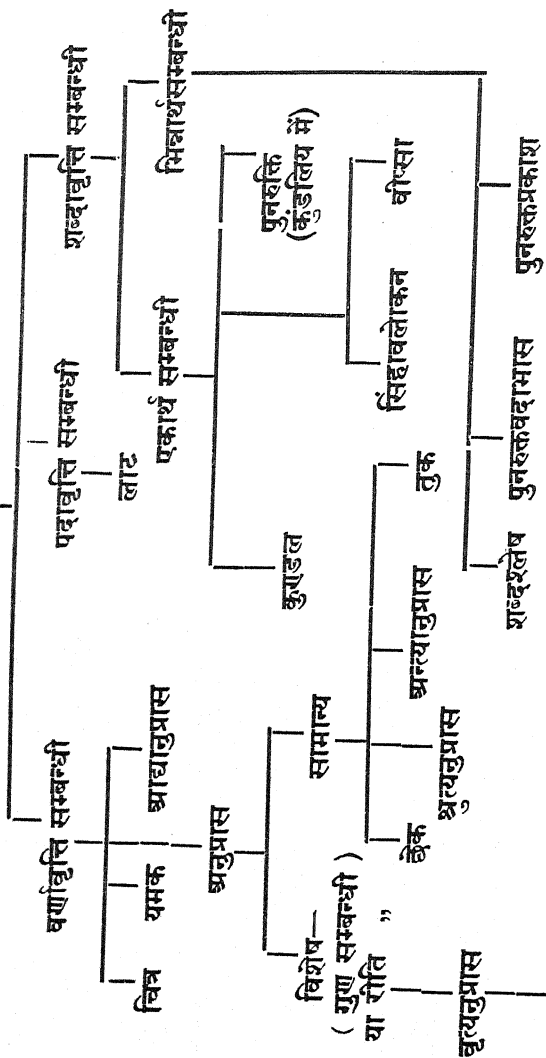
शब्दालंकारों का दूसरा भेद (२) वर्ण कौतुक या चित्र है ।

बा० ब्रजरत्नदास का वर्गीकरण

यह केवल अर्थालंकारों पर ही घटित या चरितार्थ होता है अतः व्यापक नहीं है—मूलतः आप भी अलंकारों को शब्द और अर्थ के अनुसार दो वर्गों में विभक्त मानते हैं।

(१) अर्थालंकार

१—औपम्य (सादृश्य, साम्य, साधर्म्य)
२—विरोध (कार्य-कारण विच्छेद)
३—शृंखला मूलक (क्रम मूलक)
४—न्यायमूलक
५—वस्तुमूलक

अब इनमें से, २ रे, ३ रे और ५ वें वर्गों को छोड़ कर शेष वर्ग क्रमशः फिर यों विभक्त किये गये हैं।

(१) औपम्य मूलक

१—अभेद प्रधान
२—भेदप्रधान
३—भेदोपभेद प्रधान
४—प्रतीति प्रधान
५—गम्य प्रधान (व्यंग्यमूलक)
६—अर्थ वैचित्र्य प्रधान

(४) न्याय मूलक

१—वाक्य न्याय
२—तर्क न्याय
३—लोक न्याय

यदि ध्यान पूर्वक तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि बाबू साहब ने यह वर्गीकरण सर्वथा मिस्टर शर्मा के वर्गीकरण के ही आधार पर किया है। हाँ, यह अवश्य किया है कि औपम्यमूलक के ६ उपभेद और कर दिये हैं, तथा शर्मा जी के नं० ५, ६, ७ और ८ वर्गों को एक ही वर्ग अर्थात् वस्तुमूलक के अन्दर रख दिया है।

शर्मा जी का वर्गीकरण

अर्थालंकार

१—औपम्य मूलाः ३४ अलंकार
२—विरोधमूलाः १० अलंकार
३—कार्यकारण सिद्धान्त मूलाः (न्यायदर्शनशास्त्रमूलाः)
११ अलंकार

४—न्यायमूलाः—

१—वाक्य न्याय ५ अलंकार
२—तर्क न्याय ३ अलंकार
३—लोक व्यवहार मूलाः २१ अलंकार

५—अपह्नवमूलाः ११ अलंकार
६—शृंखला-वैचित्र्य मूलाः ४ अलंकार
७—विशेषण-वैचित्र्य मूलाः २ अलंकार
८—कवि-समय मूलाः १ अलंकार

किसी किसी आचार्य के मतानुसार अलंकारों को दो वर्गों में ही रख सकते हैं :—

१—स्वाभाविक या नैसर्गिक, स्वभावोक्ति आदि।

२—कलात्मक (वैचित्र्यमूलक)।

कदाचित् इसी प्रकार के आधार पर केशव ने सामान्य और विशिष्ट दो वर्ग उठाये हैं, यद्यपि उनके वर्णन से यह स्पष्ट नहीं।

कविवर लछिराम ने एक विशेष प्रकार के मिश्रालंकार की प्रणाली निकाली थी, किन्तु उसका प्रचार-प्रसार नहीं हो सका, केवल दो एकही अनुयायी उसके मिलते हैं—जैसे चेत चन्द्रिका-कार। यह पद्धति दो अर्थालंकारों को मिला कर एक नया संयुक्तालंकार रचती है, जैसे—उत्प्रेक्षा और अपन्हुति के योग से अपह्नवालंकार—एवं मुक्त प्रकाशी, आदि—

यह शैली कदाचित् इनके प्रथम भिखारीदास ने भी उठाई थी और ऐसे दो मिश्रित अलंकारों को लिया था—जैसे सापह्नवातिशयोक्ति, रूपकातिशयोक्ति आदि—किन्तु इस प्रकार के मिश्रित रूपों को आपने उन अलंकारों के उपभेदों में रख दिया है, जिनकी प्रधानता विशेष रूप से इनमें रहती है।

———

परिभाषा-प्रकरण

शब्दालंकार

प्राक्कथन

सौंदर्य ही को अलंकार कहते हैं। काव्य में यह सौंदर्य, जैसा हम प्रथम ही दिखा चुके हैं, मुख्यतया दो प्रकार से लाया जा सकता है, (१) कवि के द्वारा ग्रहण किये गये विषय में अथवा विषय या वर्ण्य-सौंदर्य (२) कवि के गृहीत विषय के वर्णन में अथवा वर्णन-सौंदर्य।

अब इनके भी कई रूप हो सकते एवं होते हैं। हम प्रथम के रूपों को सूक्ष्मतया टिप्पणी के रूप में देते हैं, क्योंकि उनसे हमारा यहाँ विशेष सम्बन्ध नहीं है। हाँ, दूसरे प्रकार के सौंदर्य के रूपों का अवश्य ही पूर्ण विवेचन यहाँ देवेंगे, क्योंकि उनका ही हमारे विषय से पूर्ण सम्बन्ध है। वर्णन-सौंदर्य ही काव्य का प्रधान सौंदर्य है, इसी के पूर्ण प्रदर्शन में कवि के काव्य-कला-कौशल का परिचय प्राप्त होता है। इसके प्रधानतया दो रूप होते हैं (१) भाषा-सौंदर्य अर्थात् वर्णनीय एवं प्रकाशनीय भावादि का सुन्दर भाषा में अनुवाद करना, उन्हें चमत्कृत वाणी में रूपान्तरित करना (२) शैली-सौंदर्य—चमत्कृत एवं सुन्दर भाषा के द्वारा मानसिक प्रकाश्य भावादि का प्रकाशन सुन्दर रीति या ढंग से करना।

हमारा विषय यहाँ पर भाषा-सौंदर्य ही है, यह विशेषतया ४ बातों पर समाधारित है—१, वर्ण या अक्षर (स्वर एवं व्यंजन)

२, शब्द ३, पद या वाक्य की व्यवस्था एवं सुसज्जित विन्यास (पद-योजना, समास-संगुम्फन) (४) अर्थ-सौंदर्य या चमत्कार।

हमारे आचार्यों ने इनमें से प्रथम तीन को एक ही वर्ग में शब्दालंकार के नाम से रख लिया है और चौथे को एक पृथक् प्रकार का वर्ग माना है—क्योंकि यह प्रणाली समय-सम्मानित सनातन या परंपरा के रूप से सर्वसाधारण में व्याप्त हो गई थी। प्रथम वर्ग के अन्दर चित्रालंकार भी सम्मलित हैं। तृतीयकक्षा के केवल एक ही रूप का विवेचन हमारे आचार्यों ने किया है और उसके दूसरे रूप को कदाचित् सर्वथा ही त्याग दिया है, हाँ, चतुर्थ रूप की विवेचना बड़े विस्तार एवं विचार के साथ की है। अस्तु—

हम प्रथम ही यह दिखा चुके हैं कि अलंकार शास्त्र के प्रारम्भिक-काल में शब्दालंकारों की विशेष महत्ता-सत्ता थी, विस्तार एवं प्रचार भी इनका विशेष रूप से था, न केवल पद्य-काव्य में ही इनका व्यवहार होता था, वरन् गद्य में भी इनका पर्याप्त प्रचार एवं विचार होता था।

वर्ण-सौंदर्य के विषय पर कई प्रकार से विचार किया गया है, माधुर्य एवं मार्दव के विचार से वर्णों का विभाजन किया गया है और फिर मधुर एवं मृदु वर्णों के प्रयोग से वृत्तियों तथा रीतियों को बल दिया गया है।* वर्णों की व्यवस्था तथा उनके क्रम पर विचार करने से चित्रालंकारों की कल्पना हुई, और वर्णों की आवृत्ति से अनुप्रासों की सृष्टि रची गई।

वर्ण-कौतुक-एवं वर्ण-रहस्य के आधार पर भी कई प्रकार की काव्य-कला-क्रीड़ा के कुतूहलों का जन्म एवं विकास हुआ—जैसे कूट-काव्य के वर्ण मूलक कौतुक—

---

* भोजराज भी रीतियों को शब्दालंकारों के रूप मानते हैं।

वर्णावृत्ति के आधार पर अनुप्रास, (भरत जी इसे वर्णाभ्यास कहते हैं) एवं यमकादि की कल्पना की गई। कह सकते हैं कि इसी के प्रभाव से कदाचित् ऐसे काव्य की भी रचना हुई, जिसमें, एकाक्षरावृत्ति, द्वयक्षरावृत्ति, गतागत, अनुलोमानुलोम, प्रतिलोम (विलोम) आदि आते हैं। सस्वर एवं स्वररहित वर्णों के भेद के आधार पर ऐसे काव्य की कल्पना हुई, जैसे अमत्तावृत्ति (मात्रा रहित) आदि—अस्तु—

वर्ण-साम्य या वर्णोच्चार-साम्य के आधार पर भी वर्णों का वर्गीकरण हुआ जो व्याकरण के वर्ण-विचार नामी अध्याय में रक्खा जाता है। काव्यालंकार शास्त्र में इसके आधार पर श्रुत्यनुप्रास का प्रकाशन हुआ है।

वर्ण-लोप के द्वारा दो प्रकार के कौतुक किये गये हैं १. मात्रा-च्युतक, २. वर्णाच्युतक, इन में वर्ण छोड़ दिये जाते हैं, और जान बूझकर ही केवल कुतूहल के लिये ऐसा किया जाता है यद्यपि उन वर्णों का रहना आवश्यक है—क्योंकि बिना उनके शब्द, पद एवं अर्थ ठीक २ नहीं समझ पड़ते। ऐसे वर्णों की खोज प्रसंगार्थ के आधार पर कल्पनानुमान के द्वारा की जाती है। यहाँ स्वयमेव कवि वर्णों को छोड़ देता है और दूसरे लोग उनकी पूर्ति करते हैं। दूसरे प्रकार में कवि वर्ण तो दे देता है परन्तु पाठकों से कहता है कि अमुक वर्ण छोड़कर पढ़ो और समझो। ये त्याज्य-वर्ण-शैली का कौतुक है। इस के साथ वर्ण-संचय भी एक प्रकार का वर्णाभ्यास है—इसमें सूच्य तथा निश्चित वर्णों को एकत्र करके शब्द बनाना और भाव समझना पड़ता है। यह सब कौतुक कूट तथा उसके भेदोपभेदों के रूप में आते हैं और प्रायः अलंकार (संकीर्णार्थ में) की सीमा से सर्वथा बाहर ही रक्खे जाते हैं।

इन्हीं प्रकार के कौतुकों में प्रहेलिका तथा उसके भिन्न भिन्न रूपों को भी लेना चाहिये, यद्यपि बहुतेरे आचार्यों ने इन्हें भी शब्दालंकारों के ही अन्तर्गत माना है।

हम यहाँ पर वर्ण-कौतुक-कला को विवेचना नहीं करना चाहते, क्योंकि यह हमारे विषय की साधारण सीमा से वाह्य है तथा अधिक स्थान और समय की आवश्यकता रखता है।

इसके प्रथम कि हम शब्दालंकारों का विवेचना करें, हम यह समीचीन समझते हैं कि पद या वाक्य-व्यवस्था या विन्यास सम्बन्धी अलंकारों के विषय में कुछ सूक्ष्म रूप से कह दें। वाक्य-विन्यास या पदव्यवस्था की विवेचना हमारे आचार्यों ने लालित्य, माधुर्य मार्दव, ओज तथा व्याकरणान्तर्गत समास सम्बन्धी नियमोपनियमों के आधार पर की है। इस प्रकार रीतियों तथा वृत्तियों का (जिनका विशेष सम्बन्ध वर्ण-व्यवस्था से ही है) विकास हुआ है। इसी लिये रुद्रटाचार्य ने वृत्तियों के लिये "समासवतीवृत्ति" ऐसा कहा है। जिस प्रकार वर्ण-चमत्कार के आधार पर पिंगल का एक अंश (एकाक्षरावृत्ति, द्व्यक्षरावृत्ति आदि से युक्त) एवं चित्र पृथक् बन गया है, उसी प्रकार पद एवं वाक्य-विन्यास के आधार पर गुणों तथा रीतियों के सिद्धान्त पृथक् पृथक् निकल कर प्रचलित हो गये और यहाँ तक इनकी महता बढ़ी कि रीति ही को काव्यात्मा भी मान लिया गया ("रीतिरात्मा काव्यस्य"—वामन और दंडी) गुणों को यद्यपि वामन ने काव्य का मुख्य अंग तथा रीति का परिपोषक माना है और अलंकारों को गुणों का उत्कर्षकारी एवं उपकारी कहा है किन्तु भामा और उद्भटादि ने गुणों और अलंकारों को समान ही माना है। ("उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणाम् प्रायशः साम्यमेव सूचितम्") वास्तव में बात भी यही है, कहना चाहिये कि ये रीति एवं गुण दोनों (वृत्तियाँ भी) वर्ण एवं पदों की

चमत्कृत व्यवस्था से ही उत्पन्न होते हैं अतः एक प्रकार के अलंकार ही हैं। अस्तु—

पद एवं वाक्य-विन्यास के दूसरे प्रकार का चमत्कार कुछ कवियों ने दिखलाया अवश्य है, किन्तु इसका विचार एवं विवेचन प्रायः सभी आचार्यों ने छोड़ ही दिया है। हां, वैद्यनाथ को अवश्य यह सूझा था और इसी लिये उन्होंने "विशेषण-वैचित्र्य" एवं 'अध्यवसाय' को भी अलंकारों के मूल तत्वों में रखा है। हम सूक्ष्म रूप में इन पर कुछ प्रकाश डाले देते हैं, किन्तु हमारा कहना है कि लोग इस पर विचार करें और इस कमी की पूर्ति भी करें। हमने इस विषय में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है और आशा है कि थोड़े ही समय में हम इस विषय पर अपना एक सिद्धान्त सुव्यवस्था के साथ उपस्थित कर सकेंगे।

पद-व्यवस्था के मुख्य रूप विशेषतया शृंखला मूलक अलंकार कहे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ निम्न रूपों को लीजिये :—

१—कर्ताक्रिया माला—वहन्ति वर्षन्ति नदन्तिभान्तिः ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति।
नद्यो घनाः मत्तगजाः वनान्ताः
प्रिया विहीना शिखिना प्लवङ्गमाः॥
—वाल्मीकि

२—कर्म माला
"धिक् तां च तां च मदनं च इमां च मां च"
भर्तृहरिः

इसी प्रकार क्रिया-माला भी लीजिये—इसके दो रूप हो सकते हैं—

१—समक्रिया माला—"रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं, भास्वानुदेष्यति हसिष्यति चक्रवालम्।

२—विषमक्रिया माला—इत्यादि

३—विशेषणादि की मालायें भी यों ही हमें प्राप्त होती हैं—यहाँ हम सब की विवेचना, सोदाहरण नहीं कर सके, केवल संकेतमात्र ही हमने दे दिया है।

अब आइये शब्द-चमत्कार की ओर।

केवल शब्द या शब्दों में ही जहाँ चमत्कार एवं सौंदर्य हो, वहीं शब्दालंकार की सत्ता होती है।

शब्द चूंकि वर्णों से बनते हैं, इसलिये प्रथम वर्णों के आधार पर ही कुछ भेद शब्दालंकार के हुये हैं, और फिर शब्दों एवं पदों के आधार। (देखो—शब्दालंकार के भेदों का वृत्त)

सबसे आवश्यक और प्रधान सिद्धान्त, जिस पर शब्दालंकारों की समस्त अट्टालिका ठहरी हुई है, यह है कि आवृत्ति की जावे, अर्थात् आवृत्ति ही, जिसके ३ मुख्य रूप होते हैं १—वर्णावृत्ति, २—शब्दावृत्ति ३—पदावृत्ति—शब्दालंकारों का मूलतत्व है, यही आधार है। इसका मुख्य कारण यही है कि मानवप्रकृति को आवृत्ति करने में कुछ विशिष्ट प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है, तथा यह पूर्णतया स्वाभाविक गुण ही सा है। इसकी ओर हृदय प्रायः विशेष रूप से आकृष्ट होता तथा हो जाया करता है।

यहाँ पर हम शब्दालंकारों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते हुये केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि इन अलंकारों में जिस प्रकार दर्शनीय विकास हुआ है उस प्रकार और दूसरे अलंकारों में नहीं हुआ, ऋग्वेदादि में शब्दालंकार दृष्टिगोचर नहीं

होते, और यदि होते भी हैं तो बहुत कम। यही हाल उपनिषदों में भी है, हाँ वाल्मीकीय रामायण में अवश्य ही शब्दालंकारों का अच्छा दर्शन होता है—उदाहरणार्थ लीजिये—"ववन्दे वरदं वन्दी विनयज्ञो विनीतवत्" देखिये आद्यानुप्रास की छटा, योंही अन्त्यानुप्रास का हाल देखिये—

"वहन्ति वर्षन्ति, नदन्ति, भाँति,
ध्यायन्ति, नृत्यन्ति, समाश्वसंति।

यही हाल महाभारत में भी है, तथा प्राचीन शिला-लेखों में भी शब्दालंकारों (यमक, अनुप्रास) का प्राधान्य है। अन्य प्राचीन काव्यग्रंथों (जैसे बुद्धचरित्र, वासवदत्ता, कादम्बरी आदि) में भी शब्दालंकारों का अच्छा व्यवहार किया गया है।

भरतमुनि के समय में १ ही शब्दालंकार (यमक—दो रूपों में १—वर्णाभ्यास या अनुप्रास २—पदाभ्यास या यमक) था, फिर धीरे धीरे इसमें विकास-वृद्धि होती गई, किन्तु अर्थालंकारों का प्राधान्य-प्राबल्य हो जाने से मध्यकाल तथा उत्तर मध्यकाल (१५ हवीं, १६ वीं शताब्दी) से इनके विकास में संकीर्णता आ चली। संस्कृत के आचार्यों ने इनके भेदोपभेदों की संख्या २४ तक पहुँचाई (यह केवल भोजराज ने किया), उपभेदों को छोड़कर (जिनकी संख्या कदाचित् संस्कृत में अधिक है) शब्दालंकारों के मुख्य भेदों की संख्या ८ या ६ ही है, जिनमें वक्रोक्ति, और चित्र भी सम्मिलित हैं। हमारे आचार्यों में से भिखारीदास ने इनमें पर्याप्त तथा अच्छा विकास किया है और कई एक नये शब्दालंकार दिये हैं—जैसे, १—पुनरुक्तप्रकाश, २—वीप्सा, और ३—सिंहावलोकन, साथ ही तुक का विवेचन भी, अन्त्यानुप्रास से इसे पृथक् दिखाते हुये, किया है, यद्यपि यह उसका एक विशिष्ट रूप ही है।

हम शब्दालंकारों के अन्दर वक्रोक्ति एवं चित्र को न लेकर (इन्हें हम क्रमशः अर्थालंकारों एवं वर्णकौतुकालंकारों के अन्दर दिखावेंगें) शेष समस्त अलंकारों को, जिनका सम्बन्ध पूर्णतया शब्द-सौंदर्य एवं शब्द-चमत्कार से ही है, इस कक्षा में रखेंगे, और उनकी व्याख्या एवं विवेचना करेंगे ।

शब्दालंकार-सूची

वर्णावृत्ति सम्बन्धी

अनुप्रास :—

(क) छेक (१) आद्यानुप्रास (२) मध्यानुप्रास (३) अंत्यानुप्रास ।

(ख) वृत्यनुप्रास, (१) उपना० (२) परुषा (३) कोमला ।

(ग) श्रुत्यनुप्रास (१) मिश्र (२) कंठ्य (३) तालु (४) मूर्धा (५) दन्त (६) ओष्ठ (७) नासिका ।

(घ) यमक का प्रथम रूप ।

(ङ) तुक—(वर्णावृत्ति मूलक) ।

(१) मध्यम (२) निकृष्ट (३) विषम तुक (स्वर साम्य) ।

शब्दावृत्ति सम्बन्धी

(१) यमक का द्वितीय रूप (२) पुनरुक्तवदाभास (३) पुनरुक्तप्रकाश (४) वीप्सा—(क) शब्दगत (वर्णगत) (५) सिंहावलोकन—१ शब्दावृत्ति (भिन्नार्थ, समार्थ) २ वर्णावृत्ति (शब्द, रचना, सार्थक) (६) तुक—(शब्दावृत्ति मूलक) १ उत्तम २ समतुक ३ स्वर साम्य ।

पदावृत्ति सम्बन्धी

(१) लाटानुप्रास (२) वीप्सा (पद या वाक्य गत) कुण्डलिया में ।

श्लेष—उसके भेद (शब्द-श्लेष)

नोट :—आवृत्ति के प्रथम दो मुख्य भेद होते हैं :—
१—सार्थकावृत्ति—जिसमें आवृत्ति सम्बन्धी वर्ण, शब्द और पद सार्थक हों । इसी के भेद ऊपर दिये गये हैं ।

२—निरर्थकावृत्ति :—जिसमें आवृत्ति-सम्बन्धी वर्ण, शब्द और पद निरर्थक ही हों । यथा—अमृतध्वनि आदि में ।

वर्ण्य-विषय-सौंदर्य—

- —रूपादि सम्बन्धी (नायक नायिका के रूप वर्णन, नख-शिख सौंदर्य)।
- —समय सौंदर्य (षट्-ऋतु शोभा—संध्या, प्रातः-चन्द्रसूर्योदयादि)।
- —देशस्थान सौंदर्य :—
  - (१) स्वाभाविक छटा।
  - (२) कृत्रिम, नगर, महल।
- —प्रकृति सौंदर्य :—
  - (१) मानव प्रकृति।
  - (२) नैसर्गिक।

  मानव-प्रकृति :—
  - (१) मानसिक, वृत्ति, भाव, राग, और रस।
- —अवस्था एवं दशा-सौंदर्य, (संयोग, वियोग, दैन्य, बाल, यौवनादि)।
- —गुण-सौंदर्य (शुभ गुणों का वर्णन)
- —क्रिया या कर्म-सौंदर्य (सत्कार्य एवं सच्चरित्र)।
- —जीवन-चरित्र या घटना-सौंदर्य (अन्य विप्लव, युद्धादि)।
- —क्रीड़ा-कौतुक कला-सौंदर्य (जल-क्रीड़ा, नृत्य, रास आदि)।

वर्णन सौंदर्य :—

(१) अर्थ-सौंदर्य (अर्थालंकार)।

(२) शब्द-सौंदर्य (शब्दालंकार)।

(३) भाषा में वर्णन शैली-सौंदर्य।

१ शब्दालंकार २ अर्थालंकार :—

(१) भाषा-सौंदर्य।

शब्दालंकार :—

(१) वर्ण सम्बन्धी (२) शब्द सम्बन्धी (३) पद सम्बन्धी

अनुप्रास (वर्ण सम्बन्धी)

(१) छेक (२) वृत्यनुप्रास (३) यमक प्रथम, यमक द्वितीय (४) तुक प्रथम, तुक द्वितीय (५) पुनरुक्तवदाभास (६) श्लेष (७) वीप्सा (८) पुनरुक्तप्रकाश (६) लाट (१०) सिंहावलोकन।

वृत्यनुप्रास (वृत्ति सम्बन्धी)

(१) उपनाम (२) परुषा (३) कोमला।

वीप्सा (शब्द सम्बन्धी)

(१) शब्दगता (२) पदगता (वाक्य गता) कुण्डलिया में।

शब्दगता (शब्द सम्बन्धी)

(१) संज्ञा (२) विशेषण (३) क्रिया आदि।

नोट :—कोई २ आचार्य वक्रोक्ति और चित्र को इसी के अन्दर मानते हैं।

अनुप्रास में एकाक्षरावृत्ति, द्वयक्षरावृत्ति आदि भी हैं इसे दंडी अर्थाभ्यास समुद्गमय यमक कहते हैं।

रसालंकार

प्राक्कथन

यह हम अपने पूर्वार्द्ध प्रकरण में प्रथम ही दिखाला चुके हैं कि भरत मुनि जी ही सबसे प्रथम आचार्य हैं। इन्होंने काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रंथ लिखा है और इस विषय की वैज्ञानिक तथा शास्त्रीय सुव्यवस्थित विवेचना बड़ी विद्वत्ता के साथ अद्वितीय शैली से की है। आपको ही रस-सिद्धान्त के आविष्कारक होने का श्रेय सब से प्रथम प्राप्त है। आप ही ने उस अप्रतिम नाट्यशास्त्र की रचना की है जिसे काव्य में पश्चात् काल के कतिपय आचार्यों के द्वारा प्रथम स्थान दिया गया है और "काव्येषु नाटकं रम्यं" कहा गया है।

आपने ४ अलंकारों (१—उपमा २—रूपक ३—दीपक और यमक) का ही विवेचन किया है, जिससे ज्ञात होता है कि आपके समय में काव्यालंकार शास्त्र का इतना विकाश अवश्य हो चुका था, फिर आगे इसका प्रवर्धन बड़ी द्रुतिगति एवं शक्ति के साथ भामा (मेधाविन्* जिसका परिचय या संकेत काव्यालंकार शास्त्र के एक आचार्य के रूप में भामा जी स्वयं देते हैं) उद्भट, दंडी, वामन, रुद्रट, एवं अन्य आचार्यों ने किया है, किन्तु जहाँ तक खोज से ज्ञात होता है नाट्यशास्त्र (नाट्यकला का वैज्ञानिक विवेचन) और रस सिद्धान्त का जन्म भरत जी के ही द्वारा सब से प्रथम इस पृथ्वी पर हुआ है।

---

* नामिसाधु—ने इनका उल्लेख किया है।

भरत मुनि ने रसों की प्रधानता नाटक में ही पूर्ण रूप से दिखलाई है, और नाटकों को रस-सिद्धान्त के ही आधार पर समाधारित किया है, और इसीलिये रस-सिद्धान्त की विस्तृत एवं सर्वाङ्ग पूर्ण व्याख्या एवं विवेचना की है, यहाँ तक कि उस में फिर और कुछ अधिक विकास करने की आवश्यकता या जगह ही नहीं रह सकी। इस सिद्धान्त को आपने मानवप्रकृति एवं हृदय के मर्मों के आधार पर उनकी पूर्ण गवेषणा करके निर्धारित किया है। वास्तव में रसों का पूर्णोदय एवं प्रभाव मानवहृदय या मन पर ही सदैव स्वाभाविक रूप से मिलता है।

यहाँ पर इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिये कि इस काल में यह रससिद्धान्त अपना सम्बन्ध सब प्रकार नाटक या नाट्यशास्त्र से ही रखता था, इसकी सीमा यहीं तक थी, उसके बाहर इसका आतंकालोक न था, काव्यशास्त्र में, जहाँ अलंकारों की ही आभा पूर्णतया निखरी बिखरी थी, इसकी प्रतिभा फीकी ही थी। यह अवश्य था कि दोनों में एक प्रकार से सूक्ष्म तथा दूर का सम्बन्ध था।

नाट्यशास्त्र में अलंकारों को भी अच्छा स्थान प्राप्त था और वे नाटक को सुशोभित करने वाले, उसकी भाषा के सौंदर्य एवं चमत्कार को उत्कर्ष देने वाले उपयुक्त उपकारी, सहायक, सम्बन्धी या अंग माने जाते थे। यह बात इससे स्पष्ट एवं पुष्ट हो जाती है कि भरतमुनि ने भी ४ अलंकारों की, जिनसे नाटक का घनिष्ठ सम्बन्ध है, उनको आवश्यक अंग सा मानते हुये, विवेचना अपने नाट्यशास्त्र में की है।

साथ ही इसे भी ध्यान में रखना चाहिये कि नाटक, और नाट्यशास्त्र, इस उपर्युक्त प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध काव्य एवं काव्यालंकार शास्त्र से रखते हुये भी, इन दोनों से उस समय तथा

उसके बहुत समय पश्चात् तक पूर्णतया पृथक् ही जाने माने जाते थे। स्वयं भरत मुनि ने यह पार्थक्य प्रगट किया है, और काव्य को नाटक से अलग ही दिखलाया है, हाँ काव्य का एक रूप वे नाट्य सम्बन्धी नाटक को अवश्य सूचित करते हैं। उनके विचार से काव्य में नाटकीय एवं नाटक में काव्य सम्बन्धी कुछ तत्व अवश्य होने चाहिये। काव्य ऐसा होना चाहिये कि वह नाटक के समान एक चित्र सम्मुखोपस्थित कर सके, वह कुछ चित्रोपम हो अवश्य, यदि वह पूर्णतया नाटक के समान पात्रों आदि के द्वारा प्रत्यक्षीकृत न किया जासके। साथ ही वह घटनासम्बन्धी, जीवनात्मक एवं वर्णनात्मक भी हो, उसमें चरित्र-चित्रण और प्रबंध-विन्यास हो, तथा वह रसयुक्त भी हो। हाँ, वह अभिनय युक्त हो या न हो। इसी प्रकार नाटक भी काव्यमय हो, उसकी भाषा सालंकृत हो, चमत्कृत हो, तथा सुन्दर और मधुर मार्दव पूर्ण हो कर प्रसाद गुण से युक्त हो।

किन्तु इस विचार का प्रभाव उस समय कुछ विशेष न पड़ा, काव्य अपने रंग ढंग में वैचित्र्य एवं अलंकृत सौंदर्य-चमत्कार ही को विशेष रूप से प्रधान रखता हुआ पृथक् ही चलता रहा। नाटक सम्बन्धी रससिद्धान्त का प्रभाव इस पर अलंकार-चमत्कार के प्रबल बल के कारण कुछ भी न पड़ सका।

कुछ काल के उपरान्त जब नाटकों का विकास, विवर्धन, प्राधान्य एवं प्राबल्य बढ़ चढ़ चला और जनता इनकी ओर विशेष आकृष्ट हो चली, कवि लोग भी इनके गुणों के वशीभूत हो इनसे प्रेम करने लगे, तथा जब अच्छे कवियों के द्वारा इनमें काव्यता की भी पर्याप्त पुट आ गई, तब अवश्य ही काव्य-क्षेत्र में इनकी तूती बोल उठी और इन्हें रम्यता के विचार से काव्य में प्रथम स्थान भी दे दिया गया। इस प्रकार इनका जब आतंक काव्य-क्षेत्र में

रम जम चला तथा इनके द्वारा जब काव्य में रससिद्धान्त की व्यापकता बढ़ चली, तब काव्यालंकार शास्त्र के आचार्यों को कुछ ऐसे अलंकारों की भी रचना एवं कल्पना करनी पड़ी, जिनका सम्बन्ध सीधे सीधे रससिद्धान्त से ही है। इस प्रकार नाटक और काव्य, नाटकात्मा रस और काव्यात्मा अलंकार (जैसे भरत और भामा के विचार हैं) तथा नाट्य शास्त्र और काव्यलंकार शास्त्र का सुन्दर सम्मिलन हो चला।

भामा के ही समय से इस बात की आवश्यकता प्रतिभात होने लगी, कि रस-सम्बन्धी अलंकारों का भी समावेश काव्यालंकार शास्त्र के अलंकार-प्रकरण में किया जावे। भामा ने स्वयं प्रेयस रसवत, ऊर्जस्वि,एवं समाहित, नामी अलंकार, जिनका सम्बन्ध सब प्रकार रस-सिद्धान्त से ही है, अन्य प्रकार के अलंकारों के साथ दिये हैं। ऐसा ही दंडी, उद्भट एवं रूय्यक प्रभृति आचार्य भी करते हैं। हाँ, साथ ही कुछ ऐसे आचार्य भी हैं जो सर्वथा शुद्ध अलंकार सिद्धान्त वादी हैं और इसीलिये वे रस सन्बन्धी अलंकारों को काव्यालंकार के प्रकरण में कोई भी स्थान नहीं देते। ऐसे आचार्यों में से वामन, हेमचन्द्र, जयदेव एवं अप्पय आदि मुख्य हैं।

रससिद्धान्त का इतना प्रभाव, जैसा उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है, काव्यालंकार सिद्धान्त पर पड़ गया, और उस समय में भी जब काव्य एवं काव्यशास्त्र के क्षेत्रों में अलंकार-सिद्धान्त का ही एक-छत्र साम्राज्य था। पश्चात् काल में तो रस-सिद्धान्त का इतना ज़ोर हुआ कि इसके सामने अलंकार-सिद्धान्त को कुछ घटना ही पड़ा और उसका प्रधान स्थान छिन सा गया, उसके स्थान पर रस-सिद्धान्त आकर जम गया और अलंकार-सिद्धान्त को गौण स्थान में ही रह कर संतोष करना पड़ा।

वास्तव में यदि देखा जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में अलंकारों का ही स्थान प्रधान माना जाना चाहिये और ऐसा स्वाभाविक ही है, क्योंकि अलंकारों के बिना काव्य वस्तुतः काव्य नहीं रह जाता। उसमें रस-परिस्राव भले ही ख़ूब गहरा हो। रसों का सम्बन्ध उन मानोवेगों एवं मानसिक भावनाओं से ही है, जो मानव प्रकृति के लिये साधारणतः नितान्त नैसर्गिक ही हैं। यह प्रत्यक्ष है कि बिना रस के भी अलंकारों का चारु चमत्कार काव्य में मनोरंजक आनन्द की उत्पत्ति कर देता है; रसों के रहने पर तो अलंकारों का सुखद सौंदर्य उस रस को और भी बढाता-चढाता हुआ अपना विशिष्ट रूप दिखाता ही है।

यह बात भी देखी जाती है, कि बिना अलंकारों के भी सरस काव्य की सत्ता होती है, किन्तु उसमें एक और कुछ फीका-पन रहता ही है। यही विचार कर उक्ताचार्यों ने दोनों का सुन्दर सामंजस्य एवं सम्मेलन रस सम्बन्धी अलंकारों के द्वारा करने का प्रयत्न किया था।

यह भी ध्यान में रखने की बात है कि कोई भी बात कितनी ही रसयुक्त क्यों न हो, यदि वह अच्छे ढंग से कही या प्रकाशित न की गई तो उसका सारा सरस सौंदर्य मारा जाता है और वह अपना प्रभाव भी पूर्णतया नहीं डाल सकती, इसीलिये कतिपय आचार्यों ने अलंकार-चमत्कार को ही प्रधानता दी है—
"अलंकारानां एव काव्ये प्राधान्यम् इति प्राच्यानाम् मतम्।"

रस सम्बन्धी ऐसे अलंकारों को छोड़ कर, जिनका स्वतंत्र स्थान निश्चित कर दिया गया है, कतिपय ऐसे अर्थालंकार भी हैं जो रसोत्पादक, रसोत्कर्षक एवं रसपरिपोषक न भी होते हुये अपनी विचित्रता से ही रस की उत्पत्ति सी करते हैं, उदाहरणार्थ हम यहाँ

असम्भवालंकार को लेते हैं—यह अलंकार अपने विशिष्ट वैचित्र्य-चमत्कार से अद्‌भुत रस का उत्पादन कर देता है। अस्तु—

हमारे हिन्दी के आचार्यों में से वे आचार्य, जो अलंकार-सिद्धान्तवादी हैं और अप्पय एवं जयदेव के मतानुयायी हैं, रस सम्बन्धी अलंकारों को बिलकुल ही छोड़ देते हैं, किन्तु वे आचार्य, जो संस्कृत के अन्य आचार्यों के अनुयायी हैं, अवश्य ही इन्हें अलंकारों में परिगणित करते हैं। केशवदास ने प्रेय, रसवत् (रसमय), ऊर्जस्वि, और समाहित चारों रसालंकारों का का वर्णन किया है।

यही भिखारीदास ने भी किया है और चतुर्थ उल्लास (काव्य निर्णय के) में रस के अपरांगों में इन चार अलंकारों को भी दिखलाया है। देव ने भी रसालंकारों को अपनी सूक्ष्म अलंकारावली में स्थान दिया है, हाँ प्रेय को छोड़ दिया है, शेष तीनों अलंकारों (ऊर्जस्वि, रसवत्, और समाहित) को स्पष्ट दिखलाया है।

लछिराम, दूलह, और पद्माकर ने भी इन रसालंकारों की विवेचना (परिभाषा एवं उदाहरण के रूप में) की है। शेष सभी लेखकों ने इन्हें छोड़ दिया है। अस्तु—यह देख कर कि हमारे मुख्याचार्यों ने रसालंकारों का वर्णन किया है, हम भी यहाँ पर आगे उनकी सोदाहरण परिभाषायें दे देना उचित समझते हैं।

रसालंकार :—

(१) प्रेयस या प्रेय।
(२) रसवत् या रसमय।
(३) ऊर्जस्वि।
(४) समाहित।

भावालंकार

—:*:—

प्राक्कथन

भावालंकारों के सम्बन्ध में हमें कुछ विशेष नहीं कहना, क्योंकि इनका जन्म एवं प्रचार बहुत काल पश्चात् हुआ है, और फिर बहुत कम लेखक या आचार्य इन्हें उठाते हैं।

रस-सिद्धान्त के विधाता श्रीभरतमुनि ने रसों की विस्तृत विवेचना करते हुये भावों का भी निरूपण किया है। रसों और भावों (विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी, सात्विकादि) का सम्बन्ध सीधे सीधे हृदय से है। इनमें मनोवेगों एवं मनोवृत्तियों का ही प्राधान्य रहता है। इनके द्वारा काव्य के उस अंग की वैसे ही पूर्ति होती है, जिसका सम्बन्ध मानव-हृदय के मनोवेगों, उसकी भावनाओं तथा वृत्तियों (Feelings and Emotions) से है, जैसे अलंकारों के द्वारा काव्य के मानव-मस्तिष्क सम्बन्धी अंग में पूर्ति एवं विशेष स्फूर्ति आती है। यह अवश्य है कि रसों एवं भावों का प्रभाव मानव-मस्तिष्क पर भी पड़ता है और इसीलिये इनका सम्बन्ध मस्तिष्क से भी है। कह सकते हैं कि रस और भाव-सिद्धान्त शारीरिक तथा मानसिक विज्ञानों के आधार पर ही आधारित हैं। अस्तु—

रसालंकारों का समावेश काव्यालंकारों के क्षेत्र में भावालंकारों के पूर्व ही हुआ था, यद्यपि रस-सिद्धान्त का ही एक अंग भाव-सिद्धान्त भी है। ऐसा ज्ञात होता है कि प्रथम काव्य

प्रबंधात्मक (महाकाव्य के) रूप में बहुधा न रचा जाता था। इसी लिये उसमें रस तो रहते थे किन्तु भावादि विशेष रूप या किसी भी रूप में न रहते थे, पश्चात् काल में नाटकों से प्रभावित हो काव्य ने प्रबंधात्मक रूप धारण कर लिया, तब भावादि की वर्तमानता उसमें आवश्यकापेक्षित हुई। ऐसी ही दशा में आचार्यों को भावालंकारों के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई। बस इनका जन्म होगया, हाँ, इनका भी विकास एवं विस्तार रसालंकारों के समान न हो सका—क्योंकि मस्तिष्क-सम्बन्धी अलंकार-चमत्कार का ही प्राधान्य एवं प्राबल्य काव्य में विशेष रूप से रहा।

रुय्यकाचार्य्य ने तीन ही भावालंकार दिये हैं—

भावोदय, भावसंधि, और भावशवल।* भोजदेव ने केवल एक भावालंकार दिया है। हेमचन्द्र ने भी भावालंकारों को रसालंकारों के साथ उठाया और दिखाया है। इस प्रकार कुछ थोड़े ही आचार्य इनको अलंकारों की गणना में परिगणित करते हैं। हाँ, अलंकार सिद्धान्तानुयायी प्रायः सभी आचार्य जो काव्य में मनोविज्ञान के सिद्धान्तों तथा मानव-मस्तिष्क सम्बन्धी आनन्द के अंश को प्रधान तथा विशेष मानते हैं, इन अलंकारों को अलंकार नहीं मानते और इसीलिये इनकी विवेचना भी नहीं करते।

हमारी हिन्दी भाषा के प्रमुख आचार्यों में भी यही बात देखने में आती है। कुछ तो इनको अलंकार मान कर इनकी विवेचना करते हैं, और कुछ इनमें अलंकार-चमत्कार नहीं देखते और इसीलिये इन्हें सब प्रकार छोड़ ही देते हैं।

---

* मम्मट ने भी इन्हीं अलंकारों को उठाया है और वेही तीन अलंकार दिये हैं, जिन्हें रुय्यकाचार्य ने दिया है।

भिखारीदास ने अपने काव्य-निर्णय के तृतीयोल्लास में रसालंकारों के साथ पाँच भावालंकार भी—१ भावोदय २ भावसंधि ३ भावशवल (जिन्हें रूय्यक और मम्मट ने लिया है) ४ भावशान्ति ५ भावाभास, दिये हैं।

मतिराम के ललित-ललाम पर टीका करने वाले गुलाब कवि ने प्रथम तीन ही भावालंकार दिखाये हैं, किन्तु मतिराम जी ने इन्हें नहीं लिया।

पश्चात् के आचार्यों में से मुख्यतया लछिराम, दूलह और पद्माकर ने उन्हीं तीन प्राथमिक भावालंकारों को दिखाया है। शेष सभी आचार्यों के प्राप्य ग्रन्थों में प्रायः भावालंकारों का नितान्तमेव अभाव ही है।

भावालंकार :—

(१) भावोदय (२) भावसंधि (३) भावशवल (४) भावशान्ति (५) भावाभास।

मिश्रालंकार प्रकरण

प्राक्कथन

हम प्रथम ही यह दिखला चुके हैं कि जहाँ शब्द और अर्थ दोनों में सौंदर्य एवं चातुर्य-चमत्कार होता है वहाँ उभयालंकार माना जाता है। कह सकते हैं कि यह शब्द एवं अर्थ दोनों से समान सम्बन्ध रखता है। अब हमें यहाँ यह दिखलाना है कि इसी के समान, केवल कुछ ही अन्तर के साथ, अलंकारों का एक ऐसा मिश्रित रूप भी होता है जिसमें दो अलंकारों का मिश्रण होने पर भी उभयालंकारों की भाँति शब्दार्थ सम्बन्धी चातुर्य-चमत्कार एवं सौंदर्य की समष्टि नहीं पाई जाती।

जब एक ही प्रकार के दो अलंकार एक साथ मिल कर ऐसी एकरूपता धारण कर लेते हैं कि वे पृथक् नहीं किये जा सकते, यद्यपि दोनों की सत्ता प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट दीखती है, तब मिश्रालंकार की उपस्थिति वहाँ मानी जाती है। अर्थात् एक ही प्रकार के दो अलंकारों के सर्वथा संयुक्त रूप को मिश्रालंकार कहते हैं।

ध्यान रखना चाहिये कि उभयालंकार तथा इसमें बहुत बड़ा अन्तर है :—

उभयालंकार के समान मिश्रालंकार, शब्द और अर्थ दोनों से सम्बन्ध न रखता हुआ केवल अर्थालंकारों से ही घनिष्ट और पूर्ण सम्बन्ध रखता है। इसमें शब्दालंकार का कोई भी अंश नहीं रहता।*

---

* केवल कुछ ही प्रतिवाद इस व्यापक नियम के हैं—जैसे, श्लेषोपमादि—

दो अर्थालंकारों के समान अंशों से मिला हुआ एक विशिष्ट रसायन के रूप का नवीन अलंकार होता हुआ उभयालंकारों से यह अपनी महत्ता एवं सत्ता पूर्णतया स्वतन्त्र या पृथक् ही रखता है।

उभयालंकारों में कभी तो शब्दालंकार का तत्व और कभी अर्थालंकार का अंश अपनी विशिष्ट प्रधानता रखता है, किन्तु मिश्रालंकारों में अर्थालंकारों के दोनों अंशों में समान प्राधानता रहती हैं।

इन मुख्य मुख्य विशेषताओं के कारण मिश्रालंकार दो या अधिक अलंकारों के सम्मिलित रूप संकर और संसृष्टि नामी अलंकारों से भी पूर्णतया पृथक् है।

संकर और संसृष्टि की सत्ता दो प्रकार के न्यायों—नीर-क्षीर न्याय, तिल तंडुल न्याय पर, जिस प्रकार समाधारित है, उसी प्रकार मिश्रालंकारों की सत्ता किसी न्याय विशेष पर नहीं स्थित होती है। इसीलिये यह सब प्रकार इनसे पृथक् है।

उभयालंकार और मिश्रालंकार

अन्तर

उभयालंकार :—

(१) अंशतः शब्दालंकार, और अंशतः अर्थालंकार है।

(२) दो पृथक् कक्षाओं के अलंकारों का संयोग है।

(३) एक अंश प्रधान, दूसरा इसमें गौण रहता है।

मिश्रालंकार :—

(१) सर्वथा अर्थालंकार ही है, शब्दालंकार से सम्बन्ध नहीं रखता।

(२) दो समकक्षा के अलंकारों की संयुक्त एकरूपता का नया रूप है।

(३) दोनों अंश समान रूप से प्रधान रहते हैं।

इसमें दो अर्थालंकार अपना अपना गुण एवं स्वभाव स्पष्ट रूप से दिखाते हुये भी अपनी एकरूपता को प्रत्यक्ष करते रहते हैं।

इन्हीं सब बातों को देख कर हमने इन अलंकारों को एक पृथक् वर्ग में ही रख दिया है, यद्यपि किसी भी आचार्य ने ऐसा नहीं किया। यह अवश्य है कि आचार्यों ने इनकी रचना अवश्य की है, तथापि न तो इनका विशेष विकास ही हो सका और न इनका नामकरण एवं वर्गीकरण-संस्कार ही हुआ है। कदाचित् इसका कारण यह हो कि चूंकि ये मिश्रालंकार एक कक्षा के दो अलंकारों के विचित्र संश्लेषण मात्र हैं, इसलिये यह मिश्रित-रूप उन कक्षाओं के बाहर नहीं जा सकते, उन्हीं के अन्दर ही रहते हैं।

दो अर्थालंकार मिलकर यद्यपि एक नये रूप में बन जावेंगे तथापि रहेंगे अर्थालंकार ही। कदाचित् यही कारण है कि इनका कोई पृथक् वर्ग नहीं बनाया गया।

हमने केवल अपने पाठकों की सरलता एवं सुबोधता के लिये इनका एक पृथक् वर्ग बना दिया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से इन अलंकारों पर यदि विचार किया जावे तो पता चलता है कि इनका जन्म काव्यालंकार शास्त्र के प्रारम्भिक काल में ही हो गया था। हाँ, यह अवश्य है कि प्रथम कुछ अलंकारों का पर्याप्त विकास हो गया था; तब अलंकारों के मिश्रण से नये अलंकारों की रचना का भाव उदीयमान हुआ। मिश्रण के द्वारा विकास का यह विशेष ढंग एक सुन्दर प्रवर्धन-कारी ढंग या साधन है।

आचार्य भामा ने उपमा और रूपक नामी दो अर्थालंकारों को मिलाकर उपमारूपक नामी एक नया अलंकार दिया है। इसको वामनाचार्य ने भी स्वीकार किया है।

ऐसा जान पड़ता है कि कदाचित् इसी सिद्धान्त (संश्लेषण या मिश्रण सिद्धान्त) के आधार पर, कुछ विशेष परिमार्जन एवं परिवर्तन के साथ, संकर और संसृष्टि नामी अलंकारों का जन्म हुआ है।

खेद है कि यह शैली कुछ विशेष रूप से फल फूल न सकी, और पश्चात् के आचार्यों ने इसकी ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया, कह सकते हैं कि पश्चात् काल में इसका नवजात पौदा एक प्रकार से उखाड़ ही डाला गया।

हिन्दी के आचार्यों में से केशवदास ने इसकी ओर पर्याप्त ध्यान दिया था, उन्होंने ऐसे सब मिश्रालंकारों का एक पृथक् वर्ग न रख कर किसी न किसी प्रधान अर्थालंकार के (जिसका प्रभाव इनकी उत्पत्ति पर विशेष था) उपभेदों के रूप में उसी के अन्दर ही रख दिया है। उदाहरणार्थ लीजिये—(१) रूपक-रूपक (२) संशयोपमा (३) हेतूपमा (४) अतिशयोपमा (५) उत्प्रेक्षोपमा (६) श्लेषोपमा (७) असंभवोपमा (८) विरोधोपमा (९) रूपकातिशयोक्ति और अन्यान्य ऐसे ही कतिपय अलंकारों के उपभेद।

केशवदास के पश्चात् जो आचार्य मध्यकाल में हुये हैं, उन्होंने इस प्रणाली को सब प्रकार छोड़ ही दिया है।

बहुत दिनों के पश्चात् लछिराम जी ने फिर इस शैली को उठाया और कुछ नये मिश्रालंकार रचे—जैसे, (१) अपन्हव

(अपन्हुति+उत्प्रेक्षा)। (२) मुक्तप्रकाशी (एकावली+प्रश्नोत्तर) एवं (३) विशेषक (सामान्य+विशेषालंकार)।

किन्तु फिर भी इस शैली का दुर्भाग्य इसके विकास एवं विस्तार के पथ पर बाधक के रूप में खड़ा ही रहा, इसका विशेष एवं मुख्य कारण कदाचित् यही था कि प्रायः सभी हिन्दी आचार्य संस्कृत-काव्यालंकार शास्त्र के ऐसे आचार्यों के आधार पर चलते रहे जिन्होंने इस शैली को ग्रहण ही नहीं किया था।

यदि अब भी हमारे विद्वान् इस ओर ध्यान देने का कष्ट करें तथा हमारे कुशल कविवर इनका ध्यान रखते हुये मिश्रालंकारों के आधार पर काव्य-रचना कर उनकी उन्नति करें तो बहुत कुछ मौलिक विकास हो सकता है।

नोटः—अर्थालंकार सम्बन्धी मिश्रालंकारों की भाँति दो या अधिक शब्दालंकारों के अभिन्न रूप से एक रूपता के साथ मिलने पर शब्दालंकार सम्बन्धी द्वितीय प्रकार का मिश्रालंकार जानना चाहिये। वृत्यानुप्रास और छेक के संयोग से, तथा इसी प्रकार अन्य अनुप्रासों के संयोग से इसके कई रूप हो सकते हैं। विस्तार-भय से हम उन्हें नहीं दे रहे हैं, पाठक स्वयमेव देखलें।

वर्ण कौतुक

प्राक्कथन

काव्य में जहाँ वर्णों की विचित्र व्यवस्था के द्वारा चातुर्य चमत्कार का सौंदर्य एवं कला-कौशल का परिचय दिया जाता है और इसी के द्वारा कौतुक तथा कुतूहलप्रेमी मन या मस्तिष्क को आनन्द प्राप्त कराया जाता है, वहाँ वर्ण-कौतुक अलंकार कहा जा सकता है। यह संज्ञा अवश्यमेव काव्यालंकार शास्त्र के क्षेत्र में नितान्त ही नवीन है, किन्तु हमारी समझ में यही नाम उपयुक्त ठहरता है, क्योंकि इसमें और कोई अन्य प्रकार का विशिष्ट चमत्कार नहीं होता, केवल वर्णों के साथ कला-कुशल कवि एक विचित्र प्रकार का, कुतूहल उत्पन्न करने वाला खेल या कौतुक ही करता है, इसी कौतुक से मानव-मन को आनन्द प्राप्त होता है।

हम जानते ही हैं कि मानव-मस्तिष्क बड़ा ही कौतुकप्रिय है, इसे खेल तथा कुतूहल बहुत ही प्यारा है, साथ ही इसे कला से भी गहरा प्रेम है, इसीलिये अपनी इन दो प्रकार की वृत्तियों की शान्ति के लिये वह ऐसी क्रीड़ाओं तथा लीलाओं में आनन्द लेता हुआ प्रवृत्त होता है। यही एक मुख्य कारण-भूत आधार है जिस पर वर्ण-कौतुक सम्बन्धी समस्त अलंकारों की अट्टालिका खड़ी की गई है।

इस कला के विकास तथा इसकी उत्पत्ति और वृद्धि में मुख्यतया निम्न मनोवृत्तियों का हाथ है :—

(१) वैचित्र्य-विनोद—इस वृत्ति के प्रभाव से मन को वस्तुओं को विचित्र रूप देने या उस रूप के देखने से प्रसन्नता प्राप्त होती है। यह विनोद कई प्रकार के साधनों से साध्य होता है—(अ) क्रम-वैचित्र्य—पदार्थों को विचित्र क्रम से संकलित एवं व्यवस्थित करना—इसके प्रभाव या आधार पर चित्रालंकार (संकीर्णार्थ में—अर्थात् चित्र बना कर उनमें काव्य की पदावली या वर्णावली का विश्लेषण कर व्यवस्थित करना) जैसे—कमल-बंध, छत्रबंध, एवं कपाटबंधादि निखरे बिखरे हैं। सर्वतोभद्रादि भी इसी के उदाहरण हैं।

(२) व्यवस्था-वैचित्र्य—इससे ऐसे कला-कौतुक पूर्ण काव्य को सहायता प्राप्त होती है। जिसमें गतागत, अनुलोमानुलोम, प्रतिलोमपादादि कुतूहलोत्पादक खेल होते हैं।

(३) गुप्तोद्घाटन :—गुप्त रहस्य या बात का पता लगा कर उसका उद्घाटन करना और आनन्द प्राप्त करना। इससे सम्बन्ध रखने वाले वे खेल हैं जिनमें कुछ छिपा दिया जाता है और दूसरों को उसे खोजना पड़ता है। जैसे—

अन्तर्लापिका, वहिर्लापिका, अक्षरच्युतक, वर्णच्युतक, प्रहेलिका—आदि। इसी का एक रूप त्याज्याक्षर भी है जिसमें अक्षर विशिष्ट छोड़ देना आवश्यक होता है।

(४) वचन-वक्रता—प्रायः मनुष्य किसी बात को सीधे सीधे न कह कर उसे घुमा फिरा कर टेढ़े मेढ़े ढंग से कहना पसंद करता है—इससे उसे एक विलक्षण आनन्द मिलता है। इसके आधार पर कूट (दृष्टकूट) आदि का निर्माण होता है।

(५) जिज्ञासा—किसी रहस्य के जानने की इच्छा से प्रेरित होकर मनुष्य प्रश्नों का सहारा लिया करता है। इसके आधार पर प्रश्नोत्तर सम्बन्धी अलंकारों की रचना होती है।

(६) वाक्-छल—अपनी बात को ऐसे छल के साथ कहना कि उसका मर्म स्पष्ट होता हुआ भी गुप्त और कौतुक उत्पन्नकारी हो। इसके कई रूप होते हैं—१, वर्ण-छल–वर्णों से बात या शब्दादि को उत्पन्न करना, जैसे—तीन ललकर ल्याइहैं.........
२, शब्दछल—शब्दों के भिन्नार्थ के बल पर खेल करना तथा कुछ कहते हुये कुछ भाव रखना, जैसे—ग्यारा के दूनी करत शोर, भोर भयो.........

(४) व्यवस्थान्वय छल—शब्दों की व्यवस्था से छल करना तथा विशिष्टान्वय से उसे स्पष्ट करना, जैसे—

पाप करै सो तरै तुलसी कबहूँ न तरै हरि के गुन गाये।

इन सबके अतिरिक्त भी कौतुक-प्रिय मानव-प्रकृति के वैलक्षण्य से अनेकों प्रकार के कौतुकपूर्ण काव्य-कुतूहल में कवि लोग कौशल दिखलाते हैं। विस्तार-भय से हमने उन्हें सूक्ष्मरूप से ही दिखाया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि वर्ण-कौतुक का प्रारम्भ बहुत प्राचीन काल में ही हो चुका है। हम प्रथम ही दिखला चुके हैं कि २०० या ४०० वर्ष पूर्व ईसा के शिला-लेखों में वर्ण-कौतुक अपने कई प्रकार के रूपों में स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। यह अवश्य है कि आर्ष-ग्रन्थों एवं वेदोपनिषदादि ग्रन्थों में इनका नितान्त अभाव है, इनके शुद्ध साहित्यिक अंग—शब्दालंकार, अवश्य उनमें पाये जाते हैं। बाण की कादम्बरी से अवश्य यह पता चलता है कि वर्ण-कौतुक के कई अंगों का निर्माण एवं विकास उसके समय तक हो चुका था और उस समय भी हो रहा था—क्योंकि उसमें अक्षरच्युतक, प्रहेलिका आदि के नाम तथा उनकी कला में कौशल का स्पष्ट उल्लेख है।

चित्रालंकार के विषय में, भरत, भामा और उद्भट कुछ भी नहीं कहते। दंडी ने अवश्य ही इनका विस्तृत विवेचन किया है। अतः स्पष्ट है कि उसके समय तक इस विषय का पर्याप्त विकास हो चुका होगा। मम्मट जी यद्यपि इनका कुछ अधिक मूल्य नहीं दिखाते, तो भी रुद्रट के आधार पर इनकी विवेचना अवश्य करते हैं।

जो आचार्य किसी सिद्धान्त-विशेष के प्रवर्तक या परिपोषक हैं वे तो भले ही इस साहित्यिक चित्र-कला को दूर रखते हैं, किन्तु जो सर्वाङ्गपूर्ण काव्यालंकार-शास्त्र के सिद्धान्तों का संचयन करते हैं वे इसे लेते ही चलते हैं।

कहना न होगा कि इस साहित्यिक कौतुक ने अपनी महत्ता-सत्ता इतनी रमा जमा दी थी कि इसे भी काव्यालंकार-शास्त्र के अन्यांगों की भाँति उनके ही साथ महाकाव्य जैसे क्षेत्र में एक प्रशस्त स्थान प्राप्त हो गया, और इस कला का प्रदर्शन महा-काव्य के किसी एक भाग में करना प्रत्येक कवि के लिये आवश्यक एवं नियमानुकूल ठहराया गया। *

इस वर्ण-कौतुक को हमारे आचार्यों ने चित्र (विचित्र) काव्य की संज्ञा दी है और शब्दालंकारों के अन्तर्गत इसे रक्खा है। कदाचित् अभिप्राय यह है कि शब्द चूंकि वर्णों से बनते हैं और वर्ण शब्दों में आते हैं इसलिये वर्ण-सौंदर्य एवं वर्ण-चमत्कार या कौतुक को भी शब्दालंकार ही के अन्दर आना चाहिये, किन्तु हमारा पक्ष यह है कि चूंकि वर्ण शब्दों के मूल आधार एवं तत्व हैं, शब्द अपनी सत्ता एवं उत्पत्ति के लिये वर्णों के आधार पर ही सर्वथा समाधारित हैं तथा वर्ण प्रथम हैं और शब्द जो वर्णों से बनते हैं

---

*देखो किरातार्जुनीय, माघ, भट्टी, आदि महाकाव्य।

पश्चात् में आते हैं, इसलिये शब्दालंकारों को भी वर्ण-सौंदर्य एवं वर्ण-वैचित्र्य के अन्दर लेना चाहिये। यदि विचार-पूर्वक सूक्ष्म-दृष्टि से देखा जावे तो यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि शब्दालंकार (यमकानुप्रासादि) सब प्रकार वर्ण-कौतुक पर ही आधारित हैं (वे वर्णावृत्ति के ही रूपान्तर हैं)। जैसा हम प्रथम दिखला चुके हैं। इसी विचार से हमने वर्ण-कौतुक नामी व्यापक संज्ञा को मूल मान कर शब्दालंकारादि को उसकी शाखा प्रति-शाखाओं के रूप में दिखलाया है।

इस कला के निरूपण में यह बात भी देखने में आती है कि कुछ आचार्यों ने इसके अंगरूप शब्दालंकारों (अनुप्रास यमकादिक) को ही लिया है और इसके दूसरे सभी अंगों को छोड़ दिया है। किन्तु कुछ ऐसे हैं जो इसके उस अंग को भी शब्दालंकारों के साथ दिखलाते हैं जिसे हमने चित्र (तसवीर मूलक) तथा वर्ण-सम्बन्धी कौतुक-वैचित्र्य के नाम से रखा है।

रुद्रटाचार्य ने अपने काव्यालंकार के पंचमाध्याय में चित्रा-लंकार के अन्दर इस कला के कुछ अंगों की व्याख्या की है और चक्रबंध, मुरजबंध, अर्धभ्रमक, सर्वतोभद्र, मात्राच्युतक, एवं प्रहे-लिकादि की विवेचना दी है।

भोजराज ने भी इनको २४ शब्दालंकारों में रखा है और इन पर प्रकाश भी डाला है। रूय्यक ने भी चित्रालंकार दिये हैं। इसी प्रकार वाग्भट्ट, हेमचन्द्र, मम्मट, केशव मिश्र तथा विद्याधर आदि उत्तरकाल के लेखकों ने भी शब्दालंकारों के साथ चित्रालंकारों का वर्णन किया है।

यहाँ यह बात और ध्यान में रख लेना चाहिये कि चित्रा-लंकारों के वर्णन में चित्र सम्बन्धी तथा कुछ थोड़े कौतुक सम्बन्धी

चमत्कारिक रचनाओं के अतिरिक्त वर्ण-कौतुक के अन्यांगों का वर्णन ये सब आचार्य नहीं करते, क्योंकि यह कौतुक विद्वज्जनों में मान्य तथा प्रशस्त नहीं समझे जाते, वरन् इन्हें लड़कों के कुतूहल की वस्तु तथा उनको अचरज में डालने वाले खेल समझे जाते हैं। है भी वास्तव में इस विचार का कुछ अंश सत्य, यह कौतुक एक प्रकार साहित्यिक गोरखधंधा है, जिसकी उलझन के सुलझाने में ही आनन्द रहता है। किन्तु कह सकते हैं और यह कहना ठीक भी है कि इस कौतुक की रचना में कवि को बहुत बड़ा श्रम करना पड़ता है, इन पर पूर्णाधिकार प्राप्त होने तथा कला में कुशल होने पर ही वह इस प्रकार की विचित्र चित्र-रचना में सफल हो सकता है। कवि की कला, कारीगरी तथा उसके प्रगाढ़ पांडित्य का परिचय इससे अवश्य ही मिल जाता है।

हाँ, यह अवश्य है कि इसका सम्बन्ध काव्य की अन्य आवश्यक बातों से यदि शून्य-रूप में नहीं तो बहुत कम ज़रूर है, इसमें प्रायः रस, गुण एवं भावादि का बहुत बड़ा अभाव रहता है. इसीलिये इस प्रकार के काव्य को उत्तम काव्य नहीं कहा गया। आचार्यों ने भी इस अंग को बहुत थोड़ा स्थान दिया है और इसकी पूर्ण आलोचना भी नहीं की। हम भी विस्तार-भय से इसके वर्णन को सूक्ष्म ही रूप देंगे।

हमारे हिन्दी के आचार्यों में से केशवदास जी ने इस कला-कौतुक का वर्णन अपनी कवि-प्रिया में किया है. यद्यपि वह सर्वाङ्ग पूर्ण नहीं, फिर भी पर्याप्त से अधिक ही है। हिन्दी-भाषा में संस्कृताचार्यों के द्वारा प्रदर्शित जितने प्रकार के चित्रालंकार आ सकते हैं वे प्रायः सभी दे दिये गये हैं। हाँ, वे सब चित्रालंकार जिनका रखना हिन्दी भाषा में दुसाध्य क्या असाध्य है—जैसे प्रतिलोमानुलोमादि, अवश्य छोड़ दिये गये हैं।

दूसरे आचार्य भिखारीदास हैं जिनके प्राप्य ग्रन्थ—काव्य-निर्णय. में चित्रालंकारों का कुछ विवेचन किया गया है, किन्तु वह केशवदास की समानता को नहीं पहुँचता।

लछिराम ने भी इस कला का कुछ वर्णन दिया है किन्तु, वह उपरोक्त दोनों आचार्यों की अपेक्षा बहुत सूक्ष्म है केवल चित्र-काव्य से सम्बन्ध ही रखता है।

अन्य सभी आचार्यों ने, जो प्रधान हैं और जिनके प्रामाणिक ग्रन्थ इस समय तक प्राप्य हैं, इस कला के विवेचन को सर्वथा छोड़ ही दिया है। हाँ, उनमें से कुछ ने शब्दालंकारों (जैसे -अनुप्रास, यमकादि) का वर्णन अवश्य सूक्ष्म रूप से किया है।

खेद के साथ लिखना पड़ता है कि हमारे आचार्यों ने कवियों के उस महान् श्रम तथा काव्य-कला कौशल की ओर, जिसके द्वारा उन्होंने अनेकों प्रकार के कुतूहल पूर्ण काव्य-कौतुकों की सृष्टि रची है, तनिक भी ध्यान नहीं दिया। किसी ने भी इस कला के विवेचन से अपने ग्रन्थ को सुशोभित नहीं किया। अस्तु—

(१) वर्ण-कौतुक

(१) वर्णावरोधक (वहिष्कार)

(१) अमत्ता
(२) अकंठ
(३) अतालव्य
(४) अदंत
(५) अमूर्धा
(६) अनोष्ठ्य (निरोष्ठ्य)
(७) अजिह्व

(२) चित्रालंकार

(१) कमल (बंध)
(२) छत्र
(३) कपाट
(४) मेरु
(५) धनुष
(६) ढाल
(७) खड्ग
(८) हार
(९) वृत्त
(१०) डमरू
(११) गोमूत्रिका
(१२) चौकी
(१३) चक्र
(१४) चंद्र
(१५) कंकण
(१६) मुरज
(१७) मूर्त्ति (हनुमान्)

(३) वर्ण-संख्यावरोध (केशव के १ से २६ वर्ण तक का ससीमकला)

(४) क्रम वैचित्र्य

(१) अनुलोम
(२) प्रतिलोम
(३) गतागत
(४) व्यवस्थान्वय वैचित्र्य

(क) देहली दीपक
(ख) वाकछल

(१) वर्णछल
(२) पदछल
(३) शब्दछल

(५) वर्णलोप

(१) मात्रा
(२) स्वर
(३) व्यञ्जन
(४) त्याज्य वर्ण

(६) वर्ण-संचय और वर्णान्वेषण

(१) प्रहेलिकागत
(२) साधारण
(३) कूटगत

(७) प्रहेलिका

(१) पहेली
(२) पहैला
(३) मुकुरी
(४) प्रश्नात्मक

(क) दत्तोत्तर
(ख) अंतर्लापिका
(ग) अदत्तोत्तर
(घ) बहिर्लापिका

(५) अप्रश्नात्मक

(८) गोपन-कौतुक

(१) वर्णात्मक

(२) शब्दात्मक

(३) पदात्मक

नोटः—इनके अतिरिक्त भी कवियों ने अनेक रूपों में कुतूहल-कारी कौतुक या खेल दिखलाये हैं। इन सब को उनके उदाहरणों के साथ देना हमारे लिये यहाँ सम्भव नहीं। हम इस विषय (वर्ण-कौतुक) पर अलग ही एक पुस्तक लिख रहे हैं, आशा है वह आपको शीघ्र ही देखने के लिये मिल सकेगी।

—लेखक

संसृष्टि

—:*:—

एक छन्द में जहँ परै, अलंकार बहु दृष्टि।
तिल-तंदुल से हैं मिले, ताहि कहैं संसृष्टि॥

भावार्थ—तिल-तंदुल-न्याय से जहाँ कई एक अलंकार मिले हों, वहाँ संसृष्टि (अलंकार-संसृष्टि) कही जाती है।

टिप्पणी—तिलों और चावलों को एक में मिला देने से, वे मिल कर भी अपनी अपनी सत्ता एवं महत्ता (रूप, रंग, गुण, लक्षणादि) पृथक् ही रखते हैं, और दोनों स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं, उनमें किसी प्रकार का विशिष्ट सम्बन्ध नहीं रहता, हाँ, दोनों एक साथ अवश्य रहते हैं, इसी प्रकार जब दो या (दो से अधिक) अधिक अलंकार अपनी अपनी सत्ता-महत्ता आदि को पृथक् पृथक् स्वतंत्र रूप से रखते हुये भी एकही साथ (एकही स्थान और समय में) रहते हैं और कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रखते, तब अलंकार-संसृष्टि की सृष्टि होती है। ध्यान रखना चाहिये कि संसृष्टि में अलंकार अपने अपने रूप, गुण, कर्म एवं स्वभावादि एक दूसरे से सब प्रकार तिल-तंदुलों के समान पृथक् एवं स्वतंत्र ही रखते हैं, उनके एक साथ रह कर मिलने से कोई विशेष संयोग-सम्बन्ध नहीं बन जाता, वे सर्वथा स्पष्ट ही रहते हैं, उनके सम्मेलन से किसी एक नए रूप के अलंकार का जन्म नहीं हो जाता। यही इनमें और मिश्रालंकारों में भेद है—मिश्रालंकार में दो अलंकार (विशेषतया अर्थालंकार) मिल कर एक नये अलंकार की उत्पत्ति कर देते हैं।

संसृष्टि के अलंकार, तिल-तंदुलों की भाँति एक दूसरे से पृथक् भी किये जा सकते हैं, किन्तु मिश्रालंकार में यह बात नहीं,

उसमें से उन अलंकारों को, जो मिल कर एक नये अलंकार को जन्म देते हैं, एक दूसरे से विलग नहीं कर सकते।

संसृष्टि में दो से अधिक अलंकारों का सम्मेलन एवं साहचर्य-सामञ्जस्य कहा गया है (यद्यपि तिल-तंदुल-न्याय से केवल दो ही अलंकारों का मेल होना उपयुक्त तथा सार्थक है) किन्तु मिश्रालंकार में केवल दो ही अलंकारों का मेल एकरूपता के जन्म के साथ होना आवश्यक है।

संसृष्टि में सभी प्रकार के अलंकारों का सम्मिलन होता है। किन्तु मिश्रालंकार में केवल दो अर्थालंकारों का ही संयोग हुआ करता है।

संसृष्टि के मुख्य तीन भेद माने गये हैं।

(१) शब्दालंकार संसृष्टि—जहाँ केवल शब्दालंकारों का ही सम्मेलन हो।

(२) अर्थालंकार संसृष्टि—जहाँ केवल अर्थालंकारों का ही मिलाप होता है।

(३) उभयालंकार संसृष्टि—जहाँ शब्दालंकार एवं अर्थालंकार दोनों एक साथ मिलते हैं।

टिप्पणी—ध्यान रखना चाहिये कि यह वर्गीकरण, शब्द, अर्थ, उभय पर आधारित है, इसीलिये रस, भावादि सम्बन्धी अलंकारों की संसृष्टि के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया।

[नोट—भिखारीदास ने संसृष्टि में अलंकारों की कोई निश्चित संख्या नहीं दी, किन्तु उदाहरणों से उनका यह भाव स्पष्ट है कि इसमें दो से अधिक ही अलंकारों का मेल होना चाहिये। यह अलंकार हमारे न्यायात्मक अलंकारों की कोटि में आता है, क्योंकि यह एक न्याय पर आधारित है।]

संकर

(अलङ्कार-संकर)

—:*:—

द्वै कि तीन भूषन मिलैं, छीर-नीर के न्याय।
अलंकार संकर कहैं, तेहि प्रवीन कविराय॥

भावार्थ—नीर-क्षीर-न्याय से जब दो या तीन अलंकार परस्पर मिल कर एक ही हो जाते हैं तब अलंकार-संकर की सृष्टि होती है।

टिप्पणी—जिस प्रकार दूध और पानी मिल कर एक हो जाते हैं, वैसे ही संकर में भी दो या तीन अलंकार बिना किसी प्रकार के पार्थक्य के मिल कर एक ही रूप में हो जाते हैं।

ध्यान रखना चाहिये :—

(१) जिस प्रकार जल अपना रंग छोड़ कर दूध ही के रंग का हो जाता है, वैसे ही संकर में एक अलंकार किसी प्रधान अलंकार के रूप में प्रदर्शित होने लगता है तथा अपनी सत्ता-महत्तादि को उस सम्मेलन में सर्वथा ही खो बैठता है और फिर जल के समान वह पृथक् नहीं किया जा सकता।

(२) किसी प्रधान अलंकार की ही सत्ता-महत्ता स्पष्ट रहती है और वही प्रधान रहता है, शेष अलंकार उसी में विलीन हो जाते हैं और अपनी स्वतंत्रता नहीं रखते। यह अवश्य है कि जिस प्रकार पानी से दूध में कुछ विशेष प्रभाव (पतलापन, स्वाद में अन्तर, रंग में कमी) आ जाता है, उसी प्रकार मुख्य एवं

प्रधान अलंकार में भी अन्य अलंकारों के प्रभाव से कुछ न्यूनता आ जाती है। इस नीर-क्षीर-न्याय से जिस प्रकार पानी में दूध के प्रभाव से कुछ विशेषता (दुग्धता) आ जाती है, वैसे ही संकर में भी प्रधान अलंकार के प्रभाव से अन्य अलंकार भी विशेषतया प्रवर्धित हो उठते हैं।

(३) जिस प्रकार तापादि के द्वारा पानी को दूध से अलग उड़ा सकते हैं, वैसे ही शब्दादि में कुछ परिवर्तन करके कुछ अलंकारों को, जो प्रधान अलंकार में मिल गये हैं, हटा सकते हैं।

(४) जिस प्रकार पानी के मिलने पर भी दूध दूध ही रहता है, उसी प्रकार संकर में भी उसी अलंकार का नाम प्रधान रहता है जो मुख्य होता है तथा अपने में दूसरे अलंकारों को मिला कर उन्हें अपना रूप-रंग दे देता है। इस विचार से संकर के अनेक नाम एवं भेद हो सकते हैं, इस विस्तार को बहुत न बढ़ाने के लिये ही ऐसा नहीं किया गया। हाँ, संस्कृत के आचार्यप्रवर दंडी ने इस ओर थोड़ा सा संकेत किया है और कहा है कि श्लेषालंकार ही ऐसा है जो सब अलंकारों के साथ आ सकता है और सबकी शोभा को उत्कर्ष दे सकता है, अतः यही सबसे प्रधान तथा बलवान भी सिद्ध होता है। वस्तुतः यह उचित एवं ठीक भी जँचता है। किन्तु खेद है कि फिर किसी भी आचार्य ने इस ओर ध्यान नहीं दिया।

संकर और मिश्रालंकार

दोनों में यह भेद है कि :—

(१) संकर में किसी विशेष अलंकार का प्राधान्य रहता है, किन्तु मिश्रालंकार में ऐसा नहीं होता। उसमें किसी भी अलंकार का प्राधान्य नहीं रह जाता।

(२) संकर में अन्य अलंकार (जो गौण रूप में रहते हैं) प्रधान अलंकार के साथ एकरूपता लेकर उसीके रूप में रूपान्तरित हो जाते हैं। अतः यह एकरूपता तथा रूप-परिवर्तन (रूपान्तरता) पर आधारित है, किन्तु मिश्रालंकार में दोनों अर्थालंकार मिल कर अपने रूप परिवर्तित कर एक नये ही रूप, रंग तथा ढंग के साथ उदीयमान हो जाते हैं—अतः यह रसायन-शास्त्र के मिश्रण-सिद्धान्त पर आधारित है।

(३) संकर में शब्दालंकारों को भी स्थान मिलता है, किन्तु मिश्रालंकार में नहीं।

संकर और संसृष्टि

इन दोनों में यह अन्तर है कि :—

(१) संकर में गौण अलंकार, प्रधान अलंकार के रूप में रूपान्तरित हो कर मिल जाते हैं, किन्तु संसृष्टि में दोनों में संयोग एवं साहचर्य होते हुये भी दोनों की सत्ता एवं महत्ता स्वतंत्र तथा पृथक् ही पृथक् रहती है।

(२) संकर में से अलंकारों को पृथक् नहीं कर सकते, किन्तु संसृष्टि में से उनको पृथक् कर सकते हैं।

(३) संकर में अलंकार अपने अपने रूप-रंग स्पष्ट नहीं दिखाते, किन्तु संसृष्टि में स्पष्ट रूप से वे अपने रूप-रंग दिखाते हैं।

संकर और उभयालंकार

दोनों में अन्तर यों है :—

(१) संकर में तो (जैसे संसृष्टि में) कई अलंकार होते हैं, किन्तु उभयालंकार में एक ही अलंकार होता है, जो एक ओर तो शब्दालंकार का और दूसरी ओर अर्थालंकार का भाव (गुण, कर्म, स्वभावादि) प्रगट करता है।

(२) संकर में अनेक अलंकारों की एकरूपता होती है, किन्तु उभयालंकार में दो प्रकार के (शब्दगत और अर्थगत) अलंकारों की एक ही अलंकार में रूप-रचना रहती है, अर्थात् इसमें एक ही अलंकार की द्विरूपता प्रतिभात होती है।

संकर के ३ मुख्य भेद माने गये हैं :—

(१) अङ्गाङ्गी भाव संकर—जहाँ कई अलंकारों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध हो, वे एक दूसरे के आश्रित तथा एक दूसरे के अंग से हों, एक अलंकार दूसरे का परिपोषक, उपकारक एवं सहायक हो, एक के बिना दूसरे की सिद्धि न हो सके।

(२) संदेह संकर—यह संदेहात्मक होता है, और इसमें अलंकारों के निश्चय करने में बुद्धि संदिग्धावस्था में पड़कर यह विचारने लगती है कि यहाँ यह (अमुक) अलंकार है अथवा यह (अमुक) दूसरा अलंकार है। अलंकारों के मिल जाने, उनके साधक एवं बाधक न होने या समान रूप से होने पर किसी भी अलंकार का निश्चय नहीं हो पाता। सर्प-नकुल न्याय या रात्रि-दिवस न्याय के समान दो या अधिक अलंकारों के एकत्र सामंजस्य एवं समावेश के होने पर भी उनकी स्थिति एक काल में नहीं हो पाती।

टिप्पणी—जहाँ न्याय और दोष से एक विशेष अलंकार का निश्चय हो जाता है वहाँ संदेहसंकर को स्थान नहीं रहता।

न्याय—किसी एक अलंकार को निश्चय रूप से स्थापित करने में जो साधकता या अनुकूलता होती है, वही न्याय है।

दोष—अलंकार-विशेष की स्थापना में जो बाधकता या प्रतिकूलता होती है, वही दोष है।

न केवल संदेह संकर में ही अलंकार-विशेष के निश्चयार्थ ही न्याय और दोष नियामक हो काम देते हैं, वरन् सर्वत्र ही अलंकारों के निर्णय में इन्हीं से निश्चय किया जाता है।

टिप्पणी—संदेहसंकर को किसी किसी आचार्य ने संकीर्णोपमा भी कहा है—

(३) एकवाचकानुप्रवेश संकर—जहाँ एक ही पद में (चरण में) एक से अधिक अलंकार स्पष्टता के साथ प्रगट हों। एक ही पद में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही हों, अथवा, एक ही पद में दो अर्थालंकार या दो शब्दालंकार स्पष्ट हों।

टिप्पणी—संसृष्टि में कई अलंकार पृथक् पृथक् पदों में होते हैं, किन्तु यहाँ ऐसा एक ही पद में होता है, यही दोनों में भेद है।

नोट—उपमा और रूपक के ४ न्याय, दोष हैं :—

(१) उपमा का साधक हो, किन्तु रूपक का बाधक न हो।
(२) रूपक " " " " उपमा " " "
(३) उपमा " बाधक " " रूपक " साधक न हो।
(४) रूपक " " " " उपमा " " "

टिप्पणी—भिखारीदास ने, समप्रधान संकर भी दिया है—इसमें अलंकारों में साम्यभाव की प्रधानता रहती है। सभी अलंकार सम (बराबर) और प्रधान दिखलाई पड़ते हैं। जैसे—

ग्रंथ गूढ़ वन तर्पनी, गौनी गनिका बाल।
इनकी शोभा तिलक है, भूमिदेव भुविपाल॥

शब्दालंकारों से साहित्य एवं भाषा-कोष को लाभ

(१) इनसे एकार्थवाची शब्दों की संख्या बढ़ गई और पर्यायीवाचक शब्दों का एक वृहत् वृन्द भी तैयार हो गया।

(२) अनेकार्थवाची शब्दों की भी संख्या बढ़ी और इससे भाषा एवं शब्द-कोष का पर्याप्त संकोच हो गया। अर्थ-गौरव एवं अर्थों में अनेकरूपता भी आ गई।

(३) यमकादि के द्वारा कतिपय नवीन शब्द कल्पित हो गये।

(४) अनुप्रासों (आद्यान्तानुप्रासों) से भी अनेक शब्द रूप-साम्य के आधार पर (स्वर या उच्चारण-साम्य से) कल्पित होगये, यथा रदन, सदन, मदन, बदनादि। पद मैत्री, एवं वर्ण-मैत्री से भी अच्छा कार्य या लाभ हुआ। इनसे भी भाषा का शब्द-कोष बढ़ चढ़ गया।

(५) शब्दालंकारों से भाषा के गद्य को एक ऐसा रूप प्राप्त हो गया जिसे हम तुकान्त एवं आनुप्रासिक कह सकते हैं, उर्दू में गद्य के इस रूप को मुक़फ़्फ़ा कहते हैं। इस शैली का हिन्दी-गद्य हिन्दी के आचार्य पं० लल्लू जी लाल के प्रेम-सागर में विशेष रूप से पाया जाता है। आनुप्रासिक गद्य का एक सुन्दर एवं विशेष रूप श्री चतुर्वेदी जी के 'अनुप्रास-अन्वेषण' नामी पुस्तक में प्राप्त होता है।

(इस विषय के विशेष विवरण के लिये देखिये हमारी 'गद्य-कौमुदी' नामी पुस्तक)

शब्दालंकार (भेद)

१—वक्रोक्ति—इसका सम्बन्ध, चूंकि विशेषतया अर्थवैचित्र्य से ही है—अतः हम इसे शब्दालंकारों में न लेकर अर्थालंकारों में ही लेंगे।

२—अनुप्रास :— १—वर्ण-साम्य २—शब्द-साम्य ३—पद-साम्य
या १—वर्णावृत्ति २—शब्दावृत्ति
३—पद या वाक्यावृत्ति

वर्णावृत्तिः— क—छेकानुप्रास—
ख—वृत्ति अनुप्रास
१—उपनागरिका
२—परुषा
३—कोमला
ग—यमक—प्रथम रूप
घ—सिंहावलोकन—(वर्णमूलक)
ङ—श्रुत्यनुप्रास— ”

शब्दावृत्ति— क—यमक (द्वितीय रूप), भेद
ख—वीप्सा
ग—पुनरुक्तवदाभास (अर्थ सम्बन्धी)
घ—पुनरुक्तप्रकाश
ङ—सिंहावलोकन—(शब्दमूलक)

पद या वाक्यावृत्तिः—
क—लाटानुप्रास
ख—कुंडलिया में पदावृत्ति
ग—सिंहावलोकन (पद मूलक)

तुक—भेदादि

श्लेष-विचार—(शब्दार्थ सम्बन्धी)

शब्दालंकार

जहाँ केवल शब्दों एवं पदों (वर्णों) में ही कुछ विशिष्ट चातुर्य-चमत्कार तथा मनोरंजक कला-कौतुक हो वहाँ शब्दालंकार जानना चाहिये। यह नितान्त स्वाभाविक है कि सुनने, पढ़ने एवं देखने में प्रथम शब्दों का ही चमत्कार (रचना-वैचित्र्य) प्रतिभात होता है, क्योंकि इस चमत्कार का सम्बन्ध विशेषतया उच्चारण एवं स्वर से ही है, इसीलिये कदाचित् काव्यशास्त्र (अलंकारशास्त्र) में इन्हीं अलंकारों को प्रथम स्थान एवं प्राधान्य दिया गया है, काव्य में प्रथम इन्हीं का प्रचार-प्रस्तार पाया जाता है और इन्हीं का विकास विशेष रूप से काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक काल में हुआ है। यह हम प्रथम ही दिखला चुके हैं।

अन्य प्रकार के अलंकारों, जैसे अर्थालंकारादि का बोध कुछ समय पीछे विचार करने पर दिखाई पड़ता है।

हमारे आचार्यों ने शब्दालंकारों में ऐसे अलंकारों को भी ले लिया है जिनमें चमत्कार विशेषतया अर्थ से ही सम्बन्ध रखता है, जैसे वक्रोक्ति और श्लेषादि, हमने इनको शब्दालंकारों से पृथक् रखा है और पृथक् ही इनकी विवेचना भी की है। शब्दालंकारों में हम अनुप्रास ही को प्रधान समझते हैं, यमक, और पुनरुक्तवदाभासादि इसी के भिन्न भिन्न प्रकार के रूपरूपान्तर मात्र हैं। *

---

* भामा, उद्भट और दंडी आदि ने यमक ही को मुख्य माना है और अनुप्रास को नहीं।

अनुप्रास

—:※:—

अनुप्रास :—जहाँ पर वर्णों या अक्षरों की (स्वरों के साथ, या बिना स्वरों के, स्वर-साम्य से या स्वर-वैषम्य से) आवृत्ति हो वहाँ अनुप्रासालंकार जानना चाहिये। वर्णों का बारम्बार आना ही इसका मूल सिद्धान्त है। इसकी परिभाषा तो शब्द के अर्थ से ही स्पष्ट होती है।

अनु (उपसर्ग—पीछे, बारम्बार)+प्र (उपसर्ग—प्रकर्षता से) आस (धातु—होना या आना) बारम्बार प्रकर्षता से वर्णों का होना या उनकी आवृत्ति का दिखलाई देना, अनुप्रास का अर्थ है। आवृत्ति में वर्ण अपने स्वरों में समता (एक ही स्वरों के साथ) या विषमता के साथ आ सकते हैं, इस प्रकार वर्णावृत्ति के दो रूप हो जाते हैं—

१—स्वर-साम्य मूलकः—

२—स्वर-वैषम्य मूलक :—

ध्यान रखना चाहिये कि वर्णों की आवृत्ति निरर्थक (बिना अर्थ वाली) या सार्थक दोनों प्रकार से हो सकती है और इस प्रकार वर्णावृत्ति के दो रूप और हो जावेंगे—

१—निरर्थकवर्णावृत्ति—कभी कभी यमक में, अमृतध्वनि आदि में

१—सार्थक वर्णावृत्ति—यमकादि में

अनुप्रासों के भेदों के लिये देखिये—सूची पृ० १८५

वर्णावृत्ति में आवृत्ति के रूप

आद्यानुप्रास :—

१. आदि के वर्ण (एक वर्ण) की आवृत्ति एक बार

२. ” ” ” कई बार

३. आदि के कई वर्णों की आवृत्ति एक बार
४. " " " कई बार

ये सब रूप आद्यानुप्रास के हुये।

मध्यानुप्रासः—

५. मध्य के वर्ण (एक वर्ण) की आवृत्ति एक बार
६. " कई वर्णों की " "
७. " एक वर्ण की " " कई बार
८. " कई वर्णों की " " कई बार

ये सब रूप मध्यगानुप्रास के हुये।

अन्त्यानुप्रास :—

९. अन्त के एक वर्ण की आवृत्ति एक बार
१०. " " " कई बार
११. " कई वर्णों " " एक बार
१२. " " " " कई बार

ये सब रूप अन्त्यानुप्रास के हुये।

इन १२ प्रकार के रूपों के उक्त स्वर-साम्य, स्वर-वैषम्य तथा सार्थक एवं निरर्थक वर्णावृत्ति के आधार पर कई रूपान्तर हो सकते हैं, विस्तार-भय से हम उन्हें नहीं दे रहे हैं—पाठक स्वयमेव देख सकते हैं।

फिर इन तीनों प्रकार के रूपों में से दो दो के संयोग से कई रूप और हो सकते हैं, जैसे १ आदि मध्यानुप्रास, २ आद्यान्त्यानुप्रास एवं ३ मध्यान्तानुप्रास।

इनमें से कुछ तो छेक और वृत्ति के और कुछ यमकानुप्रास के अन्तर्गत माने गये हैं। इस प्रकार का वर्गीकरण किसी भी आचार्य के किसी भी ग्रन्थ में नहीं पाया जाता। यह हमारा मौलिक और वैज्ञानिक वर्गीकरण है।

छेकानुप्रास

—:*:—

१—जहाँ अनेक वर्णों की एक ही बार आवृत्ति हो अथवा एक वर्ण की ही एक बार आवृत्ति हो (जैसा भिखारीदास का मत है) वहाँ छेकानुप्रास होता है।

टि०—आवृत्ति वाले वर्ण आदि या अन्त कहीं के हो सकते हैं, इस प्रकार इसके ४ रूप यों हो जाते हैं :—

(क) आदि के एक वर्ण की एक या कई बार आवृत्ति

(ख) ” अनेक वर्णों ” ” ”

(ग) अन्त के एक वर्ण ” ” ”

(घ) ” अनेक वर्णों ” ” ”

स्वर-साम्य और स्वर-वैषम्य के आधार पर इनमें से प्रत्येक के दो दो रूप और हो जावेंगे, और इस प्रकार इसके कुल ८ रूप या भेद हो सकेंगे।

वृत्यनुप्रास

२—वृत्तियों के अनुसार जहाँ एक वर्ण या अनेक वर्णों की दो या दो से अधिक बार आवृत्ति होती है वहाँ वृत्तिमूलक (वृत्यनुप्रास) अनुप्रास होता है।

टि०—ध्यान रखना चाहिये कि इस अनुप्रास का आधार गुण है (गुण मुख्यतया ३ होते हैं:—१—माधुर्य, २—ओज, ३—प्रसाद, किसी किसी आचार्य के मत से ये ५ प्रकार के और किसी किसी के मत से १० प्रकार के भी माने गये हैं) गुणों के ऊपर ही वृत्तियाँ और रीतियाँ भी समाधारित हैं, और ये सब भिन्न भिन्न रसों के अंग या परिपोषक माने गये हैं, गुणों का सारा सिद्धान्त मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखता हुआ, भाषा-विज्ञान (वर्ण-विचार) के स्वाभाविक नियमों से नियंत्रित है।

वर्णों का विवेचन भी मनोविज्ञान के आधार पर हुआ है और मधुर, कोमल, कटु, अल्पप्राण, महाप्राणादि विभागों में वे विभक्त किये गये हैं।

साथ ही वृत्तियों का सम्बन्ध समास-व्यवस्था से भी बड़ा ही घनिष्ठ है, इसी से कहा गया है "समासवती वृत्तिः"—रुद्रटाचार्य। इस विचार से हम कह सकते हैं कि यह अनुप्रास अंशतः व्याकरण का समास-मूलक-अलंकार है और अंशतः गुणात्मक भी है।

वृत्तियाँ ३ प्रकार की मानी गई हैं:—

१—उपनागरिका:—माधुर्य-गुणोत्पादक वर्णों की रचना से युक्त, सानुनासिक, सानुस्वार एवं ह्रस्ववर्णों वाली तथा समास-

रहित या छोटी समास से युक्त रचना-विशेष को उपनागरिका वृत्ति कहते हैं।

टि०—माधुर्यगुणोत्पादक वर्ण :—णकार रहित टवर्ग को छोड़ कर शेष सभी वर्गों के वर्ण, तथा सानुस्वार अक्षर, ह्रस्व वर्ण एवं र और ण ये माधुर्य गुण सूचक वर्ण हैं।

इस गुण के उत्कर्ष से हृदय द्रवीभूत हो जाता है, तथा मधुर वर्णों में एक प्रकार का विशिष्ट माधुर्य होता है। इस वृत्ति से सम्बन्ध रखने वाले वर्णों की जहाँ उक्त रीत्यानुसार आवृत्ति होती है वहाँ उपनागरिका वृत्ति-मूलक अनुप्रास माना जाता है।

माधुर्य गुण प्रायः शृङ्गार, करुणा, एवं शान्त रस में ही अधिकता से आता है, और इन्हीं रसों के उपयुक्त वह है भी।

२—कोमला वृत्ति :—जिस रचना में कोमल (मृदुल) वर्णों का संगठन हो और माधुर्य एवं ओज के प्रकाशक वर्णों का नितान्त अभाव हो, हाँ, प्रसाद गुण का जिस रचना में प्राधान्य हो, और मध्यमाकार की समासें हों, उसे कोमलावृत्ति कहते हैं।

टि०—माधुर्य गुण के प्रकाशक वर्णों का परिचय हम प्रथम दे चुके हैं और ओज गुण-प्रकाशक वर्णों को हम नीचे दे रहे हैं, इन दोनों प्रकार के वर्णों को छोड़ कर शेष बचे हुये वर्ण कोमला-वृत्ति ही के वर्ण हैं।

कोमला वृत्ति सम्बन्धी वर्णों की आवृत्ति, जहाँ होती है वहाँ कोमला वृत्ति मूलक वृत्यानुप्रास होता है।

३—परुषावृत्ति :—ओज गुण को प्रकाशित करने वाले वर्णों (संयुक्त एवं असंयुक्त—विशेषतया संयुक्त), दीर्घसमासों तथा कठोर शब्दों की रचना को परुषावृत्ति कहा गया है। इस वृत्ति से सम्बन्ध रखने वाले वर्णों की जहाँ पर आवृत्ति होती है वहाँ परुषावृत्ति मूलक वृत्यनुप्रास माना जाता है।

टि०—ओज गुण प्रकाशक वर्ण :—वर्गों के प्रथम, तृतीय एवं द्वितीय और चतुर्थ वर्णों से मिले हुए संयुक्तवर्ण, ट, ठ, ढ, ड, ष और श, रकार से मिले हुए वर्ण, (चाहे रेफ ऊपर मिलता हो या नीचे मिलता हो) जिनके बोलने में अधिक प्रयास करना पड़े और बलपूर्वक वायु का नाद-यंत्रों से बहिर्निस्सारण करना पड़े, (घोषवान एवं महाप्राण संज्ञा वाले वर्ण) ओज गुण के प्रकाश करने वाले कहे गये हैं। इन वर्णों से बने हुये शब्द भी कठोर और क्लिष्ट हो जाते हैं, अतः इस गुण से परिपूर्ण रचना में कठोर एवं क्लिष्ट शब्दों का ही समावेश होता है।

ध्यान रखना चाहिये कि यह वृत्ति भी व्याकरण शास्त्र के एक मुख्य विभाग अर्थात् समास से सम्बन्ध रखती है।

चूँकि ओज गुण विशेष रूप से वीर, रौद्र एवं वीभत्स रसों को उत्कर्ष देने वाला है, इसीलिये परुषावृत्ति भी इन्हीं रसों को उत्कर्ष देती है और इन्हीं रसों के उपयुक्त भी है। यद्यपि इन अलंकारों का सम्बन्ध इस प्रकार रसों से भी है, किन्तु ये रसालंकार नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इनमें वर्णों के ही चमत्कार का विशेष रूप से प्राधान्य रहता है।

आद्यानुप्रास

—:*:—

आद्यानुप्रास का कुछ विवेचन छेकानुप्रास में आ चुका है और उसे छेकानुप्रास का एक रूप ही माना गया है। मध्यानुप्रास को यमक के ही अन्तर्गत रक्खा गया है, अतः हम भी उसके विषय में वहीं कुछ कहेंगे। यद्यपि अन्त्यानुप्रास भी छेक का ही एक रूप है, तथापि हमारी समझ में इसे पृथक् ही रखना उचित है, क्योंकि इसका एक विशिष्ट रूप, जिसे तुक कहा गया है और जिसका प्राधान्य, प्राबल्य एवं प्रचार-प्रस्तार हमारी भाषा में विशेष विवेचना के साथ (श्रीभिखारीदास के द्वारा) पाया जाता है तथा जो हमारी भाषा के कवियों, एवं आचार्यों का ही स्वतंत्र एवं मौलिक आविष्कार है, स्वतंत्र रूप से पृथक् रखा गया है। तुक और अन्त्यानुप्रास में भेद है, इसके ही स्पष्ट करने के लिये हमें अन्त्यानुप्रास को भी स्वतंत्र-रूप से पृथक् ही रखना समीचीन जान पड़ता है।

अन्त्यानुप्रास

जहाँ शब्दों के अन्तवाले एक या अधिक वर्ण (स्वर-साम्य एवं स्वर-वैषम्य के साथ) साम्य रखते हैं, अथवा उनकी आवृत्ति एक या कई बार होती है, वहाँ अन्त्यानुप्रास जानना चाहिये। इस आवृत्ति में ऐसे शब्दों का व्यवधान भी हो सकता या होता है जिनमें आवृत्ति नहीं भी होती।

रूप—(१) शब्दों (दो या अधिक) के अंत वाले एक वर्ण की एक बार आवृत्ति।

(२) शब्दों (दो या अधिक के) अंतिम अनेक वर्णों की एक बार आवृत्ति।

(३) शब्दों के (दो या अधिक) में सस्वर वर्णों की आवृत्ति।

(४) शब्दों (दो या अधिक) में स्वर-वैषम्य से आवृत्ति।

टिप्पणी—ध्यान रखना चाहिये कि इस अनुप्रास में शब्दों (सभी शब्दों के, जिनमें आवृत्ति पाई जाती है) के अंतिम वर्णों की ही प्रधानतया आवृत्ति होती है, प्रत्येक शब्द के अंतिम वर्णों में ही समता का होना मुख्य बात है और उनके आदि एवं मध्य के वर्णों में वैषम्य रहता है, ऐसा यमक में नहीं होता। यही इसमें विशेषता है।

साथ ही अन्त्यानुप्रास छंद के चरणों में सभी कहीं रखा जाता एवं जा सकता है—अतः इसका प्रयोग व्यापक एवं विस्तीर्ण है, यह बात तुक में नहीं होती।

उदाहरण

सकल-कलुष-भंगे ! स्वर्गसोपान संगे,
तरल-तर-तरंगे ! देवि ! गंगे प्रसीद।

× × ×

युष्माकं काचिदन्या, जगदुपरि समुद्भूत-लावण्य वन्या,
धन्या शैलेन्द्र-कन्या त्रिभुवन-जननी वेद-मान्या वदान्या।
निश्शंकं शंकरांके तडिदिव लसिता, प्रोल्लसंती हसंती,
रत्ता-दत्ता, विपत्ता-बल-विलयकरी शंकरी शंकरोतु॥

× × ×

श्रुत्यनुप्रास

यह अनुप्रास हमारे प्राचीन आचार्यों के द्वारा स्पष्ट रूप से कहीं भी नहीं दिया गया, हाँ, हमारे आधुनिक आचार्यों ने इसे एक स्वतंत्र रूप से एक विशेष प्रकार का अनुप्रास माना है।

इस अनुप्रास का पूर्ण सम्बन्ध श्रुति (कान) से ही है। जिस प्रकार कानों का गीतादिकों के स्वर, ताल एवं लय आदि का ज्ञान केवल सुनने से ही हो जाता है, तथा जिस प्रकार वे कटु, कठोर, मधुर एवं कोमल वर्णों को केवल सुन कर ही पहिचान लेते हैं, (हाँ, उन्हें इसमें कुछ अभ्यास अवश्य करना पड़ता है) उसी प्रकार वे (केवल कुछ ही अभ्यास से) यह भी पहचान लेते हैं कि वर्ण किस स्थान (कण्ठ, तालु, दन्तादि) से बोले जा रहे हैं। इसी कारण इस अनुप्रास का नाम भी ऐसा रक्खा गया है।

नोट—इस अनुप्रास की सत्ता के कारण अनुप्रासों को इन्द्रियों के आधार पर यों विभक्त कर सकते हैं:—

१—एक ही वर्णावृत्ति मूलक—जैसे छेकादि।

२—समान वर्णावृत्ति मूलक—जैसे श्रुत्यनुप्रास।

श्रुत्यनुप्रास—जहाँ एक ही स्थान से बोले जाने वाले वर्णों का संगुम्फन तथा उनकी आवृत्ति होती है, या जहाँ केवल एक ही स्थान विशेष से उच्चरित होने वाले वर्णों का प्रयोग या समावेश होता है, वहाँ श्रुत्यनुप्रास माना जाता है। यह उच्चारण स्थानों पर ही आधारित है।

टिप्पणी—इसका सम्बन्ध व्याकरण के वर्ण-विचार (उच्चारण सूचक-वर्ण-वर्गीकरण), से ही है, और उसी का सिद्धान्त इसका मूलाधार है।

रूप—(१) कण्ठ्य—जहाँ केवल कण्ठ्य-वर्णों का ही प्रयोग हो।
(२) तालव्य— ” ” तालव्य ” ”
(३) मूर्धा— ” ” मूर्धा के ” ”
(४) दन्त्य— ” ” दन्त्य ” ”
(५) ओष्ठ्य— ” ” ओष्ठ्य ” ”

*(६) नासिका—जहाँ केवल नासिका सम्बन्धी वर्णों का ही प्रयोग हो। (इसका दर्शन प्रायः नहीं होता, हाँ, अनुस्वार-साम्य रखने वाले वर्ण अवश्य प्रयुक्त होते हैं)।

इसी प्रकार उच्चारण-स्थानों के भेद से और भी रूप हो सकते हैं तथा दो दो के संयोग से भी कई रूपान्तर किये जा सकते हैं, पाठक उन्हें स्वयमेव देख लें।

उच्चारण-स्थान के क्रम से वर्णों का वर्गीकरण प्रत्येक व्याकरण की पुस्तक में मिलता है, इसीलिये हमने उसे यहाँ देना व्यर्थ समझा है।

ध्यान रखना चाहिये कि इस अनुप्रास में वैसी वर्णावृत्ति नहीं रहती, जैसी अन्य प्रकार के (छेक, वृत्ति आदिक) अनुप्रासों में। कह सकते हैं कि यह एक प्रकार का वह वर्ण-संगुम्फन (वर्ण-संगठन) है जो उच्चारण-साम्य पर ही समाधारित होता है।

अतः इसे उच्चारण-साम्य मूलक वर्ण-मैत्री नामी अलंकार भी कह सकते हैं, क्योंकि इसमें ऐसे ही वर्ण प्रयुक्त किये जाते हैं जिनमें एक स्थान से उच्चरित होने के कारण परस्पर मित्रता (मैत्रीभाव) होती है।

एक ही स्थान से बोले जाने वाले विविध वर्णों के बार बार आने को भी यदि आवृत्ति के अर्थान्तर्गत माना जाये तो अवश्य ही इसमें वर्णावृत्ति का होना मानना पड़ेगा—अन्यथा नहीं।

एक प्रकार से सभी शब्दालंकार कर्णों से सम्बन्ध रखने वाले हैं, न केवल यही अलंकार—क्योंकि सभी के सुनने से ही चमत्कार का ज्ञान होता है। हाँ, इसका पूर्ण सम्बन्ध उच्चारण-स्थानों से अवश्य ही है।

यमक (प्रथम रूप)

यमक—वर्णों के (स्वर-व्यंजन) एक समुदाय की जहाँ आवृत्ति हो और उनका एक ही क्रम से पुनः श्रवण हो वहाँ केवल वर्णावृत्तिसम्बन्धी यमकालंकार जानना चाहिये।

टि०—यह वर्ण-समुदाय जिसकी आवृत्ति से यमक का जन्म होता है, सार्थक एवं निरर्थक (सार्थकता में शब्द बनता हुआ और निरर्थकता में किसी प्रकार का सार्थक शब्द न बनता हुआ) हो सकता है। प्रथमावस्था में चूंकि यह सार्थक शब्द को जन्म देता हुआ शब्द सम्बन्धी हो जाता है, अतः हमने इसका विवेचन पृथक् ही किया है।

जब दो या अधिक शब्दों के कतिपय वर्णों की यमक के रूप में आवृत्ति होती है और उस वर्ण-समुदाय से अथवा उसके साथ (आगे-पीछे) अन्य वर्णों के मिलाने से सार्थक शब्द बन जाते हैं (केवल आवृत्ति की ही दशा में—नकि उस प्राथमिक दशा में जब वर्ण समुदाय जिसकी आवृत्ति पश्चात् में होती है। किसी शब्द के अंगभूत रहकर निरर्थक ही रहते हैं) तब भी हम इस आवृत्ति को वर्णावृत्ति कह सकते हैं।

जब वर्ण-समुदाय की (जब वे स्वतः शब्द के रूप में प्रथम ही से रहते हैं) आवृत्ति शब्द के रूप में होती है तब हम उस यमक रूपी आवृत्ति को शब्दावृत्ति मूलक मानते हैं और उसे पृथक् रखते हैं, और वर्णावृत्ति के साथ उसे नहीं लेते।

यमक की वर्णावृत्ति कम से कम दो बार और अधिक से अधिक कवि की प्रतिभा के अनुसार कई बार हो सकती है।

ध्यान रखना चाहिये कि सिवा यमक के अन्य किसी भी प्रकार के अनुप्रास में वर्ण-समुदाय की यथाक्रम (एक ही क्रम से) आवृत्ति नहीं होती।

यहाँ हम केवल दूसरे ही रूप (निरर्थक वर्णसमूहावृत्ति मूलक यमक) को अपने विचार में रखते हैं।

इसके कई रूप हो सकते हैं, मुख्य मुख्य निम्न रूप हैं :—

१—वर्णसमुदाय (जिसकी आवृत्ति हुई है) सर्वत्र निरर्थक
२— " कहीं सार्थक कहीं निरर्थक
३ - वर्ण समुदाय को भंग करने से उसमें सार्थकता आवे, अन्यथा निरर्थकता ही रहे।
४—वर्ण-समुदाय में अन्य (आगे, पीछे) वर्णों के संयोग से सार्थकता आवे, अन्यथा निरर्थकता ही रहे।
५—वर्ण समुदाय को भंग करने तथा अन्य वर्णों के संयोग से सार्थकता आवे, अन्यथा निरर्थकता ही रहे।

ध्यान रखना चाहिये कि यमक की आवृत्ति (वर्णसमुदायावृत्ति) में एक क्रम (यथाक्रमता, क्रमैक्य, क्रम की एक रूपता या क्रम-साम्य) की अनिवार्य रूप से अत्यावश्यकता है, इसके न होने पर यमक का रूप ही न रह जायेगा, वरन् वह आवृत्ति अन्य प्रकार के अनुप्रासों के रूप में ली जायेगी।

ध्यान रखना चाहिये कि यमक, श्रुत्यानुप्रास, श्लेष तथा चित्रालंकारों में सर्वत्र—" रलयोः डलयोश्चैव, षखयोर्बवयोर्तथा " एवं, य, ज, ल, ड आदि वर्णों में समानता मानी जाती है और वे अभिन्न, एवं एक ही समझे जाते हैं, क्योंकि इनका प्रयोग भी इसी विचार के साथ किया जाता है तथा इनकी आवाज़ भी समान ही मानी जाती है, इसीलिये हमने आवृत्ति के साथ ही साथ पुनः श्रवण का शब्द परिभाषा में रख दिया है।

ध्यान रखना चाहिये कि अन्य प्रकार के अनुप्रासों में स्वर-वैषम्य के भी साथ आवृत्ति हो सकती तथा होती है और वह ठीक

मानी जाती है, किन्तु यमक में यह बात नहीं, इसमें सदैव सर्वत्र ही सब प्रकार स्वर और व्यंजन दोनों ही की सर्वथा एक ही क्रम से आवृत्ति का होना अनिवार्यावश्यक है।

रूप—इसके मुख्यतया ३ रूप होते हैं—

१—आद्यावृत्ति—आदि के वर्ण-समुदाय की आवृत्ति
२—मध्यावृत्ति—मध्य " " "
३—अन्त्यावृत्ति—अन्त " " "

इनके मिश्रित रूप भी हो सकते हैं—हम विस्तार-भय से नहीं दिखा रहे हैं। पाठक स्वयमेव उन्हें बना कर देख सकते हैं।

तुक को भी एक प्रकार के यमक का रूप कह सकते हैं—किन्तु उसके प्रयोग का क्षेत्र बहुत संकीर्ण है तथा उसके आकार-प्रकारादि भी सङ्कुचित होते हैं। यही बात सिंहावलोकन के भी साथ है। अब ध्यान देना चाहिये कि यमक कविता में सर्वत्र समान रूप से व्याप्त एवं विस्तीर्ण रहती है, किन्तु अन्त्यानुप्रास से वह भिन्न रूप में ही रहती है, अन्त्यानुप्रास को इसका बहुत ही सूक्ष्म रूप कह सकते हैं, वैसे ही तुक एवं सिंहावलोकन को भी इसका छोटा रूप मान सकते हैं।

तुक

तुक—छंदों के प्रत्येक चरण (पाद) में जहाँ नियम पूर्वक अन्त्यानुप्रास का एक विशेष रूप आवृत्ति-साम्य के साथ रहता है वहाँ तुक माना या कहा जाता है।

टिप्पणी—तुक को, जैसा हमने ऊपर कहा है, अन्त्यानुप्रास का एक विशिष्ट रूप ही मानना चाहिये। दोनों में अन्तर यही है कि अन्त्यानुप्रास का क्षेत्र तुक के क्षेत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत एवं व्यापक है। तुक उसका एक संकीर्ण रूप या भाग मात्र है। छन्द के एक चरण के बहुत से शब्दों में अन्त्यानुप्रासकारी वर्णावृत्ति रहती है, चरण के सभी शब्दों में अन्त्यानुप्रास व्याप्त हो सकता एवं होता है, किन्तु तुक छंद के चरणों के केवल अंतिम शब्दों (दो या तीन ही) में ही प्राप्त होता है। प्रत्येक चरण के जब अंतिम शब्दों में ही आवृत्ति (वर्णावृत्ति, एवं शब्दावृत्ति) होती है तभी तुक माना जाता है, अन्यथा नहीं। छंद के अन्तिम शब्दों में ही वर्णावृत्ति एवं वर्ण-साम्य तुक के नियमों में आपेक्षित होता है। बस यही इसमें विशेषता है और इसी के कारण यह अन्त्यानुप्रास से पृथक् माना भी गया है। सिंहावलोकन के चरणों के आदि में भी तुक वाले पद या शब्द रहते हैं और देखने या सुनने से उसमें तुक की सी सत्ता ज्ञात होती है पर वहाँ उसे तुक नहीं माना गया।

लाभ—भाषा में तुक से कुछ माधुर्य-विशेष एवं लय, ध्वनि या राग में विशिष्ट रोचकता आ जाती है, जिससे छन्द पढ़ने एवं सुनने में विशेष मनोरंजक तथा मधुर प्रतीत होता है। यही इससे लाभ है। कम से कम मात्रिक छन्दों में तुक का होना बहुत

आवश्यक ही नहीं वरन् हिन्दी भाषा की काव्य-शैली के अनुसार अनिवार्य ही सा है। वर्णवृत्ति या वर्णिक छन्दों में इसकी उपेक्षा भी की जा सकती है, यदि उनमें भी इसका प्रयोग हो तो वे और भी अधिक रोचक एवं मधुर लगने लगते हैं।

संस्कृत भाषा की कविता में तुक का नितान्त अभाव ही सा है, हाँ उसमें अन्त्यानुप्रास का अवश्यमेव बहुधा अच्छा प्रयोग मिलता है। संस्कृत भाषा में लिखी हुई अतुकान्त छन्द, भाषा की विचित्रता एवं रोचकता के कारण, स्वयमेव मधुर एवं मनोरञ्जक लगती है।

प्रायः सभी प्राचीन साहित्यिक भाषाओं की छन्दों में प्रथम तुक का नितान्तमेव अभाव पाया जाता है, न केवल संस्कृत ही में वरन् प्राकृत, अपभ्रंश, फारसी, अरबी, ग्रीक एवं लैटिन आदि भाषाओं में भी तुक को स्थान नहीं मिला।

हमारे देश की अन्य उन भाषाओं में भी जिनमें हिन्दी का प्रभाव बिलकुल ही नहीं पड़ा या यदि पड़ा भी है तो बहुत कम, तुक का अभाव ही सा है। जैसे बंगला, गुजराती आदि—

उर्दू भाषा ने तुकान्त रचना हिन्दी-भाषा के काव्य एवं कवियों से सीखी है। उर्दू में तुक (काफ़िया, रदीफ़) का अच्छा विचार एवं प्रचार है।

यमक और तुक में यह भेद है कि यमक छन्द के एक ही चरण में भी अनेक शब्दों के अन्तर्गत देखी या रक्खी जाती एवं जा सकती है, किन्तु तुक छन्द के चरणों के केवल अन्तिम शब्दों के ही अन्तर्गत रहता है। तुक चरणों के केवल अन्त में ही रहता है, किन्तु यमक के लिये कोई ऐसी रोक नहीं है। हाँ, यदि तुक को चरणान्तगत यमक कहें (चरणों के अन्तिम पदों से ही सम्बन्ध रखने वाली यमक कहें) तो कह सकते हैं।

तुक के रूप :—

(१) छन्द के चरणों में अन्तिम वर्णगत स्वरों का साम्य—

(२) छन्द के चरणों में अन्तिम वर्णों (स्वरों एवं व्यञ्जनों) का साम्य।

वर्णावृत्ति सम्बन्धी

(३) छन्द के चरणों में अन्तिम सार्थक वर्णों की आवृत्ति (शब्दोत्पादक)।

(४) छन्द के चरणों में निरर्थक वर्णों की आवृत्ति।

अभंग शब्दावृत्ति सम्बन्धी

(५) छन्द के चरणों में एकार्थ या समानार्थ वाची शब्दावृत्ति।

(६) छन्द के चरणों में विषमार्थ वाची शब्दावृत्ति।

(७) छन्द के चरणों में सभंग एवं अभंग शब्दावृत्ति।

(८) छन्द के चरणों में उत्तम तुक।

(९) छन्द के चरणों में मध्यम तुक।

(१०) छन्द के चरणों में निकृष्ट तुक।

[नोट—ध्यान रहे, कि वर्णावृत्ति मूलक अनुप्रास में विषमस्वर पूर्ण (स्वर वैषम्ययुक्त) वर्णों की भी आवृत्ति होती है किन्तु तुक में ऐसा नहीं होता है। साथ ही तुक में वर्णों की आवृत्ति में यथाक्रमता या एक ही क्रम की वैसी ही अनिवार्य आवश्यकता है जैसी यमक में, इसी बात पर दोनों में साम्य है। अन्य प्रकार के अनुप्रासों में यह बात नहीं होती।

भिखारीदास जी ने इस सम्बन्ध में अपने विचार काव्य निर्णय के "तुक-निर्णय" नामी अध्याय में दिये हैं और हमारे ८, ९, १० वें नम्बर के उत्तम, मध्यम, एवं निकृष्ट नाम के तुक-विभाग को उन्हीं का दिया हुआ विभाग जानना चाहिये।

उत्तम तुक—जहाँ छन्द के चरणों में अन्त के कई वर्णों (स्वरों एवं व्यञ्जनों) की एक ही क्रम से आवृत्ति हो, वहाँ उत्तम तुक माना जाता है।

टिप्पणी—ध्यान रहे कि यमक के समान तुक में भी क्रमानुसार (यथाक्रमता, क्रमैक्य एवं क्रम-साम्य) वर्णावृत्ति (स्वर व्यञ्जनावृत्ति) का होना अनिवार्य एवं आवश्यक है।

भेद—(१) समसरि—जहाँ चरणों में कई वर्णों की सस्वर-व्यञ्जनों की आवृत्ति या समता हो।

टिप्पणी—इन वर्णों की संख्या जितनी ही अधिक हो उतना ही अच्छा है।

(२) विषमसरि—जहाँ छन्द के चरणों में उन शब्दगत वर्णों की, जिनकी आवृत्ति होती है समता नहीं होती, वरन् विषमता ही रहती है।

(३) कष्टसरि—जहाँ चरणान्त वर्णावृत्ति कष्ट के साथ साम्य-मूलक हो।

[नोट—ध्यान रहे कि उत्तम तुक में संयुक्त वर्णों में भी साम्य आपेक्षित है]

मध्यम तुक—उत्तम तुक के समान इसमें कई वर्णों की आवृत्ति नहीं होती, वरन् बहुत कम वर्णों (दो या एक वर्ण) की ही आवृत्ति देखी जाती है। साथ ही इसमें संयुक्त, एवं सस्वर वर्णों में भी साम्य नहीं रहता।

भेद—(१) असंयोग मीलित—इसमें संयुक्त वर्ण यदि तुक में आपेक्षित होकर आते हैं तो वे उपेक्षित ही होते हैं, उनमें साम्य नहीं रहता।

(२) स्वर-मीलित – जहाँ तुक के केवल अंतिम स्वरों में ही साम्य होता है, किन्तु व्यञ्जनों में वैषम्य ही रहता है।

(३) दुर्मिल—जिसमें केवल अन्तिम वर्णों में ही साम्य रहता है। केवल एक ही एक वर्ण मिलते हैं।

[नोट—उर्दू काव्य में इस प्रकार का तुक बहुत पाया जाता है।]

अधमतुक—उक्त दोनों प्रकार के तुकों से भी अधिक निकृष्ट कोटि का यह तुक होता है, इसमें वर्णावृत्ति का कोई भी नियम-विशेष नहीं रहता।

भेद—(१) अमिल सुमिल—जहाँ कुछ चरणों में तुक मिलता हो, और कुछ में न मिलता हो।

(२) आदिमत्त अमिल—जिसमें तुक के आदि वाले स्वर या आदि वाले वर्णों की मात्रायें न मिलती हों (वर्ण भी मिलते हों या न मिलते हों)।

(३) अन्त मत्त अमिल—जिसमें अंत के वर्णों की मात्रायें न मिलती हों (वर्ण चाहे मिलते हों या न मिलते हों)

उक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि हमारे दिये हुये कतिपय रूप इन भेदों के अन्दर आ गये हैं। अब हम नीचे कुछ विशेष रूप देते हैं :—

(१) सार्थक—जहाँ उन वर्णों से, जिनकी आवृत्ति तुक में होती है, कोई सार्थक शब्द बन जावे।

क—तुक के आदिस्थ वर्ण-गत स्वर के साथ आवृत्ति सम्बन्धी वर्णों के योग से सार्थक शब्दोत्पत्ति हो। जैसे—सुधारत हैं, और आरत हैं।

ख—जब तुक के आवृत्ति सम्बन्धी वर्णों के साथ कोई व्यञ्जन (स्वर साम्य के साथ) मिल कर सार्थक शब्द बना हो। जैसे—उपहार है, प्रहार है।

ग—जब तुक के आवृत्ति सम्बन्धी वर्णों ही से कोई नया सार्थक शब्द बन जावे। जैसे—विसारत है, सारत हैं, रत हैं।

(२) निरर्थक—यमक के समान जहाँ तुक के सम वर्ण निरर्थक ही रहें—बिना किसी प्रकार के अर्थ के ही उनका प्रयोग केवल तुक मिलाने ही के लिये हो (यह अच्छा नहीं माना जाता) जैसे—करति उहूँ उहूँ—चुहूँ चुहूँ—

क—बिना किसी दूसरे वर्ण के मिलाये जिनका अर्थ न हो सके। जैसे—बाजत हैं, छाजत हैं।

हमने तुक का एक रूप शब्दावृत्ति मूलक भी दिया है। इसके भी मुख्य मुख्य रूप यों हो सकते हैं :—

१—एक ही शब्द की आवृत्ति—

क—एक ही (समान) अर्थ के साथः—

जैसे मानत नाहीं, जानत नाहीं

ऐसी दशा में तुक का निर्णय एकार्थवाची शब्दावृत्ति के पूर्व वाले वर्णों के साम्य पर किया जाता है—

जैसे—रहति है, रहति है...........

२—कुछ विशेषता के साथ जब एक ही अर्थ हो :—

जैसे—काज है, सुकाज है।

ख—भिन्नार्थ के साथः—

जैसे—नभ माँहि तारे हैं—भक्त तुम तारे हैं।

ग—किसी शब्द के साथ मिलकर भिन्न या विशेष अर्थ दे :—

जैसे—आती है, हँसी आती है

घ—पद तोड़ने से अर्थ भिन्न हो :—

जैसे—सुमन (फूल में) में, सुमन (सुन्दर मन) में
आई है या जानकी, पियारी मेरे जानकी।
गाहक है जानकी, न चूक मेरी जानकी।

ध्यान रहे कि जब तुक श्लिष्टपद होगा, तभी ऐसा हो सकता है कि उसकी अवृत्ति भी हो और अर्थ-पार्थक्य भी रहे; अनेकार्थ-वाची शब्द ही ऐसा करने में समर्थ होते हैं। यह तो अभंग-पद मूलक श्लिष्ट तुक हुआ। इसी प्रकार सभंगपद मूलक श्लिष्ट पद का भी तुक होता या हो सकता है:—जैसे ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है।

तुक के वर्गीकरण को हम व्याकरण के आधार पर भी समाधारित कर सकते हैं और इस प्रकार हम तुक को निम्न भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

१—संज्ञात्मकः—सभी प्रकार की संज्ञायें तुक में आ सकती हैः—

१—जाति वाचक—

२—व्यक्ति वाचक—राम हैं,............

३—भाव वाचक—

४—गुणवाचक—(विशेषण) अभिराम है, श्याम है......

५—सर्व नामः—हम सों, अपने......

एवं अन्य भी—जैसे समूह वाचक, द्रव्यवाचकादि......

२—क्रियात्मकः—यह रूप प्रायः सर्व साधारण एवं विस्तृत रूप से व्यापक है, बहुधा तुक में क्रियाओं को ही प्रथम तथा विशेष स्थान मिलता है।

उदाहरणों के देने की आवश्यकता नहीं।

३—अव्ययादि मूलकः—इसमें तुकान्त अव्ययादि सम्बन्धी पद या शब्द होता है—जैसेः—खेल नहीं फिर.........

भूलत नाहीं.........

नोट—इस रूप या भेद में प्रायः एक ही अव्यय सभी चरणों के सभी तुकों में रखा जाता है, अतः इसमें शब्दावृत्ति ही प्रधान रूप से रहती है।

तुक का एक रूप और भी है जिसे हम मिश्र रूप कह सकते हैं, प्रायः इसमें वीप्सा नामी अनुप्रास का विशेष बल रहता है, अतः हम इसे वीप्सा मूलक तुक भी कह सकते हैं।

१—उदाहरण—मातु पिता गुरु बन्धु सुत, मेरे है सब राम।
विद्या बुद्धि विवेक बल, जो कुछ है सो राम।

* २—वीप्सागततुकः—बिसारी न जैहै न जैहै।

कविवर दास ने हमारे एकार्थ वाची शब्दावृत्ति मूलक तुक को लाटिया तथा एक स्वर एवं अंतिम व्यंजन में साम्य रखने वाले तुक को याम कहा है।

तुकों को हम भाषा के भेदों के आधार पर भी यों विभक्त कर सकते हैं:—

१—व्रजभाषात्मकः—आवै हैं, जावै है, ह्वै रही, च्वै रही आदि
२—खड़ी बोली सम्बन्धी—आ रहे हैं, जा रहे हैं, चले गये, भले गये।
३—मिश्रित
४—उभयागत—जो दोनों भाषाओं में समान रहे।

---

* वीप्सा के लिये कभी तो शब्द या पद की दो बार और कभी दो से अधिक तीन या अधिक वार भी आवृत्ति या पुनरुक्ति की जाती है:—

१—जाते जाते गगन पथ में, प्राप्त होगी बालका।
२—रैन दिन आठों याम, राम राम राम राम,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये।
३—राम को भरोसो मोहिं राम को भरोसो,
मोहि राम को भरोसो, मोहि राम को भरोसो है।

सिंहावलोकन

छन्द में जब अंतिम तुक के (चरणान्त के) वर्णों की यथाक्रम आवृत्ति दूसरे (आगे आने वाले) चरण की आदि में होती है, तब जो वर्णावृत्ति मूलक अनुप्रास का कुंडलित रूप बनता है उसे सिंहावलोकन कहते हैं।*

टि०—ध्यान रहे कि इसमें भी यमक और तुक की भाँति आवृत्ति में यथाक्रमता की महती आवश्यकता है, इसमें क्रम की एकरूपता सर्वथा अनिवार्य ही है।

दास जी ने सिंहावलोकन को यमक का एक विशिष्ट रूप ही माना और कहा है—

चरन अन्त अरु आदि के, जमक कुंडलित होय।
सिंह-विलोकन है वहै, मुक्तक-पद ग्रस सोइ † ॥

---

* सिंहावलोकन=सिंह+अवलोकन (देखना), सिंह अपने आगे देखने के साथ ही साथ जैसे पीछे भी देखता जाता है वैसे ही जब आवृत्ति अपने आगे पीछे दोनों ओर समदृष्टि के साथ होती है तब सिंहावलोकन मानते हैं। जिस छंद के चरणों में यह रक्खा जाता है उनके आदि और अन्त के पदों या शब्दों में एक प्रकार के अन्त्यानुप्रास या यमक का रूप स्पष्टतया पाया जाता है, कह सकते हैं कि इसके कारण चरणों के आदि में भी एक रूप से तुक की सत्ता रहती है। इसे आद्यन्त तुकान्त या यमक भी कह सकते हैं।

† मुक्त या छोड़े हुए पद को जो ग्रहण करे।

इससे सिंहावलोकन का कुंडलित यमक होना तो स्पष्ट ही है साथ ही यह भी सर्वथा प्रत्यक्ष है कि यह केवल मुक्तक पद (छंद या काव्य) से ही सम्बन्ध रखता है। वास्तव में बात भी यही है, सिंहावलोकन का दर्शन एवं प्रयोग मुक्तक काव्य में ही प्रायः विशेष रूप से मिलता है। प्रायः इसका उपयोग कवियों ने मन हरण (कवित्त या घनाक्षरी) एवं सवैया छंदों में ही किया है।

संस्कृत के आचार्यों ने यमक के भेदों में एक रूप (भेद) ऐसा भी दिया है जो हमारे सिंहावलोकन से मिलता है, कदाचित् इसी आधार पर इसे यमक का एक विशिष्ट रूप दास ने कहा है)

किन्तु हमारा विचार यों है कि इसे यमक से सर्वथा पृथक् ही मानना अच्छा है, क्योंकि—

१—यह छंद के दूसरे चरणों (पृथक् पृथक् चरणों) से सम्बन्ध रखता है, जिनकी सत्ता एवं महत्ता स्वतन्त्र तथा पृथक् ही रहती है।

२—इसका उपयोग एवं प्रयोग यमक की अपेक्षा बहुत न्यून तथा संकीर्ण है—हाँ, यदि यमक को उसी विस्तृत रूप में लें जिसमें दास तथा संस्कृत के आचार्यों ने लिया है तो भले ही इसे उसके अन्तर्गत रख सकते हैं, किन्तु हमारी समझ में यमक का इतना विस्तृत भाव या रूप उपयुक्त नहीं, उसके क्षेत्र को छन्द के एक ही चरण में सीमाबद्ध रखना चाहिये, प्रायः काव्यों में यही बात साधारणतः देखने में भी आती है। केवल शब्दाक्षरावृत्ति (जो छेक का एकरूप है) को छोड़कर और किसी भी प्रकार के अनुप्रास को इस प्रकार कवि लोग प्रायः एक चरण से आगे नहीं बढ़ने देते।

नोटः—कुण्डलिया* में सिंहावलोकन की द्विपद-गति

आवृत्ति

१ यथा क्रमता से   २ व्यक्ति क्रमता से

१—यथा क्रमता से—जैसे—दौलत पायन कीजिये............

....

....

....

............रहत सब ही के दौलत

२—व्यक्तिक्रमता से—जैसे—बिना बिचारे जो करै..........

....

....

....

......कियो } जो बिना विचारे
करै जो }

३—आवृत्ति-हीन—

---
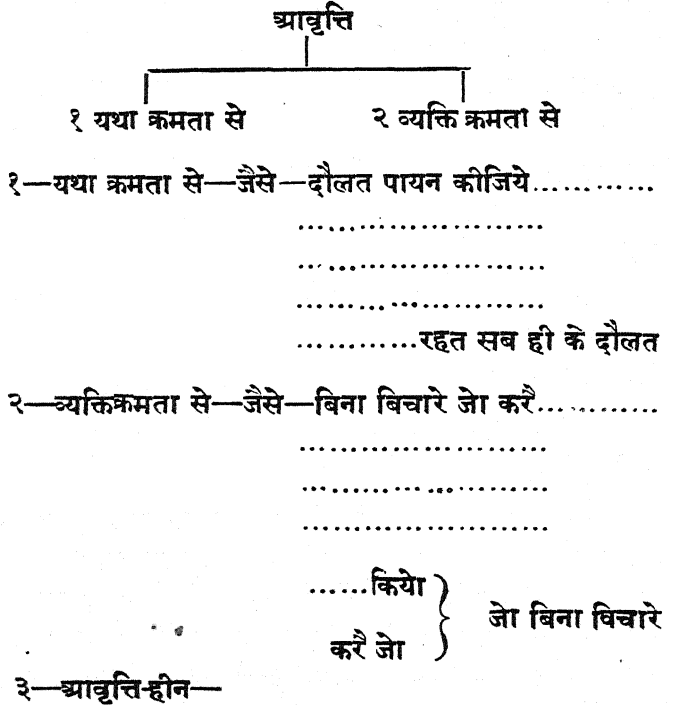
* इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना देखिये परिशिष्ट में।

हाँ, इसे हम वह आद्यन्तानुप्रास अवश्य कह सकते हैं, जिसमें आवृत्ति का रूप करण (टेढ़ा या वक्र) की गति के समान होता है और फिर गुणा की आकृति वाला हो जाता है—जैसे—यदि एक कवित्त या सवैया को, जिसमें सिंहावलोकन का प्रयोग हुआ है एक समकोण या (आयत या वर्ग) विषम कोण सम चतुर्भुज के रूप का मान लें और उसकी चौड़ाई की भुजाओं के चार भाग करें (जैसे वे चार चरणों से स्वतः ही हो जाते हैं) और फिर इसकी गति देखें तो उक्त चित्र ही बनता हुआ प्रतीत होगा।

कुंडलिया नामी छन्द में सिंहावलोकन का एक संकीर्ण रूप रहता है, क्योंकि उसमें प्रथम चरण के आदि के वर्णों (शब्दों) की आवृत्ति सब से अन्तिम चरण के अन्तिम तुक में रहती है। यहाँ आवृत्ति केवल एक-करण-गत गति से चलती है और इतनी विस्तृत व्यापकता नहीं रखती। आवृत्ति इसमें भी प्रायः यथाक्रम ही रहती है। हाँ कभी कभी कुंडलिया में यह आवृत्ति नहीं भी देखी जाती। तथा कभी कभी इस प्रकार की आवृत्ति में यथाक्रमता भी नहीं रहती, वरन् क्रम-वैषम्य या व्यतिक्रमता भी देखी जाती है।

ध्यान रहे कि सिंहावलोकन में वर्णावृत्ति सदैव सार्थक ही होती है, या आवृत्ति सम्बन्धी वर्णों से ही एक नया शब्द, जो सार्थक होता है, बनता रहता है। अमृतध्वनि में अवश्य ही आवृत्ति निरर्थक होती है।

रूप—सिंहावलोकन के निम्न रूप होते या हो सकते हैं—

१—एकार्थमूलकावृत्ति—इसमें आवृति के होने पर शब्द का अर्थ वही बना रहता है जो प्रथम था—इसके दो रूप हो सकते हैं:—

क—जिसमें प्रथम पद (चरणान्तगत) कुछ थोड़ी ही विशेषता, आवृत्तिगत पद (द्वितीय चरण के आदि के शब्द) की अपेक्षा एक ही मूल अर्थ के साथ रखता है।

जैसेः—.........छवि नन्द के सुघर की।

घर की बड़ाई कौन कोविद............

ख—जिसमें चरणान्तगत शब्द की ही आवृत्ति समानार्थ (एकार्थ) के साथ दूसरे चरण के आदि में होती है। यह वस्तुतः शब्दावृत्ति ही है, अतः इसे शब्दावृत्ति मूलक अनुप्रासों के ही अन्तर्गत मानना समीचीन होगा।

(१) जैसे......छाये हैं..................भाये हैं।
भाये हैं....................छाये हैं।
आवैना.....................भावैना
भावैना.....................पावैना।
पावैना.................... गावैगा।
गावैना.....................आवैना।

(२) लागै नाहिं....................भागैना।
भागैना.....................जागैना।
जागैना.....................त्यागैना।
त्यागैना.....................लागैना।

२—भिन्नार्थ मूलकावृत्ति—इसमें आवृत्ति होने पर नये बने हुये शब्द का अर्थ दूसरा ही होता है। इसके भी दो मुख्य रूप हो सकते हैं।

यदि प्रथम पद का अर्थ द्वितीय पद में भी लिया जाये तो अनर्थ हो जावे—

क—आवृत्ति सम्बन्धी वर्ण एकबार (प्रथम चरणान्त में) कुछ अर्थ नहीं रखते, किन्तु दूसरी बार (द्वितीय

चरण की आदि में अपना भिन्न अर्थ स्वतन्त्र रूप से प्रगट करते हैं।

....................सँभारते।

भारते ऊब उठो........

ख—जब दोनों स्थान पर आवृत्ति सम्बन्धी वर्ण अपने अपने भिन्न भिन्न अर्थ रखते हैं:—

....................सुमधु में (वसंत में)

मधु में (मकरन्द में)...........

नोट:—वर्णावृत्तिमूलक अनुप्रास के रूपों एवं भेदों में निम्न रूपों व भेदों को भी, जिन्हें हमने वर्ण-कौतुक के रूप या भेद कहे हैं, ले सकते हैं, क्योंकि उनमें वर्णों की, आवृत्ति स्पष्ट ही होती है।

१—एकाक्षरावृत्ति, एवं द्व्यक्षरा, त्र्याक्षरादि

२—प्रतिलोमानुलोमादि—

भिन्नार्थमूलकावृत्ति के दो और रूप हो सकते हैं:—

१—सभंग पदावृत्ति:—जिसमें पद के भंग करने से अर्थ में वैलक्षण्य या पार्थक्य आवे।

२—अभंगपदावृत्तिः—जिसमें पद के न भी भंग करने पर अर्थ भिन्न हो जाये। यह अनेकार्थवाची श्लिष्ट शब्दों पर ही आधारित रहता है।

इन दोनों के साथ ही एक रूप और भी लिया जा सकता है।

३—सहायेच्छु पदावृत्तिः—जिसमें सार्थकता एवं अर्थ में विभिन्नता लाने के लिये अन्य वर्णों या शब्दों की, जो आगे आते हैं, अपेक्षा की जावे।

उदाहरण—नं० १—...........................नाहक हैं।

नाह कहैं.......................

नं० २......................अंधकार छाया है।
छाया है छबीली यह माया की............
जन में....................गिने जात भले जन में

नं० ३—..............................मनो रमनी
रमनीक है........................

उक्त दोनों प्रकार के सिंहावलोकन का एक मिश्रित रूप भी हो सकता है—उसमें एकार्थ एवं भिन्नार्थ मूलक शब्दावृत्तियों के रूप स्पष्ट रहते हैं :—

नोट—इसकी पूर्ण विवेचना देखिये परिशिष्ट में।

———

शब्दावृत्ति-मूलकानुप्रास

—:*:—

जिस स्थान पर वर्णों की आवृत्ति ही न होकर—जैसा प्रथम दिखलाया जा चुका है, शब्दों की ही आवृत्ति हो, वहाँ शब्दावृत्ति-मूलक अनुप्रास जानना चाहिये।

चूंकि शब्दों की रचना वर्णों से होती है, अतः शब्दावृत्ति में भी वर्णावृत्ति रहती है, यह अवश्य कहा जा सकता है, किन्तु ध्यान रखना चाहिये कि वर्णावृत्ति सार्थक और निरर्थक दोनों तथा शब्दावृत्ति केवल सार्थक रूप में ही प्रायः होती है।

ध्यान रहे कि अनुप्रास का यह भेद सब प्रकार शब्दों की अर्थ-शक्ति ही पर समाधारित है। इसका सम्बन्ध विशेषतया अनेकार्थ-वाची शब्दों से ही है। हाँ, वीप्सा आदि कुछ थोड़े ही रूप इसके ऐसे हैं जो इसके प्रतिवाद में आ सकते हैं।

भेद—शब्दावृत्ति-मूलक अनुप्रासों को हम प्रथम दो मुख्य कक्षाओं में यों विभक्त कर सकते हैं—

(१) समानार्थ शब्दावृत्ति।

(२) विषम (भिन्न) अर्थ शब्दावृत्ति।

प्रथम कक्षा के अन्दर वे अनुप्रास आते हैं जिनमें एक ही या समान अर्थ के साथ शब्दों की आवृत्ति रहती है—इस प्रकार के अनुप्रास निम्न हैं—

(१) पुनरुक्त-प्रकाश।

(२) शब्दावृत्ति सम्बन्धी तुक।

(३) शब्दावृत्ति सम्बन्धी सिंहावलोकन।

(४) शब्दावृत्ति सम्बन्धी वीप्सा।

द्वितीय कक्षा में वे अनुप्रास आते हैं जिनका सम्बन्ध पृथक् पृथक् अर्थ रखने वाले शब्दों की आवृत्ति से होता है (शब्द तो वही बना रहता है, जिसकी आवृत्ति होती है, किन्तु वह शब्द अपने पृथक् पृथक् अर्थ अपने पृथक् पृथक् स्थानों में रखता है), इस प्रकार के अनुप्रास निम्न हैं :—

(१) पुनरुक्तवदाभास
(२) यमक (शब्दावृत्ति सम्बन्धी)
(३) सिंहावलोकन (भिन्नार्थ सम्बन्धी शब्दावृत्ति)
(४) तुक (भिन्नार्थ सम्बन्धी शब्दावृत्ति)

पुनरुक्ति-प्रकाश

—:*:—

केवल भिखारी दास ने ही इसकी परिभाषा दी है, और किसी भी आचार्य ने इसकी गणना अलंकारों में नहीं की :—

दोहा

एक शब्द बहु बार जहँ, परै रुचिरता अर्थ।
पुनरुक्ती परकाश गुन, वरनै बुद्धि समर्थ॥

का० नि० पृ० १९८

टिप्पणी—केवल रुचिरता लाने के लिये जहाँ पर एक शब्द की आवृत्ति अनेक बार हो, वहाँ पुनरुक्ति-प्रकाश जानना चाहिये।

दास जी ने इसे एक प्रकार का गुण माना है, किन्तु हमारी राय में इसे शब्दावृत्ति-मूलक अनुप्रास ही कहना समीचीन होगा, क्योंकि इसमें स्पष्ट रूप से शब्दावृत्ति ही होती है। फिर दास जी ने इससे लाभ या इसके प्रयोग का कारण तथा इसका उपयोग में केवल रुचिरता को ही कहा है, किन्तु हम समझते हैं, कि इस रुचिरता के साथ ही साथ भाव या अर्थ में भी समुत्कर्ष इसके द्वारा आ जाता है, और इसी भावोत्कर्ष के लिये ही इसका प्रयोग भी प्रधानतया किया जाता है, रुचिरता का भाव गौण ही होता है। भाव एवं अर्थ में बल तथा ओज-पूर्ण-जीवन डालना ही इसका मुख्य कार्य है।

ध्यान रहे कि इसमें एक शब्द की आवृत्ति बहुत या अनेक बार होती है, किन्तु वीप्सा में प्रायः ऐसा नहीं होता, उसमें आवृत्ति दो ही बार होती है। यही दोनों में भेद है। साथ ही पुनरुक्ति-प्रकाश में भाव को ज़ोर या बल देने के लिये तथा रुचिरता लाने

के लिये आवृत्ति अनेक वार की जाती है, किन्तु वीप्सा में मनोगत भावनाओं की प्रेरणा से स्वतः शब्दावृत्ति हो जाती है, और उस आवृत्ति से मनोवेगों के बल एवं वेग की सूचना प्राप्त होती है, केवल भाव ही का बल नहीं दिखाई पड़ता।

शब्दार्थावृत्ति-सम्बन्धी तुक

जब छंद के चरणों के तुक सम्बन्धी अंतिम शब्दों की ही समान एवं एक ही अर्थ में आवृत्ति होती है तब उसे हम शब्दार्थावृत्ति सम्बन्धी तुक (अर्थ-साम्य मूलक) कह सकते हैं।

ऐसी दशा में इसका सम्बन्ध एक प्रकार से तो पुनरुक्ति प्रकाश से (भाव में बल या ज़ोर देने के लिये) या श्लिष्ट यमक, सभंग, एवं अभंग पदी) या साधारण भाव से भी हो सकता है। ध्यान रहे कि केवल चरणों के अन्त ही में और तुकों के अन्दर ही यह आवृत्ति होती है, अर्थात् केवल तुकगत शब्दों ही की चरणों में आवृत्ति होती है, जो तुक प्रथम चरण में दिया गया है वही उसी रूप से सभी चरणों में एक ही अर्थ के साथ रक्खा जाता है।

शब्दावृत्ति मूलक सिंहावलोकन

जिस प्रकार हमने प्रथम शब्दावृत्ति मूलक तुक का वर्णन किया है उसी प्रकार सिंहावलोकन का यह रूप भी दिखाया जाता या जा सकता है।

इस सिंहावलोकन में शब्दावृत्ति एक ही अर्थ के साथ की जाती है। इसमें और कोई अन्य विशेषता नहीं रहती।

वीप्सा

—:※:—

एक शब्द बहु बार जहँ, हरषादिक ते होइ।
ताकहँ वीप्सा कहत हैं, कवि कोविद सब कोइ॥
का० नि० पृष्ठ २०१

हर्षादिक (मनोवेगों) से जहाँ एक शब्द की कई (अनेक) बार आवृत्ति हो वहाँ वीप्सा (अनुप्रास) माना जाता है।

टिप्पणी—यहाँ यद्यपि बहु शब्द दिया हुआ है अवश्य, तथापि प्रायः यही देखा जाता है कि वीप्सा गत आवृत्ति बहु बार न होकर दो ही बार हुआ करती है। 'वीप्सायाम् द्विरुक्तिः'

पुनरुक्ति प्रकाश एवं वीप्सा का अन्तर हम प्रथम ही लिख चुके हैं। यहाँ केवल संकेत रूप में यही कहना उचित समझते हैं कि वीप्सा में शब्दावृत्ति मनोवेगों को सूचित करती है तथा उन्हीं ही के आधार पर होती है, किन्तु ऐसा पुनरुक्ति प्राकाश में नहीं होता। यही मुख्य विशेषता इसमें विचारणीय है।

ध्यान रखना चाहिये कि वीप्सा, पुनरुक्तिवदाभास, पुनरुक्ति-प्रकाश एवं अन्य प्रकार के शब्दावृत्ति मूलक अनुप्रासों का सम्बन्ध छेकादि वर्णावृत्ति मूलक अनुप्रासों से भी है, क्योंकि इनमें भी वर्णावृत्ति होती है, और कह सकते हैं कि वर्णावृत्ति सम्बन्धी अनुप्रासों के ही ये सब परिवर्धित एवं विशिष्ट वैचित्र्य पूर्ण रूप रूपान्तर या भेदोपभेद हैं।

भेद—१—शब्द सम्बन्धी—

(क) संज्ञात्मक—जिसमें संज्ञाओं की आवृत्ति हो।
(ख) क्रियात्मक—जिसमें क्रियाओं की आवृत्ति हो।
(ग) अव्यात्मक—जिसमें अव्ययों की आवृत्ति हो।

टिप्पणी—उन एकाक्षर (एक वर्ण) सम्बन्धी (निर्मित) शब्दों को भी शब्द ही मानना चाहिये जिनका कुछ विशेषार्थ में प्रयोग होता है तथा जो अव्ययादि होकर शब्द के समान व्याकरण में भी माने या लिये गये हैं, जैसे—हा, रे, हे, आदि

ध्यान रहे कि विस्मयादि-बोधक अव्यय सम्बन्धी वीप्सा का सम्बन्ध उनसे सूचित एवं प्रदर्शित होने वाले रसों से भी होता है।

जहाँ कहीं शब्दावृत्ति के होने पर आवृत्ति सम्बन्धी शब्द-युग्म से कुछ विशिष्ट अर्थ हो और उनका यथार्थ (वास्तविक) अर्थ न रह जावे, वे अपने असली अर्थ को लेकर आवृत्ति में न आये हों वहाँ वीप्सा नहीं लेना चाहिये—

जैसे—राम रामः,—नमस्कार के अर्थ में (अभिवादनार्थ में) एवं घृणा, लज्जा तथा किसी कार्य या बात की बुराई के प्रदर्शनार्थ अव्ययार्थ में—

कभी कभी शब्दों का पुनः प्रयोग न कर उनमें बल देने के लिये बार, बेर आदि का प्रयोग किया जाता है—"मैं बर जी सतबार हू, "बारम्बार प्रणाम है" इत्यादि यह आवृत्ति हीन वीप्सा मानी जा सकती है।

वीप्सा सम्बन्धी कुछ शब्द-युग्म ऐसे भी हैं जो युग्मावस्था में ही सार्थक होते हैं अन्यथा निरर्थक ही से रहते हैं, जैसे—छी छी,

छन्दों के चरणों में वीप्सा का कोई स्थान विशेष नहीं, वह आदि, मध्य, अंत में कहीं भी आ सकता है और आता ही है।

जब वीप्सा तुक में आता है तो उसे तुकगत (तुकात्मक) वीप्सा कह सकते हैं।

वीप्सा को एक विशिष्ट एवं विचित्र प्रकार का यमक भी कह सकते हैं।

वीप्सा-उदाहरण

संज्ञागत वीप्सा—राम राम रटि विकल भुआलू ।

विशेषण—मीठे मीठे वचन उनके, आपको श्रव्य होंगे ।

क्रियागत वीप्सा—गाते गाते गुन गन गिरा, हो गई है गिरा ही ।

पूर्वका०—सुनि सुनि सरस सुरीली धुनि मुरली की ।

अव्यय—रे रे रावण हीन दीन............

प्रभुवर यह हा ! हा ! कीजिये कोप शान्त

नैनन की सैनन सों हाँ जू , हाँ जू , कहै किन्तु

बैनन सों कहति गोपाल जू नहीं नहीं ।

जाति जहाँ ई जहाँ वह बाल............

पृथगार्थसम्बन्धी शब्दावृत्ति

—:*:—

पुनरुक्तवदाभास

कहत लगै पुनरुक्ति सों, पै पुनरुक्ति न होइ।
पुनरुक्तीवदभास तेहि, कहत सकल कवि लोइ॥
का० नि० पृष्ठ २१०

जहाँ कहने (सुनने देखने या पढ़ने) में तो ऐसा ज्ञात हो कि शब्द को पुनरुक्ति (जो छंद के एक चरण में वर्जित है—नियम है कि एक ही अर्थ में एक शब्द का पुनः प्रयोग न हो और विशेषतया छन्द के एक ही चरण में) हुई है, किन्तु विचार-पूर्वक देखने से स्पष्ट हो जावे कि पुनरुक्ति नहीं हुई, वहाँ पुनरुक्तिवदाभास माना जाता है।

टिप्पणी—हिन्दी-काव्यालंकार शास्त्र के मुख्य मुख्य उपलब्ध आचार्यों के ग्रन्थों में से केवल दास-कृत काव्य-निर्णय एवं भूषण-कृत शिवराज-भूषण ही में इसका दर्शन होता है, शेष किसी में भी नहीं। दोनों आचार्यों के मत एक या समान ही हैं।

संस्कृत के आचार्यों के मतानुसार (जैसा बा० कन्हैय्या लाल पोद्दार ने भी अपने काव्य कल्प-द्रुम में दिखाया है) जहाँ भिन्न भिन्न शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में होता हुआ जान पड़े, किन्तु वस्तुतः ऐसा न होकर उनका प्रयोग भिन्न भिन्न अर्थों में ही हुआ हो, और इस प्रकार अर्थ की पुनरुक्ति का आभास मात्र जान पड़े, वहाँ पुनरुक्तिवदाभास जानना चाहिये। इससे स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध मूलतः अर्थ ही से है, शब्द से नहीं, अतः इसे एक प्रकार का अर्थालंकार ही मानना ठीक है, किन्तु इसे माना शब्दालंकार

ही गया है। हमारी समझ में तो इसे ऐसे ही स्थान पर लेना चाहिये जहाँ एक ही शब्द की एक ही अर्थ में (छंद के एक ही चरण में) आवृत्ति सी हो अर्थात् ऐसा जान पड़े कि एक ही शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में दो स्थानों पर किया गया है, किन्तु यथार्थ में ऐसा न हो। वहीं ही इसे मानना उचित है, जहाँ एकार्थ में ही शब्दावृत्ति या शब्द की पुनरुक्ति होती हुई सी (यद्यपि वास्तव में ऐसा न हो) जान पड़े। ऐसी ही अवस्था में इसे शब्दालंकार मानना समीचीन होगा, क्योंकि इसका इस दशा में शब्द एवं शब्दावृत्ति ही से मुख्य एवं विशेष सम्बन्ध रहेगा, न कि अर्थावृत्ति से। हाँ, यह हो सकता है कि अर्थावृत्ति मूलक पुनरुक्ति को इसका एक पृथक् रूप या भेद मान लिया जावे और इस प्रकार इसके दो भेद कर लिये जावें, एक का सम्बन्ध सर्वथा शब्दालंकार से और दूसरे का अर्थालंकार से रहे।

कदाचित् इसी को दूर करने के लिये इसे उभयालंकार माना गया है (जैसे साहित्य दर्पणकार पं० विश्वनाथ जी के द्वारा)।

शब्दावृत्ति मूलक पुनरुक्ति का रूप किसी २ अंश में यमक (शब्दावृत्ति मूलक) के समान ही सा प्रतीत होवेगा और दोनों एक ही से ठहरते दीखेंगे, और बिना कुछ भेद के दोनों के पहिचानने में कठिनता या उलझन पड़ेगी, ऐसा इस सम्बन्ध में अवश्य कहा जा सकता है, किन्तु हमारा कहना यह है कि फिर भी (ऐसा होने पर भी) हम दोनों में यह अन्तर देख सकते हैं।

(१) शब्दावृत्ति मूलक यमक में भी शब्द केवल शब्द सौंदर्य के ही लिये रक्खा जा सकता है, वह निरर्थक भी हो सकता है, किन्तु पुनरुक्तवदाभास में ऐसा नहीं हो सकता, इसमें शब्दों में सार्थकता का होना नितान्त आपेक्षित है।

टिप्पणी—अर्थ० पुनरुक्ति वदा० में एक ही अर्थ के सूचित करने वाले दो भिन्न शब्द जैसे जगत, जहान, भी रक्खे जाते या जा सकते हैं।

किन्तु शब्द० पुनरुक्तिवदाभास में एक ही शब्द की पुनरुक्ति दीखती है, जैसे—

सुन्दर सरस फूल फूल निखरे हैं नये,
बिखरे हैं बागन परागन के पुञ्ज।

अथवा यदि इसे हम शब्दावृत्ति मूलक यमक का ही दूसरा नाम मान लें तो भी कोई आपत्ति नहीं हो सकेगी।

हमारे हिन्दी के आचार्यों ने इसके भिन्न भिन्न रूप एवं भेद नहीं दिखाये, किन्तु संस्कृत के आचार्यों ने इस प्रकार के इसके कई भेद दिखाये हैं :—

(१) शब्दगत पुनरुक्तवदाभास—जिसमें पुनरुक्ति का आभास शब्द के आश्रित हो, शब्द-परिवर्तन (पर्यायी वाचक शब्द रखने) से पुनरुक्ति का वह आभास जाता रहे। इसके दो उपभेद हैं :—

(क) सभंग रूप—जहाँ शब्द को तोड़ कर उसके भागों में शब्द-परिवर्तन करने से पुनरुक्ति न रहे—

(ख) अभंगरूप—जहाँ बिना शब्द-विच्छेद के ही शब्द-परिवर्तन करने से पुनरुक्ति न आभासित हो—

(२) उभयगत (शब्दार्थगत)—जहाँ पुनरुक्ति का आभास शब्द और अर्थ दोनों के आधार पर हो।

एक शब्द में परिवर्तन (पर्याय-वाचक शब्द के द्वारा) करने से पुनरुक्ति का आभास बना रहे और दूसरे शब्द में परिवर्तन करने से न रहे, एक शब्द अनेकार्थवाची हो, और दूसरा न हो।

टिप्पणी—हमारी समझ में उन सभी अलंकारों को, जिनमें पद या शब्द के भंग करने पर अर्थ में चातुर्य प्रगट हो, एवं अलंकारिता प्रदर्शित हो, शब्द-विच्छेद (विश्लेषण) एवं पदान्वय-वैचित्र्य-सम्बन्धी शब्द-कौतुक ही के अन्तर्गत मानना चाहिये।

नोट—मम्मट :—

१ पुनरुक्तवदाभास
- (१) एकार्थ शब्दवाची
- (२) भिन्नशब्दार्थवाची

विश्वनाथ :—

१ पुनरुक्तवदाभास
- (१) शब्दगत
  - (क) सभंग
  - (ख) अभंग
- (२) शब्दार्थगत

ध्यान रहे कि इसका सम्बन्ध विशेषतया अनेकार्थवाची शब्दों से ही रहता है।

शब्दावृत्ति मूलक यमक

शब्दालंकार का यह भेद बहुत प्राचीन है, जैसा हम प्रथम ही अलंकारों के इतिहास के लिखते समय दिखला चुके हैं।

श्री भरत मुनि ने भी इसे दिया है। ज्ञात होता है कि इसे अनुप्रास ही मानकर उन्होंने दिया है, तथा इसी विचार से इसका प्रयोग भी प्राचीन कवियों के द्वारा किया जाता था। इसका प्रचार संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में उनके सभी कालों में प्रायः बहुत विस्तृत तथा विशेष रहा है।

भरत मुनि ने इसे पदाभ्यास की संज्ञा दी है, जैसे अनुप्रास को उन्होंने शब्दाभ्यास (वर्णाभ्यास ?) को दी है।

यमक की विवेचना, भेदोपभेदों की विस्तृत रचना या कल्पना संस्कृत में बहुत विस्तृत है। हमारे यहाँ केवल केशवदास जी ने पूरे एक अध्याय में इसका वर्णन किया है, और लगभग २० भेद इसके दिखलाये हैं। हाँ, उन्होंने और सभी प्रकार के अनुप्रासों को छोड़ दिया है। अन्य किसी भी आचार्य ने इसकी इतनी विस्तृत विवेचना नहीं की।

यह शब्दावृत्ति पर समाधारित है, अथवा वर्णावृत्ति पर, यह एक विवाद-ग्रस्त विषय है और इस पर भिन्न भिन्न आचार्यों के भिन्न भिन्न मत हैं। जिन्होंने अनुप्रासों पर विशेष ध्यान नहीं दिया, वे तो इसे वर्णावृत्ति ही पर आधारित करते हैं किन्तु जो अनुप्रासों का विवेचन करते हैं वे इसे प्रधानतया शब्दावृत्ति पर ही निर्भर करते हैं। हमने इसको दोनों रूपों में लिया है। वर्णावृत्ति मूलक यमक की विवेचना हम प्रथम ही दे चुके हैं, अतः यहाँ हम अब शब्दावृत्ति मूलक यमक का ही वर्णन करेंगे।

ध्यान रहे कि शब्दावृत्ति मूलक यमक में सदैव ही अर्थ-वैषम्य का प्राधान्य रहता है, अर्थ-साम्य का नहीं, अन्यथा यह वीप्सादि में रूपान्तरित हो जावेगा।

भेदः—हमारे केशवदास जी ने यमक की विवेचना बड़े विस्तार से की है, और पूरे एक अध्याय का स्थान इसी को दे दिया है, इससे स्पष्ट है कि वे (अपने समय के प्रभावानुसार ?) इसे कविता में बहुत प्रधान जानते और मानते थे।

आपने इसे विशेषतया वर्णावृत्ति मूलक ही माना है और इसके भेद यों किये है:—

१—यमक—१—सुखकर २—दुखकर।

सुखकर के फिर दो भेद किये हैं—

१—अव्ययेत (अभंग) या अविकारी
२—सव्ययेत (सभंग) या सविकारी

अव्ययेत के फिर पद सम्बन्धी १२ भेद किये हैं—

१—आदि पद, २—मध्यपद ३—तृतीय पद, ४—चतुर्थ पद, ५—आद्यंत ६—द्विपद ७—त्रिपद ८—पदान्त पदादि ९—द्विपदान्त १०—उत्तरार्ध ११—त्रिपाद १२—चत्वार पाद।

टि०—ये सब रूप पदों में यमक के स्थानों के आधार पर ही रचे गये हैं।

सव्ययेत के १० भेद हैं—इनका भी सम्बन्ध पदों से ही है। १—आदि अन्त २—पादान्त निरन्तर ३—आद्यन्तर ४—त्रिपादादि ५—चतुष्पदादि ६—सुखकर ७—दुखकर ८—अनुप्रास।

टि०—अंतिम ३ भेद विचित्र हैं—अनुप्रास (जो यमक का एक विशेष रूप माना गया है) वह अनुप्रास नहीं जिसका विवेचन हम प्रथम कर चुके हैं।

दुखकर यमक के अनेक भेदों का होना केशव जी ने कहा तो अवश्य है, किन्तु उन्हें आपने कहीं दिखलाया नहीं।

अन्य आचार्यों (दास, भूषण, राजा जसवन्तसिंह, दूलह) ने यमक को साधारण रूप में ही दिखलाना पर्याप्त समझा है, और इसके भेदोपभेदों को ध्यान में न रखकर उन्हें नितान्त ही छोड़ दिया है। हमारे नये लेखकों ने जैसे बा० कन्हैयालाल पोद्दार एवं बाबू जगन्नाथ प्रसाद "भानुकवि" ने अपने काव्यकल्पद्रुम (जो अलंकार प्रकाश का परिवर्धित संस्करण है) तथा काव्यप्रभाकर में यमक की विवेचना संस्कृत के प्रमुख आचार्यों के ही मतानुसार की है :—

नोट—मम्मट यमक को वर्णावृति मूलक मानते हैं और नये शब्द (यमक कृत) में भिन्नार्थ (अर्थ-वैषम्य) को ही प्रधान स्थान देते हैं—

यमक :—

(१) असंकीर्ण पादगत (७ भेद)

(२) भागावृत्ति (४० भेद)

(३) संकीर्ण पादगत (४ भेद)

छन्द के भिन्न भिन्न चरणों (पादों) में यमक के स्थानानुसार २० भेद और भी आपने दिखाये हैं।

भागावृत्तियमक :—

(१) सजातीय (आद्यन्तसाम्य)

(२) विजातीय (वैषम्य)

(३) समुच्चय (सजातीय विजातीय मिश्र)

साथ ही आपने यमक-संकर एवं पाद-भागावृत्ति, संकीर्ण-स्वप्न ३ रूप और भी दिये हैं।

(४) माध्यमिक—

१—आदि २—आद्यन्त ३—अन्त

विश्वनाथ जी यमक में अर्थ-पार्थक्य एवं स्वर-व्यंजनावृत्ति (वर्णावृत्ति) को प्रधान मानते हैं। टीकाकार ने निम्न भेद दिखाये हैं।

यमकः—

(१) दुख यमक
(२) संदंश
(३) आवृत्ति
(४) गर्भ
(५) संदष्टक
(६) पुच्छ
(७) पंक्ति
(८) परिवृत्ति
(९) युग्मक
(१०) समुद्गमक
(११) महायमक

काव्य-कल्पद्रुम में यमक के निम्न भेद दिये गये हैं—
यमक के प्रथम दो भेद हैंः—

१—पादावृत्ति २—भागावृत्ति।

टि०—छन्द का चतुर्थ भाग पाद कहलाता है, उस पूरे पाद की आवृत्ति जहाँ हो उसे पादावृत्ति, और जहाँ पाद के आधे, तिहाई एवं चौथाई आदि किसी छोटे भाग की आवृत्ति हो, वहाँ भागावृत्ति यमक मानी जाती है।

पादावृत्ति के १० रूप श्री० पं० विश्वनाथ जी के द्वारा साहित्य दर्पण में दिये गये हैं। वे रूप या भेद ये हैंः—

१—मुख—प्रथम पाद की आवृत्ति द्वितीय पाद में हो।
२—संदंश " " " तृतीय " "
३—आवृत्ति " " " चतुर्थ " "
४—गर्भ—द्वितीय " " तृतीय " "
५—संदष्टक " " " चतुर्थ " "
६—पुच्छ—तृतीय " " " " "
७—पंक्ति—प्रथम " " तीनों " "
८—युग्मक " " " दूसरे में और तृतीय पाद की आवृत्ति चतुर्थ पाद में हो।

९—परिवृत्ति—प्रथम पाद को चौथे पाद में और द्वितीय की तृतीय पाद में आवृत्ति हो।

१०—समुद्गक—प्रथम एवं द्वितीय दोनों पादों की आवृत्ति तीसरे एवं चौथे पादों में आवृत्ति हो।

भागावृत्ति—पादार्ध या षष्ठाष्ट भाग की आवृत्ति के २० भेद हैं, प्रथम इस भागवृत्ति के दो ही रूप किये गये हैं:—

१—आदिगत २—अन्तगत

१—प्रथम में पादों के प्रथमार्धों की प्रथमार्धों में और अन्तार्धों की अन्तार्धों में आवृत्ति होती है। इन दोनों के १० दस भेद (रूप) होते हैं। इनके नाम वे ही हैं जो पादवृत्ति के १० रूपों के हैं।

इसी प्रकार पाद के तिहाई (छन्द के बारहवें) भाग की आवृत्ति के ३० और पाद के चौथाई (छन्द के सोलहवें) भाग की आवृत्ति के ४० रूप दिखाये गये हैं।

एक समस्त छंद की समस्त छंद में जो आवृत्ति होती है उसे महायमक कहा गया है।

प्रथम पादादि के अन्तार्धभाग की दूसरे पादादि के आद्यर्ध भाग में की गई आवृत्ति को आन्तादिक, तथा एक ही छन्द में प्रथम पाद में आदि के।भाग की मध्य में अथवा बिना किसी नियम के कहीं भी आवृत्ति हो, योंही दूसरे एवं तीसरे पादों में भी हो तो आदि मध्य, आद्यन्त और मध्यान्तक आदि नामी रूप हो जाते हैं। यमक के इस प्रकार बहुत से रूप किये गये हैं, तथा किये जा सकते हैं। विस्तार-भय से हम उन्हें यहाँ नहीं देना चाहते।

उक्त विवेचना से स्पष्ट है कि ये समस्त भेद पदों में यमक के स्थानान्तर पर ही समाधारित हैं। यमक में आवृत्ति सम्बन्धी शब्दों के अर्थ-पार्थक्य पर ध्यान रखने से अर्थ-वैषम्य के आधार पर यमक के दो मुख्य भेद माने गये हैं।

१—सभंग—जिसमें शब्द को तोड़कर भिन्न अर्थ देखा या दिखाया जाता है।

२—अभंग—जिसमें शब्द को बिना तोड़े हुये ही उसका भिन्न अर्थ लिया जाता है। इसमें अनेकार्थ वाची शब्दों से ही साहाय्य ली जाती है।

साथ ही प्रायः यह भी किया जाता है कि आवृत्ति सम्बन्धी यमकगत शब्द को आगे पीछे के किसी वर्ण या वर्णों से संयुक्त करके उसका भिन्न अर्थ निकाला जाता है।

उक्त विवेचना से यह भी स्पष्ट है कि यमक के रूपों के अन्दर लाटादि अनुप्रास भी आ सकते हैं।

हमारे हिन्दी के आचार्यों ने इन सब भेदों को नहीं अपनाया। वस्तुतः ये भेद अपनी वृद्धि के लिये, कवि के प्रगाढ़ पांडित्य एवं कला-पटुत्व की ही अपेक्षा करते हैं।

सिंहावलोकन (शब्दावृत्ति सम्बन्धी)

सिंहावलोकन में जहाँ शब्द ही की आवृत्ति होती है वहाँ मुख्यतया अर्थ की दृष्टि से दो भेद हो जाते हैं—

१—समानार्थ मूलक—जहाँ सिंहावलोकन के आवृत्ति गत शब्द एक ही अर्थ रखते हैं। इसे हम प्रथम दिखला चुके हैं।

२—भिन्नार्थ मूलक :—जहाँ आवृत्ति गत शब्द भिन्न अर्थ रखते हैं—इसके दो रूप हो सकते हैं :—

क—अनेकार्थ-सामर्थ्य से ही शब्द जहाँ भिन्नार्थ प्रगट करें।

ख—सभंग होकर अपने खंडों से जहाँ शब्द भिन्न अर्थ प्रगट करे।

यहाँ शब्द या शब्द खंड अपने आगे पीछे वाले अन्य वर्णों के संयोग से भी अर्थ-वैषम्य-पूर्ण हो सकते हैं।

तुक (शब्दावृत्ति-सम्बन्धी)

सिंहावलोकन की भाँति शब्दावृत्ति सम्बन्धी तुक के भी मुख्यतया दो भेद हो सकते हैं (आवृत्ति सम्बन्धी तुकगत शब्दों की अर्थ-शक्ति के आधार पर)—

१—समानार्थ मूलक तुकों का वर्णन हम प्रथम ही दे चुके हैं।

२—पृथगार्थ मूलक—

क—अनेकार्थ शक्ति से

ख—शब्द-विच्छेद से खंडार्थ, एवं पार्थक्य-शक्ति से

ग—अन्य शब्द या वर्ण के संयोग से

वर्णावृत्ति में वर्णों की आवृत्ति यथाक्रम भी होती या हो सकती है, किन्तु यह कोई अनिवार्य बात नहीं, वर्णावृत्ति अयथाक्रम भी हो सकती है।

(अर्थ-वैषम्य से) अयथाक्रम वर्णावृत्ति—

१—दक्षिण से वाम ओर की यथाक्रमगति—

प्रतिलोमानुलोम पाद—

(अर्थ-वैषम्य से) (१) देवाकानि निकावादे—

(अर्थ-साम्य से) (२) देवं नंद नंदनंवंदे—

२—एक एक वर्ण छोड़ते हुए विलोम क्रमगति—

इसी प्रकार और भी अनेक रूप हो सकते हैं।

शब्दावृत्ति भी अयथाक्रम (वर्णावृत्ति के आधार पर, उसी की भाँति) होती है।

अर्थ-वैषम्य मूलक—सरसः विपरीतश्चेत्सरसत्वं न मुञ्चति।
साक्षराः विपरीताश्चेत् राक्षसाः एव केवलम्॥

अर्थ-साम्य से—करक रही है सौतिही, करक दिखाओ काह।

मिश्र रूप—

इसके और भेद—श्लिष्टपद से, १—सभंग, २—अभंग से हो सकते हैं।

पदावृत्ति—अयथाक्रम से—

पदावृत्ति सम्बन्धी अनुप्रास

जहाँ छन्द में एक पद की आवृत्ति हो अथवा कई एक शब्द यथाक्रम फिर आवें, वहाँ पदावृत्ति सम्बन्धी अनुप्रास जानना चाहिये। कह सकते हैं कि यह शब्दावृत्ति सम्बन्धी अनुप्रास का विस्तृत एवं बड़ा रूप है। वर्णावृत्ति में कई वर्णों की जिस प्रकार आवृत्ति होती है उसी प्रकार इसमें कई शब्दों की आवृत्ति होती है। यहाँ शब्दावृत्ति की भाँति यथाक्रमता सदैव सर्वथा आवश्यक एवं अनिवार्य है।

किन्तु कभी कभी पदावृत्ति में भी शब्दावृत्ति या वर्णावृत्ति की भाँति यथाक्रमता नहीं भी देखी जाती, वरन् उसमें व्यतिक्रमता (क्रमवैषम्य) भी रहती है—जैसे कंडलिया में—

भेद—इस अनुप्रास के मुख्यतया निम्न भेद हो सकते हैं—

१—लाट

२—वीप्सा (पदावृत्ति सम्बधी)

३—पुनरुक्ति-प्रकाश (पदावृत्ति सम्बन्धी)

(४) व्यवस्था (क्रम) वैषम्य—

पाप करै सो तरै तुलसी, कबहूँ न तरै हरि के गुन गाये।

गति प्रतिरोध या शब्द संयोग वैचित्र्य (वैषम्य)

मारहु जनि, छाँड़हु यहि भाई।
मारहु, जनि छाँड़हु यहि भाई॥

प्रश्नवाची—

अपिप्रिये प्रीतिभृतां मुरारौ, किं वालकश्रीघन धान्यविश्वैः।
यस्याप्यतीसार रुजो न तस्य किं वालकश्रीघन धान्यविश्वैः॥

विस्तार-भय से हम इसे पूर्ण रूप में नहीं दे रहे हैं।

लाटानुप्रास

हमारे प्रमुख आचार्यों ने इसकी तीन भिन्न भिन्न परिभाषायें दी हैं—दास जी ने इसमें एक शब्द की बहुत बार आवृत्ति (जो शब्दावृत्ति का शुद्ध लक्षण है) और तात्पर्य से अर्थ-पार्थक्य का होना इन दोनों बातों की ही प्रधानता रक्खी है।

भूषण ने इसमें सस्वर वर्णों एवं पदों की आवृत्ति को ही प्राधान्य दिया है। किन्तु जसवन्तसिंह ने इसमें पदावृत्ति तथा बिना प्रत्यक्ष अर्थपार्थक्य के भी अर्थ-पार्थक्य की विशेषता दिखलाई है।

संस्कृत आचार्यों के मत से (जैसा पोद्दार साहब ने दिखलाया है) यह पदावृत्ति मूलक ही अनुप्रास है। इसमें आवृत्ति वाले पदों का अर्थ प्रकाश में तो एक ही रहता है, शब्दावली श्लिष्ट नहीं होती, और पदावली भी अनेकार्थ नहीं रखती, तो भी उसका अर्थ तात्पर्य-पार्थक्य के कारण बदल जाता है। तात्पर्य की सूचना कवि अन्य पदों एवं शब्दों से स्पष्ट रूप में दे देता है। इसी तात्पर्य-पार्थक्य के आधार पर आवृत्तिगत पदों का दूसरे अभिप्राय से सम्बन्ध रखने वाले अर्थ कई प्रकार के साधनों से किये जाते हैं और उनमें परिवर्तन दिखाया जाता है—

अर्थ परिवर्तन के कुछ साधन:—

१—लक्षणा—इसके द्वारा लक्ष्यार्थ की ओर, शब्द के अपना अभिधेय अर्थ रखने पर भी कवि बलात् ले जाते हैं।

२—व्यंग्य—(क) स्वर-वैषम्य (काकु) के द्वारा शब्द, अपना यथार्थ भाव छोड़ कर दूसरा ही भाव प्रगट करते हैं।

(ख) श्लेष के द्वारा

३—व्यवस्था (क्रम) में परिवर्तन करने से अर्थात् पदों एवं शब्दों को, अन्वय के करते समय, किसी विशेष क्रम या व्यवस्था-विधान के अनुसार रखने से।

४—पदावृत्ति के साथ कुछ नव शब्दों का संयोग करने से।

५—पदावृत्ति के साथ कुछ नव विशिष्ट चिन्हों के संयुक्त कर देने से—प्रश्नवाची चिन्हादि—

६—आवृत्ति गत पदों के किसी विशेष शब्द को किसी विशेष शब्द के साथ संयुक्त कर देने से।

शब्द को भंग कर देने से—

जानकी सौंह है, जानकी सौंह............

जानकी न भूल, मेरी जानकी न भूल.........

शब्द को श्लिष्ट करने से—

होय अकिल मन्दी तुरत, दलबन्दी ह्वै जाय। यहाँ मन्दी का अर्थ है मन्द या तुच्छ

होय अकिल मन्दी तुरत, दलबन्दी ह्वै जाय। कैदी

अभंग—

नाकदम रहै जौ लौं, नाक दम रहै जौलौं—

(पदगतवीप्सा)

नाकदम रहै तौ लौं ना कदम टारैंगे।

अक्षर के लोपसे —पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणैः।

(अ का लोप) पथ्येऽसति ,, ,, ,,

समास-विग्रह-वैषम्यसे—

यमक की भाँति इसकी आवृति में अर्थ की भिन्नता नहीं होती, हाँ, इसमें भाव या तात्पर्य की भिन्नता अवश्य होती है।

इसके दो रूप और हो सकते हैं :—

१—सभंग पद—जिसमें किसी पद को तोड़ देने से अर्थ में पार्थक्य हो जाता है।

२—अभंग पद—जिसमें उक्त साधनों के द्वारा, बिना किसी पद को तोड़े ही, अर्थ-वैषम्य की प्राप्ति हो जाती है।

इन दोनों के साथ ही कभी कभी अक्षरच्युत—किसी एक स्वर या वर्ण को लुप्त रूप में रख देने से भी अर्थ बदल जाता है। ऐसे स्थलों पर सन्धि के नियमों से सहायता ली जाती है और किसी विशेष प्रकार से सन्धि-विच्छेद या विश्लेषण दिखा कर अर्थ बदला जा सकता है।

कभी कभी समासगत पद में समास की किसी विशिष्ट विग्रह के रूप से भी अर्थ में परिवर्तन किया जाता है।

वीप्सा (पदावृत्ति सम्बन्धी)

जब वीप्सा में शब्दों की ही आवृत्ति न होकर कई शब्दों से मिले हुए किसी पद की आवृत्ति होती है तब उसे पदावृत्ति सम्बन्धो वीप्सा मानना चाहिये।

लाट में भी पदावृत्ति होती है, किन्तु उसमें आवृत्ति गत पद का तात्पर्य से अर्थ बदल जाता है, किन्तु इसमें ऐसा नहीं होता, हाँ इसमें केवल भाव को बल देने तथा उसमें अधिकता लाने के लिये द्विरुक्ति या पुनरावृत्ति होती है और कभी कभी दो से अधिक बार भी आवृत्ति की जाती है। इसमें छंद की भी आवृत्ति होती है।

उदाहरण

१—भज गोविन्दं, भज गोविन्दं, भज गोविन्दं मूढ़मते।

२—द्वारिकै जाहु जू द्वारिकै जाहु जू आठहू याम यहै रट ठानी।

३—हमकौं लिख्यो है कहा, हमकौं लिख्यो है कहा,
हमकौं लिख्यो है कहा कहन सबै लगी।
—महाकवि रत्नाकर जी

पुनरुक्ति-प्रकाश (पदावृत्ति सम्बन्धी)

वीप्सा की भाँति पुनरुक्तिप्रकाश में भी पदावृत्ति होती हैं, किन्तु इसमें वीप्सा की भाँति न केवल भाव के बल प्रदानार्थ एवं उसमें आधिक्य लाने के लिये ही आवृत्ति होती है, वरन् किसी विशेष मनोवेग एवं भावना को ज़ोर देने के लिये ही आवृत्ति की जाती है, यह आवृत्ति कई बार भी होती है। वीप्सा और इसमें यही भेद है—

उदाहरण

१—ओरी तोरी सौंह कहौं सांची या गरे की माल,
दीन्हीं है गोपाल मोहिं, दीन्हीं है गोपाल ने।

टि०—कुंडलिया नामी छंद के भी तृतीय चरण में प्रायः सर्वदा पदावृत्ति रक्खी जाती है, वह या तो वीप्सा से सम्बन्ध रखती है या पुनरुक्ति प्रकाश से।

जैसे—बिना विचारे जो करै, सो पाछे पछिताय।
काम बिगारै आपनो, जग में होत हँसाय।
जग में होत हँसाय, चित में चैन न पावै। आदि

श्लेषालंकार

आचार्य-प्रवर भामा जी ही के समय से यह अपनी प्रधानता रखता आया है। यह शब्दालंकार है या अर्थालंकार—यह प्रथम तो विवाद-ग्रस्त रहा और भिन्न भिन्न आचार्यों के भिन्न भिन्न मत रहे। कुछ आचार्यों ने इसे शब्द गुण भी माना है।* केशव मिश्र (जिनसे हमारे केशव दास ने साहाय्य ली है) तथा हेमचन्द्रादि ने इसे शब्दालंकार तथा भामा, दंडी, वामन, रुद्रटादि ने इसे अर्थालंकार माना है। उद्भट के समय से इसको शब्द एवं अर्थ के भेद से विभक्त करने का झगड़ा चला तथा इसका सम्बन्ध सभी अलंकारों से है ऐसा मानने पर भी विवाद उठा। उद्भट का मत है कि यह बहुत बल (शक्ति) पूर्ण अलंकार है, इसके साथ आने वाले सभी अलंकार इसकी प्रतिभा एवं शक्ति के सामने दब जाते हैं। वस्तुतः बात भी यही है। भोजराज ने इसे उभयालंकार माना है।

रुद्रट ने तो इसे अलंकारों के मूल सिद्धान्तों में से एक माना है, जैसा हम प्रथम ही दिखला चुके हैं।

> बहु शब्दन को एक कै, कीजै जहाँ समास।
> ता अधिकाई श्लेष गुन, गुरु, मध्यम, लघुदास॥
>
> का० नि० पृ० १९५

बहुत शब्दों से जहाँ एक समास बनाया जाता है, वहाँ श्लेष नामी गुण जानना चाहिये। समासों के तीन भेदों (दीर्घ, मध्यम

---

* मम्मटाचार्य ने इसे गुण भी माना है और इसी आधार पर हमारे दास जी ने भी इसे गुणों के साथ रक्खा है।

एवं लघु) के आधार पर श्लेष गुण भी गुरु, मध्यम एवं लघु तीन रूपों में प्रदर्शित होता है।

"धातूनामनेकार्थत्वात्" एवं "शब्दाः कामधेनवः" के आधार पर श्लेष का क्षेत्र इतना विस्तृत एवं व्यापक हो जायेगा कि सर्वत्र यही ही यही दिखाई पड़ेगा।

यह प्रायः सभी जानते हैं कि काव्य, कोष एवं व्याकरण शास्त्र के कुशल विद्वान् एक एक पद के कई कई अर्थ करते हैं और एतदर्थ इसी से सहायता लेते हैं। इस प्रकार यह प्रायः सभी अलंकारों का चूड़ामणि ही ठहरता है।

किन्तु यह विचार ठीक नहीं, क्योंकि श्लेषालंकार वहीं माना जाता है जहाँ शब्द या शब्दों के कई भिन्न भिन्न अर्थ स्पष्टतया प्रकाशित किये गये हों और प्रसंगानुसार सभी लागू और उपयुक्त ठहर कर चरितार्थ भी होते हों। और इसकी सूचना भी कवि ने दे ही हो।

श्लेषालंकार

दोइ तीनि कै भाँति बहु, जहाँ प्रकाशित अर्थ।
सो श्लेषालंकार है, बरनत बुद्धि समर्थ॥

का० नि० २०५

जहाँ एक शब्द या कई शब्दों के दो, तीन या कई प्रकार के अर्थ कवि के द्वारा स्पष्टतया प्रकाशित किये गये हों, वहाँ श्लेषालंकार माना जाता है। इससे स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध अनेकार्थ वाची शब्दों से ही होता है। तथा इसे शब्द-शक्ति से ही पुष्टता एवं सहायता प्राप्त होती है। कहीं तो शब्द को अनेकार्थ देने वाली शक्ति का और कहीं तात्पर्य से भिन्नार्थ प्रदायिनी शक्ति का प्राधान्य होता है।

इस प्रकार इसको अभिधा एवं व्यञ्जना से सहायता मिलती है और कभी कभी लक्षणा से भी इसे सहारा प्राप्त होता है।* मुद्रालंकार में लक्षणा का प्राधान्य रहता है, अभिधा का नहीं, तथा उसमें सूच्यार्थ गौण तथा विकल्प रूप से लागू होता है, किन्तु श्लेष में ऐसा नहीं होता, इसमें सभी अर्थ स्पष्टरूप से प्रसंगानुकूल हो लागू या चरितार्थ होते हैं और सभी सब प्रकार प्रकाशित रहते हैं। मुद्रा में सूच्यार्थ गुप्त रहता है। यही दोनों में अन्तर है।

नोट—ध्यान रखना चाहिये कि जब कवि अपने हृदय में कई भावों या अर्थों के प्रगट करने का विचार करके अनेकार्थ वाची शब्दों को जानबूझकर कई अर्थ या भाव देने की स्पष्ट सूचना देता हुआ रखता है तभी श्लेषालंकार जानना चाहिये। यदि अर्थ करने वाला अपने पांडित्य के बल से बाल की खाल निकालने के समान शब्दों को तोड़ मरोड़ कर उनके कई अर्थ करता है तो हमारी समझ में श्लेषालंकार का वहाँ मानना ज़बरदस्ती ही की बात होगी।

दास जी ने इसे (विरोधाभास, मुद्रा, वक्रोक्ति, और पुनरुक्तवदाभास के साथ लेकर) शब्दालंकार ही कहा है और यह भी दिखाया है कि इसे कोई भी अर्थालंकार नहीं कहता। हम इन सब शब्द से होने वाले अर्थालंकारों को (जिन्हें दास ने इसके साथ लिया है) अर्थालंकारों में ही विशेष रूप से मानना ठीक समझते हैं—क्योंकि इनका सम्बन्ध विशेष रूप से शब्द-शक्ति एवं तदुत्पन्न अर्थों से ही हैं।

---

*शब्द उभय हूँ शक्ति तें श्लेषालंकृत मानि।
अनेकार्थ बल इक दुतिय, तातपर्ज बल जानि॥
का० नि० २०५

दास ने इसके भेद नहीं दिये, हाँ इसके दो, तीन एवं चार अर्थों के प्रकाशित करने वाले रूप दिये हैं। केशवदास ने भी दो, तीन एवं अधिक अर्थों के देने की शक्ति वाले शब्दों को श्लिष्ट और जहाँ ऐसे शब्दों का स्पष्ट प्रयोग देखा जाता है वहाँ श्लेषालंकार माना है। शेष सभी आचार्यों ने साधारणतया इसी भाव को श्लेष के लक्षणों में प्रधान माना है, और अप्पय के ही आधार पर इसकी विवेचना की है।

श्लेष :—

- (१) सभंग
  - (क) प्रकृताश्रित
    - (१) विशेष्य श्लिष्ट
    - (२) विशेष्य अश्लिष्ट
  - (ख) अप्रकृताश्रित
    - (१) विशेष्य श्लिष्ट
    - (२) विशेष्य अश्लिष्ट
  - (ग) उभयाश्रित
    - (१) विशेषण श्लिष्ट
- (२) अभंग
  - (क) प्रकृताश्रित
    - (१) विशेष्य श्लिष्ट
    - (२) विशेष्य अश्लिष्ट
  - (ख) अप्रकृताश्रित
    - (१) विशेष्य श्लिष्ट
    - (२) विशेष्य अश्लिष्ट
  - (ग) उभयाश्रित
    - (१) विशेषण श्लिष्ट

श्लिष्ट शब्दों के दो मुख्य भेद होते हैं :—

(१) सभंग—वे श्लिष्ट शब्द हैं जिनको तोड़ कर किसी पृथक् अर्थ की कल्पना की जावे।

(२) अभंग—वे श्लिष्ट शब्द हैं जिनके बिना तोड़े हुये ही कई अर्थ होते या हो सकते हैं। ऐसे शब्द कोश के अनेकार्थ वाची शब्द ही होते हैं।

इन दोनों प्रकार के शब्दों के आधार पर श्लेषालंकार के दो भेद हो जाते हैं :—

(१) सभंगश्लेष—शब्द के भंग होने पर ही जहाँ श्लिष्टता हो। जैसे—मंजुलता (सुन्दरता, और मंजु लता या सुन्दर लता)

(२) अभंगश्लेष—शब्द को भंग किये बिना ही जहाँ श्लिष्टता हो—और कई अर्थ प्रकट हों। यथा :—मधु (वसंत, मदिरा, मकरंदादि)

इनमें से प्रत्येक के तीन तीन भेद यों और होते हैं :—

(१) प्रकृतमात्राश्रित—जिसमें विशेष्य पद (जिस संज्ञा शब्द से किसी वस्तु या व्यक्ति का नाम, या गुण प्रदर्शित किया जावे) श्लिष्ट या अश्लिष्ट हो। या प्रस्तुत पर ही जहाँ श्लेष आश्रित हो।

(२) अप्रकृतमात्राश्रित—जहाँ अप्रस्तुत विशेष्य पद श्लिष्ट हो या अश्लिष्ट हो। या अप्रस्तुत ही पर श्लेष आश्रित हो।

(३) उभयाश्रित—जिसमें विशेषण (विशेष्य के गुणों या अवस्थाओं का प्रकाशक) पद श्लिष्ट हो। किन्तु विशेष्य पद श्लिष्ट न हों।

प्रथम दो के विशेष्यों में श्लिष्टता एवं अश्लिष्टता होने से दो दो भेद और हो जाते हैं, तृतीय के नहीं होते, उसके केवल विशेषण ही श्लिष्ट रूप में रहता है।

टिप्पणी—सभंग और अभंग श्लेष क्रमानुसार जातुकाष्ठ-न्याय (लाख और लकड़ी का सम्बन्ध सूचक न्याय—जिस प्रकार लाख सब प्रकार लकड़ी से पृथक् होती है, किन्तु उसमें इस प्रकार चिपकी रहती है कि पृथक् नहीं हो सकती, उसी प्रकार सभंग श्लेष में दूसरा शब्द जो प्रथम शब्द को भंग करने से प्राप्त होता है प्रथम शब्द से पृथक् होता हुआ भी उससे इतना चिपका रहता है कि पृथक् नहीं किया जा सकता) तथा फलगुच्छ-न्याय (एक गुच्छे में पृथक् पृथक् कई फलों में विलगता पूर्ण सहस्थिति-सम्बन्ध का प्रदर्शक न्याय—जिस प्रकार एक गुच्छे में अलग अलग कई फल लगे होते हैं और सभी एक ही से या समान गुण वाले होते हैं; और विलग भी किये जा सकते हैं; विलग वे रहते और दीखते भी हैं, वैसे ही अभंग श्लेष में भी यही बात है, उसमें एक ही शब्द में दो या अधिक अर्थ स्पष्ट रूप से प्रसंग के साथ समान रूप से लागू होने वाले होकर भी पृथक् पृथक् लगे रहते हैं) पर आधारित किये जाकर शब्द और अर्थ से सम्बन्ध रखने वाले कहे गये हैं। मम्मट आदि दूसरे आचार्यों ने ऐसा न मान कर अलंकारों के शब्द और अर्थ सम्बन्धी विभाजन को अन्वय—जिसके रहने पर या जिसकी स्थिति पर दूसरे का रहना या उसकी स्थिति हो—और व्यतिरेक—जिसकी सत्ता के न होने पर किसी दूसरे की भी सत्ता न हो सके—पर समाधारित माना है। यदि कोई अलंकार किसी शब्द के रहने पर तो रहे और उसके दूर करने पर न रहे तो वह शब्द सम्बन्धी या शब्द गत (शब्दालंकार) है, किन्तु यदि कोई अलंकार किसी शब्द के हटा देने या उसके स्थान पर उसके पर्याय वाचक शब्द के रख देने पर भी ज्यों का त्यों ही बना रहे, तो वह अर्थ सम्बन्धी या अर्थगत (अर्थालंकार) है। जो इन दोनों दशाओं में समान रहे, वह उभयालंकार है।

निष्कर्षतः यों कहिये कि शब्द-सत्ता पर ही समाश्रित रहने वाले अलंकार तो शब्दालंकार और अर्थ पर समाश्रित रहने वाले अर्थालंकार हैं। इस विचार से दोनों प्रकार के श्लेष अर्थ सम्बन्धी या अर्थगत (अर्थालंकार) ही माने गये हैं। किन्तु कुछ लोगों का मत है कि श्लेष, शब्दालंकार है, यदि वह शब्दाश्रित (शब्द बदल देने पर भी श्लिष्टता रहित हो) है। साथ ही कुछ ने इसे उभयाश्रित मूलक भी माना है। अतः श्लेष के तीन रूप हुये—

(१) शब्दाश्रित (शब्दालंकार) या शब्द गत श्लेष।

(२) अर्थाश्रित (अर्थालंकार) या अर्थगत श्लेष।

(३) उभयाश्रित (उभयालंकार) या उभयगत श्लेष।

कुछ आचार्यों का मत है कि श्लेष अन्य सभी अलंकारों से बलवत्तर है और इसीलिये वह प्रधान भी हो जाता है। यह प्रायः सभी अलंकारों के साथ आता या आ सकता है।

मम्मट जी ने अर्थगत श्लेष के वर्ण, पद, लिंग, वचन, विभक्ति, भाषा, प्रकृति, तथा प्रत्ययादि के आधार पर कई भेद किये हैं, किन्तु ऐसे भेद हिन्दी भाषा के किसी भी आचार्य ने नहीं दिये।

केशवदास ने इसके निम्न रूप दिये हैं :—

(१) भिन्नपद, (२) अभिन्नपद, (३) उपमाश्लेष, (४) अभिन्नक्रिया, (५) विरुद्धक्रिया, (६) विरुद्धकर्म, (७) नियम विरोधी।

गोकुल कवि ने—(१) वर्ण्य (२) अवर्ण्य (३) वर्ण्यावर्ण्य ये ही तीन भेद श्लेष के दिये हैं। मतिराम जी के दिये हुये भेदों को हम ऊपर दिखला चुके हैं। भूषण, जसवन्त सिंह तथा देव कवि ने इसके भेद नहीं दिये।

दास जी ने इसे संस्कृत के अन्य आचार्यों के मतानुसार एक प्रकार का गुण भी माना है—

"बहु सब्दन को एक कै, कीजै जहाँ समास।
ता अधिकाई श्लेष गुन, गुरु मध्यम लघु दास॥"

का० नि० पृ० १६५

जहाँ कई शब्दों से निर्मित समासों का आधिक्य हो वहाँ श्लेष गुण माना जाता है। इसके तीन रूप या भेद होते हैं—

(१) दीर्घ (गुरु) समास मूलक
(२) मध्यम " "
(३) लघु " "

अर्थालंकार प्रकरण

—:*:—

उपमा

यह सबसे प्राचीन और आवश्यक अलंकार है। वेदों में भी इसका प्रयोग स्पष्ट रूप से मिलता है। निरुक्तकार यास्क ने लिखा है कि इसके द्वारा एक श्रेष्ठ पदार्थ की तुलना एक तुच्छ पदार्थ से भी की जाती है और एक निकृष्ट वस्तु की तुलना किसी एक अच्छी वस्तु से भी की जाती है। उपमा का यह द्वितीय रूप ही व्यापक रूप से अधिक प्रचलित और प्रख्यात हुआ है। कह सकते हैं कि प्रथम रूप कुछ निन्दात्मक और द्वितीय प्रशंसात्मक है। केशवदास ने कदाचित् दोनों को उठाया है, किन्तु और सभी आचार्यों एवं कवियों ने केवल दूसरे ही रूप को प्राधान्य दिया है।

यास्क के लेख से यह भी स्पष्ट होता है कि उपमा का पूर्ण विकसित रूप वेदों के समय में (क्योंकि वेदों में वह मिलता है) प्रचलित था. वे पूर्णोपमा का वर्णन उसके (१) उपमेय (२) उपमान (३) सामान्य धर्म (४) वाचक नामी चारों अंगों के साथ करते हैं। महर्षि पाणिनि ने भी उपमा का सम्बन्ध व्याकरण से दिखलाया है और एतदर्थ सूत्रों के रूप में नियम भी दिये हैं। प्रायः सभी प्राचीन से प्राचीन कवियों एवं लेखकों ने उपमा को प्रधानता दी है। श्रीभरत मुनि ने अपने ४ अलंकारों में उपमा को सब से प्रथम स्थान और प्राधान्य दिया है। उन्होंने इसके ६ रूप भी दिखाये हैं—

उपमांग-संख्या के आधार पर

(१) एक उपमेय और एक उपमान
(२) ” ” ” अनेक ”
(३) अनेक ” ” एक ”
(४) ” ” ” अनेक ”

भाव के आधार पर

(५) प्रशंसोपमा
(६) निन्दोपमा
(७) कल्पितोपमा
(८) सदृशी उपमा
(९) असदृशी " (किंचित्सदृशी उपमा)

इससे स्पष्ट है कि उस समय इस अलंकार का पर्याप्त विकास हो चुका था और इसकी ओर ध्यान भी अधिक दिया जाता था, तथा इसका प्रचार भी ख़ूब था। इसका प्राधान्य, प्रचार एवं विकास अबाध रूप से होता ही चला आया और यहाँ तक हुआ कि इसके अनेकों भेद हो गये तथा यह सभी अलंकारों का मूल केन्द्र मान लिया गया (वामन का मत है कि औपम्य ही सब अलंकारों का आधार है और सभी अलंकार उपमा के ही प्रपंच हैं यह यदि सर्वांश में नहीं तो अधिकांश में सत्य ही है।

संस्कृत एवं हिन्दी के सभी आचार्यों ने इसे प्रधानता दी है। वास्तव में यह है भी सर्वाग्रगण्य और प्रधान अलंकार। न केवल साहित्य ही में इसका प्रयोग-प्रचार है, वरन् जन साधारण और उनकी बोलचाल की भाषा में भी इसका सुन्दर व्यवहार स्पष्ट रूप से देखा जाता है। पढ़े और बेपढ़े सभी उपमा का प्रयोग एक प्रकार से स्वभावतः ही करते हैं, क्योंकि इससे दो वस्तुओं की तुलना हो जाती है, जिससे वे स्पष्ट, सरल, एवं सुबोध बन जाती हैं। यदि इसे इस विचार से स्वाभाविकालंकार कहें तो कुछ अनुचित न होगा।

टिप्पणी—(१) उपमेयोपमा (२) अनन्वय (३) प्रतीप (४) रूपक (५) स्मरण (६) भ्रांति (भ्रम), (७) संदेह

(८) अपन्हुति (९) उत्प्रेक्षा (१०) अतिशयोक्ति (११) तुल्य-योगिता (१२) दीपक (१३) प्रतिवस्तूपमा (१४) दृष्टान्त (१५) निदर्शना (१६) व्यतिरेक (१७) सहोक्ति (१८) समासोक्ति आदि सादृश्य मूलक सभी अलंकार औपम्य मूलक हो कर उपमा के ही प्रपंच मात्र हैं और उसी पर समाश्रित हैं।

इसकी प्रधानता को चित्रमीमांसाकार यों दिखाते हैं—

" उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रञ्जयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥"

अर्थात् काव्य रूपी रंग भूमि में (गद्य काव्य या पद्य काव्य में) उपमा रूपी नटी अनेक प्रकार की भूमिकाओं के रूपान्तरों से नृत्य करती हुई काव्य रसिकों का मनोरञ्जन किया करती है।

भूषण त्रिपाठी भी अपने शिवराज भूषण में इसकी प्रधानता स्पष्ट रूप से यों दिखाते हैं—

" भूषन सब भूषननि में, उपमहिं उत्तम चाहि।
याते उपमहिं आदि दै, बरणत सकल निबाहि॥"

हिन्दी भाषा के शेष सभी आचार्यों ने भी उपमा ही को सबसे प्रथम उठाया है।

परिभाषिक-शब्द

इसके प्रथम कि हम उपमादि अलंकारों का वर्णन करें, हमें यह समीचीन प्रतीत होता है कि उन परिभाषिक शब्दों की व्याख्या कर दी जावे, जिनका प्रयोग अलंकारों की परिभाषाओं में विशेष रूप से किया जाता है।

(१) उपमेय—जिस वस्तु, पदार्थ या और चीज़ (पुरुष, स्त्री, मुख, आँखादि) को उपमा दी जाये, और जो उपमा देने

के योग्य हो उसे उपमेय कहते हैं, या जिसकी किसी के साथ समता, सदृशता या समानता तुलनात्मक दृष्टि के साथ दिखाई जावे। इसी को "विषय" (विशेष्य), "वर्णनीय" "वर्ण्य" और "प्रस्तुत" आदि नामों से भी पुकारते हैं।

(२) उपमान—जिस वस्तु या पदार्थ की उपमा दी जावे, या जिसकी समता, या सदृशता उपमेय से की जावे और जिसके साथ उपमेय की तुलना हो, उसे उपमान कहते हैं। इसी के दूसरे नाम, "विषयी" (विशेषण), "अवर्ण्य" एवं "अप्रस्तुत" भी हैं।

(३) साधारण धर्म—उक्त उपमेय और उपमान दोनों में जो गुण, कर्म (क्रिया) और स्वभावादि के भाव समानता से पाये जाते हैं उन्हें साधारण धर्म या लक्षण कहते हैं। औपम्य मूलक तुलना इसी पर समाश्रित होती है।

(४) विशेष धर्म—साधारण धर्मों के अतिरिक्त वे धर्म या लक्षण, जो किसी में (उपमेय या उपमान में) विशेषता के साथ (ख़ास तौर पर) विशेष रूप से होते हैं—विशिष्ट या विशेष धर्म कहलाते हैं। उपमेयोपमान में जब अन्तर-सूचक तुलना की जाती है (जैसे प्रतीपादि में) तब इन्हीं का उपयोग किया जाता है।

(५) उपमा-वाचक शब्द—उपमेयोपमान की समता या साम्यमूलक तुलना को प्रकट करने वाले शब्द को वाचक कहते हैं। इनसे समता, सादृश्य (सदृशता) या समानता प्रगट होती है।

इव, यथा, वा, ज्यों, जैसे, जिमि, लौं, से, सा, सी, सों, तथा, तिमि, त्यों, तुल्य, तूल, समान, सम, सरिस, सदृश, निभ, संनिभ, संकाश, नीकाश, सवर्णादि या इनके पर्यायी वाचक शब्द वाचक (उपमा-वाचक) कहलाते हैं।

है उपमेय, विषय अरु वर्ण्य।
उपमान तु विषयीहि अवर्ण्य ॥
प्रासंगिक कहँ प्रस्तुत जानि।
अप्रसंग अप्रस्तुत मानि ॥
भेद्य विशेष्य, विशेषण, भेदक।
बहु व्यापक, सामान्य अखेदक ॥
अल्पव्यापक आहि विशेष।
भूषण भाषक नाम अशेष ॥

जाको वर्णन कीजिये, सो उपमेय प्रमान।
जाकी समता दीजिये, ताहि कहत उपमान ॥
मुख चखादि उपमेय हैं, शशि झषादि उपमान।
समानार्थं वाचक लखौ, धर्म एक गुन जान ॥

—ललित ललामे।

टिप्पणी—उपमेय को प्रासंगिक और उपमान को अप्रासंगिक भी कहते हैं। सामान्य (साधारण) धर्म को बहु-व्यापक और विशेष धर्म को अल्प-व्यापक तथा भेद के प्रकाश करने वाले को विशेषण और जिसका विभेद प्रगट किया जावे उसे विशेष्य कहते हैं।

उपमा :—

(१) पूर्णोपमा
(क) श्रौती
(ख) आर्थी
(२) लुप्तोपमा
(क) एकलुप्ता

(१) धर्मलुप्ता
(क) श्रौती
(ख) आर्थी
(२) उपमानलुप्ता
(क) श्रौती
(ख) आर्थी
(३) वाचकलुप्ता (केवल आर्थी)
(ख) द्विलुप्ता
(१) वाचक-धर्म लुप्ता
(२) धर्मोपमानलुप्ता
(३) वाचकोपमेयलुप्ता
(४) वाचकोपमानलुप्ता
(ग) त्रिलुप्ता (वाचक धर्मोपमानलुप्ता)

उपमा

कहुँ काहू सम बरनिये, उपमा सोई विचार।
जहँ उपमा उपमेय है, सो उपमा विस्तार॥

का० नि०

दो पदार्थों या वस्तुओं में भेद रहते हुये भी जहाँ साधर्म्य या सामान्य (साधारण) धर्म के द्वारा दोनों का साम्यमूलक सम्बन्ध प्रगट किया जावे वहाँ उपमा अलंकार जानना चाहिये।

टि०—ध्यान रहे कि उपमालंकार में उपमेय एवं उपमान के बीच में भेद का रहना आवश्यक है। क्योंकि बिना भेद के उपमा दूसरे अलंकारों में रूपान्तरित हो जावेगी। अनन्वय में उपमेय एवं उपमान में अभेद रहता है, वे दोनों एक ही होते हैं, किन्तु उपमा में ये दोनों पृथक् पृथक् पदार्थों के ही रूप में रहते हैं।

उपमा-भेद

उपमा के मुख्य दो भेद है :—

१—पूर्णोपमा—जहाँ पर उपमा के चारों अंग (उपमान, उपमेय, धर्म और वाचक) सब प्रकार स्पष्ट हों, वहाँ पूर्णोपमा होती है। तथा जहाँ पर उपमेय एवं उपमान अपने सभी अंगों के साथ सम्बन्ध रखते हुये दिखाये जाते हैं वहाँ सर्वाङ्गी उपमा और जहाँ ये दोनों अपने किसी एक विशेष अंग के ही साथ सम्बद्ध दिखाये जाते हैं वहाँ एकांगी उपमा मानी जाती है।

पूर्णोपमा के मुख्य २ भेद है :—

क—श्रौती :—सादृश्य-सम्बन्ध वाचक शब्दों में से जहाँ इव, यथा, वा, जैसे, सी, सें, सों, लौं, जिमि आदि का उपमा के साथ प्रयोग हो, वहाँ श्रौती उपमा मानी जाती है।

टि०—ध्यान देना चाहिये कि यह भेद व्याकरण से भी सम्बन्ध रखता है, यह स्पष्ट है कि उक्त वाचक शब्द उपमान के साथ बिना षष्ठी (सम्बन्ध) कारकादि की सहायता के ही प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट सादृश्य-सम्बन्ध दिखाते हुये विशेषण के रूप में आते हैं और अपने से पूर्ववर्ती उपमान के सादृश्य-सम्बन्ध को उपमेय के साथ अभिधा शक्ति ही के द्वारा चमत्कार के साथ प्रगट करते हैं।

ख—आर्थी—साम्य-सम्बन्ध सूचक शब्दों में से जहाँ तुल्य, तूल, सम, समान, सरिस, सदृश आदि का प्रयोग उपमा के साथ होता है वहाँ आर्थी उपमा मानी जाती है।

टि०—स्मरण रखना चाहिये कि उक्त वाचक शब्द कहीं एवं कभी उपमान के, कहीं या कभी उपमेय के और कहीं दोनों के साथ अन्वित एवं संयोजित होते हैं और षष्ठी (सम्बन्धादि) कारकों की सहायता से भाव स्पष्ट करते हैं, इसलिये प्रथम इन

शब्दों का अर्थ या भाव के द्वारा उपमेय या उपमान का, दोनों के साथ सम्बन्ध निश्चित करना पड़ता है, तब कहीं सादृश्य-का ज्ञान हो पाता है। इनके होने पर अर्थ के बल से ही सादृश्य सम्बन्ध का आक्षेप या आरोप करना पड़ता है, ये इवादि शब्दों के समान उपमागत साम्य-सम्बन्ध के प्रत्यक्ष एवं स्वाभाविक वाचक नहीं हैं। इसीलिये इन शब्दों से संयुक्त उपमा को आर्थी उपमा कहते हैं।

"होत आरथी, श्रोतियो, ताको दोइ प्रकार।

का० नि० पृ० ७०

वर्णनीय उपमेय है, समता उपमा जानि।
जो ह्वै आई आदितें, सो आरथी बखानि॥

का० नि० पृ० ७१

समता, वाचक, सम धरम, वर्न्य चारि इक ठौर।
ससिसों निरमल मुख यथा, पूरन उपमा गौर॥
धर्म सहज, अश्लेष की, जहाँ सुकवि सरि देत।
श्रौती उपमा ताहि को, कहत सदा शुभ चेत॥

पृ० ७१

लुप्तोपमा

समतादिक जो चारि हैं, तिनमें लुप्त निहारि।
एक दोइ की तीन लौं, लुप्तोपमा विचारि॥

का० नि० पृ० १३

जब उपमेय, उपमान, साधारण-धर्म और उपमावाचक शब्दों में से किसी एक, दो अथवा तीन अंगों का लोप कर दिया गया हो अर्थात् वह अंग या वे अंग छिपा दिये गये हों, और स्पष्टरूप से न कहे गये हों, तब लुप्तोपमा जानना चाहिये।

इसके मुख्य दस भेद हैं—

(१) धर्मलुप्ता—जिसमें धर्म को छोड़ कर शेष सभी तीनों अंग सर्वथा स्पष्ट हों। साधारण धर्म ही का लोप हो। यथा—

कुन्द इन्दु सम देह......

नोट—काव्यादर्शकार ने इसे "वस्तूपमा" की संज्ञा दी है।

(२) उपमान लुप्ता—जहाँ उपमान ही को छिपाया गया हो और शेष सभी अंग स्पष्ट रक्खे गये हों। यथा—

जिहि तुलना तुहिं दीजिये, सुबरन सौरभ माँहि।
कुसुम-तिलक चम्पक अहो, हौं नहिं जानौ ताहि॥

नोट—इसमें उपमेय के सदृश किसी अन्य वस्तु का होना सम्भव होता है, यदि सदृश वस्तु का पूर्ण अभाव दिखाया जावे तो यह अलकार सम नामी अलंकार में रूपान्तरित हो जावेगा। अतः कह सकते हैं कि समालंकार इसी का एक विशिष्ट रूप मात्र है।

(३) वाचक लुप्ता—जहाँ केवल वाचक (उपमावाचक) शब्द को ही अस्पष्ट रक्खा गया हो और शेष सभी अंग स्पष्ट रूप से दिये गये हों। यथा—

नील सरोरुह श्याम.........

नोट—इसमें कोई विशेष चमत्कार नहीं रहता। वाचक शब्द अपनी ही ओर से जोड़ा जाता है, अतः इसमें यह कहना कि यह आर्थी है या श्रौती कठिन क्या वरन् अर्थ करने वाले को ही इच्छा पर निर्भर है। अतः इसके आर्थी एवं श्रौती के भेद से दो भेद नहीं हो सकते, किन्तु उक्त (प्रथम के) दो लुप्ताओं में से प्रत्येक के आर्थी और श्रौती के आधार पर दो दो भेद और हो जाते हैं। यह विशेष रूप से विचारणीय है।

(४) उपमेय लुप्ता—जिसमें उपमेय ही को अव्यक्त रक्खा गया हो और शेष सभी अंग स्पष्ट रूप से दिये गये हों। इसमें इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि जो उपमान दिये गये हैं वे अपने धर्मों के साथ उपमेय की सूचना एवं उसकी विज्ञापना सांकेतिक परिचय के साथ अवश्य देते हैं। इस प्रकार उपमेय की पूर्ति अर्थ कर्ता कर सकता है, किन्तु उसे यह आवश्यक होता है कि वह कवियों एवं काव्यों की उपमा-परिपाटी की परम्परा से परिचित हो, अन्यथा सम्भव है, कि वह उपमान के साथ किसी अनुपयुक्त एवं अघटित उपमेय को सम्बद्ध कर दें।

यथा—गया पुहुप से अरुन में, मुकतावलि से स्वच्छ।
मधुर सुधा सी कढ़ति है, तिन तें हास प्रतच्छ॥

नोट—उक्त भेद एक लुप्ता ही के हैं, अब द्वि लुप्ता को लीजिये।

(१) वाचक-धर्म-लुप्ता—जिसमें वाचक शब्द और धर्म दो अंगों को अव्यक्त रक्खा गया हो। यथा—

लखु लखु, सखि सरस नयन, इन्दु-वदन, घनश्याम।

नोट—यहाँ भी वाचक शब्दों के स्पष्ट न होने से आर्थी और शाब्दी का भेद नहीं किया जा सकता। साथ ही धर्म का लोप होने से उसकी पूर्ति उपमेय एवं उपमान को ही देखकर कवियों की उपमा-परम्परा के आधार पर प्रसंगानुसार ही की जानी चाहिये।

(२) वाचकोपमेय लुप्ता—जिसमें वाचक-शब्द और उपमेय नामी दो अंगों को स्पष्ट रूप से न दिखाया गया हो। यथा—

अटा उदय हो तो भयो, छविधर पूरन चन्द।
हौं बलि बलि अवलोकिये, मन्मथ करन अनन्द॥

नोट—वाचक के छिपे रहने से इसके भी श्रौती एवं आर्थी सम्बन्धी भेद नहीं हो सकते। यहाँ भी कवि-परंपरा के आधार पर उपमान से उपमेय सूचित एवं लक्ष्य होता है।

(३) वाचकोपमानलुप्ता—वाचक शब्द तथा उपमान का जहाँ लोप हो, वहाँ यह भेद मानना चाहिये।

नोट—इसके भी श्रौती और आर्थी नामी भेद नहीं हो सकते, क्योंकि यहाँ भी वाचक का लोप रहता है। यहाँ साधारण धर्म तथा उपमेय के ही आधार पर उपमान की कलपना कवि-परम्परा के अनुसार करनी पड़ती है।

(४) धर्मोपमानलुप्ता—साधारण धर्म तथा उपमान को जहाँ पर अव्यक्त रखते हैं, वहाँ धर्मोपमानलुप्ता जानना चाहिये।

यथाः—" बतीसी मोतीसी "—

नोट—इसके दो भेद श्रौती और आर्थी के आधार पर होते हैं, क्योंकि इसमें वाचक (से, सों, तुल्य, समानादि में से कोई एक) शब्द व्यक्त रहता है।

विकसित नील सरोज सम, प्रफुलित दृगन लखाय।

(५) विम्बप्रतिविम्बोपमा—यहाँ उपमा के सभी अंग विद्यमान रहते हैं, और भिन्न भिन्न प्रकार के साधारण धर्मों को व्यक्त किया जाता है, उपमा के अन्य भेदों में यह बात नहीं होती।

(६) श्लेषोपमा—इसमें साधारण धर्म सूचक शब्द श्लिष्ट रहते हैं, अतः कह सकते हैं कि यह एक प्रकार का मिश्रालंकार है, क्योंकि इसमें उपमा के साथ ही साथ अर्थश्लेष भी सम्मिलित रहता है और उसी पर उपमा का चमत्कार एवं चातुर्य भी समाधारित रहता है।

श्लेष के दो भेदों के अनुसार इसके भी दो भेद हो सकते या होते हैं--(१) अर्थश्लेषोपमा—इसमें अर्थश्लेष ही उपमा का सहायक होता है। इसके ही समान दूसरा भेद (२) शब्दश्लेषोपमा है, जिसमें उपमा के साथ शब्दश्लेष का सामंजस्य रहता है। इसमें भिन्न भिन्न धर्म समान शब्द से (या एक ही शब्द से) व्यक्त किये जाते हैं। प्रथम भेद में एक ही धर्म श्लिष्ट शब्दों के अर्थों से पृथक्तया व्यक्त किया जाता है, यही दोनों में अन्तर है।

नोट—शब्दश्लेषोपमा को दंडी जी ने समानोपमा की संज्ञा दी है। सभंग और अभंग के आधार पर इसके भी दो भेद और हो जाते हैं।

(७) नियमोपमा—इसमें सादृश्य को नियमित कर दिया जाता है और वह नियमित किये हुये धर्म एवं उपमान से बाहर नहीं जा सकता।

(८) वैधर्म्योपमा—इसमें साधर्म्य पर बल न दिया जाकर, उपमेय एवं उपमान के वैधर्म्य पर ही प्रकाश डाला जाता है। यह वैधर्म्य प्रायः सूच्य|हो सा रक्खा जाता है, और उसका आभास मात्र ही दिखाया जाता है।

यथा—दृग थिरकौहैं अधखुले, देह थकौ है ढार।
सुरत सुखी सी देखियत, दुखित गरभ के भार॥

(९) धर्मोपमेयलुप्ता—धर्म और उपमेय जहाँ पर स्पष्ट न हों—यथा—सीस सों दरसाइ, मुरी मुसकाई।
सुधा सों सुनाइ कै जात भई॥

नोट—श्रौती और आर्थी नामी दो भेद इसके भी होते हैं, क्योंकि वाचक शब्द यहाँ व्यक्त ही रहता है। चूंकि उपमान यहाँ सूच्य रहता है अतः, जैसा हम प्रथम लिख चुके हैं, कवि-परिपाटी की उपमा-परम्परा के आधार पर ही वह कल्पित किया जाता है।

(१०) धर्मवाचकलुप्ता को तो हम प्रथम ही दे चुके हैं, और धर्मलुप्ता भी दे ही दिया गया है। दो दो अंगों को अव्यक्त करने से ये ही रूप मुख्य, प्रधान और सम्भव हो सकते हैं।

अब तीन अंगों के लोप करने से निम्न रूप होते हैं:—

(१) वाचकधर्मोपमान लुप्ता—इसमें वाचक शब्द, धर्म, तथा उपमान तीनों अंगों को अव्यक्त रक्खा जाता है। यथा—

"नभ ऊपर सर बींचि युत, कहा कहौं ब्रजराज।
तापर बैठो हौं लख्यो, चक्रवाक युग आज॥"

नोट—कविवर भिखारीदास इस भेद के सम्बन्ध में यों कहते हैं:—

"तिहूँ लुप्त जहँ होत हैं, केवल ही उपमान।
रूपकातिशय उक्ति तहँ, बरनत है मतिमान॥"

अर्थात् इस ३ अंग की लुप्तोपमा को रूपकातिशयोक्ति भी कहते हैं, किन्तु किसी किसी आचार्य के मत से वाचक धर्मोपमेयलुप्ता को ही रूपकातिशयोक्ति माना गया है।

(२) वाचकधर्मोपमेयलुप्ता—इसे भी कुछ आचार्यों ने रूपकातिशयोक्ति माना है, क्योंकि इसमें केवल उपमान ही का वर्णन स्पष्ट रहता है, और उसी से उपमेय का अध्यवसान होता है, अर्थात् उपमेय (विषय या वर्ण्य) का लोप करके उसके साथ उपमान (विषयी) का अभेद निश्चित किया जाता है।

इन भेदों के अतिरिक्त कवियों के द्वारा और भी भेद उपमा के किये गये हैं, जो नीचे सूक्ष्म रूप में दिये जाते हैं:—

(१) वस्तुप्रतिवस्तु-निर्दिष्टोपमा:—इसमें उपमा वाच्य रूप में रहती और वाचक शब्द द्वारा वह स्पष्ट की जाती है।

यथाँ एक ही धर्म का सादृश्य भिन्न भिन्न शब्दों के द्वारा दिखाया जाता है।

[नोट—ध्यान रहे कि पूर्ण वैधर्म्य यहाँ उपेक्षणीय ही रहता है—क्योंकि ऐसा न होने से साधर्म्य-मूलक उपमा की सत्ता ही न रह सकेगी। विरुद्ध-धर्म का इसीलिये इसमें केवल आभास मात्र दिखाया जाता है।]

टि०—जिस प्रकार साधर्म्य से हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है, उसी प्रकार कभी कभी वैधर्म्य से भी होता है, इसी बात के आधार पर यह भेद किया गया है।

(२) समुच्चयोपमा—इसमें अनेक धर्मों का एक समुच्चय सा रहता है और उन सब में प्रथम साधर्म्य दिखलाया जाता है, तब कहीं उपमान एवं उपमेय की अन्य समानता व्यक्त की जाती है।

[नोट—यहाँ स्पष्ट रूप से यह कह देना उचित है कि न केवल इसमें एक समान-धर्म से ही उपमान और उपमेय की तुल्यता होती है वरन् अन्य धर्मों एवं क्रियाओं में भी उनमें साम्य देखते हैं।]

किसी किसी आचार्य ने रूपक के समान उपमा के भी निम्न भेद किये हैं।

(१) निरवयवोपमा—इसमें उपमेय के अवयवों की समानता उपमान के अवयवों से तो नहीं की जाती, वरन् उसके पूर्ण रूप की ही समानता दिखलाई जाती है। यथा—

"हरिपद कोमल कमल से"

इसके मुख्यतया दो रूप होते हैं—

(क) शुद्धा

(ख) मालारूपा—इसके तीन उपभेद हैं :—

(१) समानधर्मा

(२) भिन्नधर्मा

(३) लुप्तधर्मा

(२) सावयवोपमा—इसमें उपमान के साथ उपमेय के सभी अवयवों या अंगों की साधर्म्य-सूचक समानता या उपमान के अवयवों या अंगों की साधर्म्य-सूचक समानता उपमेय के अवयवों या अंगों के साथ तुलना-साम्य के आधार पर दिखाई जाती है।

इसके दो भेद होते हैं—

(क) समस्त-वस्तु-विषया—इसमें उपमान एवं उपमेय के सारे अवयव या अंग शब्दों के द्वारा सुव्यक्त रहते हैं।

(ख) एकदेश-विवर्तिनी—इसमें उपमान एवं उपमेय के अवयव कहीं तो शब्दों के द्वारा व्यक्त और कहीं वे शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं भी रहते।

(३) परंपरित—इसमें दो उपमायें रहती हैं, और दोनों एक दूसरे के ऊपर आधारित भी रहती हैं, एक के कारण ही दूसरी की सत्ता एवं महत्ता उत्पन्न होती है।

इसके दो उपभेद होते हैं—

(क) श्लिष्टा—इसका सम्बन्ध श्लेष से रहता है—

इसके दो रूप होते हैं—(१) शुद्धा (२) माला रूपा।

प्रथम का केवल श्लेष से सम्बन्ध है और दूसरे का मालोपमा और श्लेष, दोनों से। दूसरे में उपमा की माला भी रक्खी जाती है।

(ख) अश्लिष्टा—इसमें श्लेष से तो सहायता नहीं ली जाती, वरन् भिन्न भिन्न शब्दों से ही सहारा लिया जाता है। इसके भी दो रूप होते हैं।

(१) शुद्धा—यह साधारण रूप है।

(२) मालारूप—इसमें उपमा की एक माला सी होती है।

(४) मालोपमा—जहाँ एक उपमेय के बहुत से उपमान दिये जावें।

इसके तीन मुख्य रूप होते हैं—

(१) अभिन्नधर्मा—जिसमें समस्त उपमानों का एक ही (या अभिन्न) धर्म व्यक्त किये जावें।

(२) भिन्नधर्मा—जिसमें प्रत्येक उपमान का भिन्न भिन्न धर्म प्रगट किया जावे।

(३) लुप्तधर्मा—जिसमें साधारण-धर्म या धर्मों को प्रकाशित न किया जावे।

उदाहरण—(१) कामिहिं नारि पियारि जिमि,.........
तिमि रघुवंश निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥

(२) सफरी से अति चपल है, दीरघ मृग सम ऐन।
कमल-पत्र से सुघर ये, राधा जी के नैन॥

(३) इन्द्र जिमि जंभ पर, बाडव सुअंभ पर,
रावण सदंभ पर रघुकुल राज है।
तेज तिमिरंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ वंस पर सेर सिवराज है॥ आदि

नोट—जहाँ बहुत से उपमेयों का एक ही उपमान हो, वहाँ मालोपमा का दूसरा रूप कहा जा सकता है। यथा—

बदन, विलोचन, मंजु कर, पूरित ओज उरोज।
युगल चरन सुन्दर बरन, वाके सरस सरोज॥

जिस प्रकार मालोपमा के प्रथम भेद के ३ उपभेद होते हैं उसी प्रकार इसके भी ३ उपभेद हो सकते हैं। पाठक स्वतः देख सकते हैं।

(५) रसनोपमा—जिसमें बहुत से उपमान और उपमेय हों, तथा वे उत्तरोत्तर परस्पर उपमेय और उपमान होते जावें, अर्थात् प्रथम का उपमेय, उत्तर पद्य में उपमान बन जावे और फिर उत्तरपद्य का उपमेय आगे आने वाले पद्य में उपमान का रूप धारण करले, फिर यों ही यथोत्तर क्रम चलता जावे।

इसके भी दो रूप होते हैं—(१) अभिन्नधर्मा—जिसमें उपमेय एवं उपमानों के धर्म समान या एक ही हों। (२) भिन्नधर्मा—जिसमें उपमेय एवं उपमानों के धर्म भिन्न भिन्न दिये जावें।

यथा—(१) कुलसी मति, मति सों जु मन, मनही सों गुरुदान।

(२) वच सी माधुरि मूरती, मूरति सी कल कीर्ति।

कीरति लौं सब जगत में, छाइ रही तव नीति॥

[नोट—मालोपमा का दूसरा रूप यों भी हो सकता है कि बहुत से उपमेयों का एक ही उपमान दिया जावे। इसके भी तीन रूप (भिन्न और अभिन्नधर्मा तथा लुप्तधर्मा) हो सकते हैं।

ध्यान रखना चाहिये ये सभी उक्त रूप वाच्योपमा के ही रूप रूपान्तर हैं, क्योंकि इनमें उपमा का चमत्कार वाच्यार्थ ही में रहता है।

(६) लक्ष्योपमा—इसका सम्बन्ध लक्षणा से ही घनिष्ट रूप में रहता है, इसीसे इसको यह संज्ञा दी गई है। इसमें सादृश्य का भाव लक्षित या सूच्य रूप में ही रहता है। यथा—

मुख सिय को है चन्द्र रिपु, सुधा मित्र मृदु बैन।

अधर बन्धु बन्धूक के, कंज प्रभाहर नैन॥

(७) व्यंगोपमा—लक्ष्योपमा के समान इसका सम्बन्ध व्यञ्जना या व्यंग्यार्थ से ही रहता है, तथा इसमें उपमा का चमत्कार वाच्यार्थ पर समाधारित न होकर व्यंग्यार्थ पर ही निर्भर रहता है, इस प्रकार इसे उपमा-ध्वनि (ध्वन्युपमा) भी कह सकते हैं। यथा—

निज विकास, रस माधुरी, लखि न जलज इतराय।

सरस मधुर विकसित वदन, लखत न कस इत आय॥

[नोट—ध्यान देना चाहिये इन दोनों रूपों में शब्द-शक्ति का ही प्राधान्य है, अलंकार-चमत्कार तो कुछ गौण ही है। हाँ, दोनों का सामञ्जस्य अवश्य ही मनोरम रूप में रहता है।

कविवर केशवदास ने उपमा के कुछ और दूसरे ही भेद दिये हैं। उपमा की परिभाषा भी आपकी दूसरी ही है—

रूप, शील, गुण, होय सम, ज्यों क्यों हूँ अनुसार।
तासों उपमा कहत कवि, केशव बहुत प्रकार॥

इसके आपने २३ भेद दिये हैं—जो अपनी महत्ता एवं सत्ता पृथक् या स्वतंत्र ही रखते हैं।

केशवकृत उपमा के भेद—

संशय, हेतु, अभूत, अति, अद्भुत, विक्रय जान।
दूषण, भूषण, मोहमय, नियम गुणाधिक आन॥
अतिशय, उत्प्रेक्षित कहौं, श्लेष, धर्म विपरीत।
निर्णय, लांछनिकोपमा, असंभाविता मीत॥
बुधि विरोध, मालोपमा, और परस्पर ईस।
उपमा-भेद अनेक हैं, मैं बरणे इक बीस॥

(१) संशय—जहाँ नहीं निरधार कछु, सब संदेह सुरूप।
सो संशय उपमा..............

इसका सम्बन्ध मुख्यतया संदेहालंकार से है।

(२) हेतु—होत कौनहू हेतु ते, अति उत्तम ते हीन।
ताही सों हेतूपमा.........

किसी कारण से उपमेय अपने अत्युत्तम उपमान से कम या न्यून होता हुआ दिखाया गया हो।

(३) अभूतो०—उपमा जाय कही नहीं, जाको रुप निहारि।
सो अभूत उपमा कही...... ..

जिसकी उपमा कही ही न जा सके।

(४) अद्भुतो०—"जैसी भई न होति अब, आगे कहै न कोय।
केशव ऐसी वरणिये, अद्भुत उपमा होय॥"

यहि विधि उपजै लछिम जब, सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कवि, कहैं सीय सम तूल॥

(५) विक्रयोपमा—"क्यों हूँ क्यों हूँ वरणिये, कौनहु एक उपाय।
विक्रय उपमा होत तहँ...............

(६) दूषणोपमा—जहँ दूषण गण वर्णिये, भूषण भाव दुराय।
दूषण उपमा होत तहँ...............

दूषणों का वर्णन और शुभ लक्षणों का छिपानाही यहाँ मुख्य है—

(७) भूषणोपमा—दूषण दूरि दुराइ जहँ, भूषण वरणत भाय।
भूषण उपमा होत तहँ...............

यह दूषणोपमा का विलोम रूप है।

(८) मोहोपमा—रूपक के अनुरूप ज्यों, कौनहु विधि मन जाय।
ताही सो मोहोपमा............

(९) नियमोपमा—एकहि सम जहँ बरणिये,मन क्रम वचन विशेष।
केशवदास प्रकास बस, नियमोपमा सुलेख॥

उपमेय को सब प्रकार एक ही उपमान के सदृश कहना ही इसका मुख्य भाव है।

(१०) गुणाधिकोपमा—अधिकनहूँ, ते अधिक गुण,
जहाँ वरणियतु होय।
तासों गुण अधिकोपमा,............

अधिक से भी अधिक गुण का दिखाना ही इसका मन्तव्य है।

(११) अतिशयोपमा—एक कछू एकै विषै, सदा होय रस एक।
अतिशय उपमा होति तहँ............

(१२) उत्प्रेक्षोपमा—एकै दीपति एक की, होय अनेकनि माँहि।
उत्प्रेक्षित उपमा सुनो...............

(१३) श्लेषोपमा—जहाँ स्वरूप प्रयोगिये, शब्द एक ही अर्थ।
केशव तासों कहत है, श्लेषोपमा समर्थ॥

(१४) धर्मोपमा—एक धर्म को एक अँग, जहाँ जानियतु होय।
ताही सो धर्मोपमा, कहत सयाने लोय॥

(१५) विपरीतोपमा—केशव पूरे पुन्य के, तेई कहिये हीन।
तासों विपरीतोपमा............

(१६) निर्णयोपमा—उपमा अरु उपमेय को,
जहँ गुण दोष विचार।
निर्णय उपमा होत तहँ............

(१७) लक्षणोपमा—लक्षण लक्ष्य जु बरणिये,
बुधि बल वचन विलास।
है लक्षण उपमा सु यह............

(१८) असंभवोपमा—जैसे भाव न संभवै, तैसे करत प्रकास।
होत असंभावित तहाँ............

(१९) विरोधोपमा—जहँ उपमा उपमेय सों,
आपस माँझ विरोध।
सो विरोध उपमा सदा............

(२०) मालोपमा—रस का लक्षण वही है जो प्रथम दिया जा चुका है।

(२१) परस्परोपमा—जहाँ अभेद बखानिये,
उपमा अरु उपमान।
तासों परस्परोपमा..........…

(२२) संकीर्णोपमा—बन्धु, चोर, बादी, सुहृद,
कल्प वृक्ष प्रभु जान।
सम, रिपु, सोदर, आदि हैं,
इनके अर्थ बखान॥

बन्धु, चोर, वादी, सुहृद, आदि शब्दों के साथ उपमा का अर्थ प्रगट करना ही इसका मूलतत्व है।

दास जी ने मालोपमा के कई रूप दिये हैं—

कहुँ अनेक की एक है, कहुँ है एक अनेक।
कहूँ अनेक अनेक की, मालोपमा विवेक॥

(१) भिन्न धर्मों से एक उपमेय के अनेक उपमान।
(२) एक धर्म से एक " " "
(३) अनेक उपमेयों के अनेक उपमान।
(४) एक उपमेय के एक "
(५) अनेक " " एक "

मतिराम ने उपमा के केवल चार ही भेद दिये हैं—(१) पूर्णोपमा, (२) लुप्तोपमा (३) मालोपमा (४) रसनोपमा।

भूषण ने रसनोपमा के स्थान पर ललितोपमा दिया है।

[नोट—मम्मट और विश्वनाथ ने उपमा के भेदों को वाक्य, तद्धित एवं समास पर भी आधारित किया है और लुप्तोपमा के २६ या २७ भेद दिखलाये हैं।]

प्रायः सभी आचार्यों ने उपमा को सदैव सुन्दर गुणों के सादृश्य एवं तुलनात्मक साम्य पर ही समाधारित किया है। दुर्गुणों के सादृश्य-धर्म को प्रायः छोड़ ही दिया है। यदि इसे भी हम विचारें ते एक भेद निन्दोपमा (दुरुपमा) के नाम से और किया जा सकता है—

निन्दोपमा (दुरुपमा)—इसमें उपमेय की तुलना किसी बुरे उपमान के साथ उसके ख़राब गुणों, लक्षणों एवं धर्मों के आधार पर होती है। यथा—

बात कही तुम भ्रात सही,
नहिं नारद के सम दूसर आजू।
सुन्दर रूप भयानन आनन,
कानन लौं विकटानन साजू॥
मर्कट-मूरति को लखते,
उर में छकते सब भूप समाजू।
श्री "द्विजदत्त" रमापति धन्य,
दियो यह रूप भलो ऋषिराजू॥
ठप्पा ऐसी नाक है, कुप्पा ऐसे गाल।
विमति बतावहु भेख सों, कित को यह भूपाल॥

नोट—मालोपमा के रूप—(क) उपमेयमाला—१—लुप्तधर्मा, २—समधर्मा, ३—विषमधर्मा, ४—एक धर्म से, ५—भिन्नधर्मों से।

(ख) उपमान माला—इसके भी उक्त भेद हो सकते हैं।

(ग) उपमेयोपयानमाला—इसके भी उक्त भेद हो सकते हैं।

घ—धर्ममाला—

अब मालोपमा को लुप्तोपमा के रूप में भी रूपान्तरित करके लुप्तोपमा के भेदों के आधार पर कई भेदों में विभक्त कर सकते हैं। दुरुपमा के भी निम्न भेद हो सकते हैं—

१—सदुपमेय के साथ दुरुपमान का योग।

२—दुरुपमेय के साथ सदुपमान का योग।

इनकी माला रखकर दुरुपमा माला तथा इनका लोप करके लुप्त दुरुपमा के कई रूप रचे जा सकते हैं। जहाँ उपमा या दुरुपमा का भाव छिपा हुआ रहता है वहाँ गूढ़ोपमा और गुप्त दुरुपमा कह सकते हैं।

यथा—१—देवी-वाहन सम सजैं सिंहासन पै आप।
२—शिव-वाहन सम सत्यवे, है बस नामहि नाम॥

उपमेयोपमा

" उपमा दोऊ दुहुन की, सो उपमा उपमेव । "

का० नि० पृ० ७४

इस अलंकार में उपमेय और उपमान दोनों ही परस्पर (एक दूसरे के) उपमान और उपमेय के रूपों में दिखलाये जाते हैं।

अर्थात् उपमेय को उपमान की और उपमान को उपमेय की ही उपमा या समता दी जाती है, इनके अतिरिक्त किसी तीसरी वस्तु को उपमान के रूप में नहीं रक्खा जाता। इसीलिये कह सकते हैं कि यह उपमा का ही एक विशिष्ट रूप है, जैसा काव्यादर्शकार ने इसे अन्योन्योपमा की संज्ञा देकर माना है।

इसके मुख्य दो भेद होते हैं—(१) समानधर्मात्मक—जिसमें केवल समान धर्म को ही व्यक्त किया जावे।

(२) वस्तु प्रतिवस्तु निर्दिष्ट—जिसमें एक ही धर्म को दो वाक्यों में रक्खा जावे। यह प्रतिवस्तूपमा से बहुत संनिकट सम्बन्ध रखता है।

ये दोनों रूप उक्त-धर्मा के ही उपभेद माने गये हैं, दूसरा रूप है व्याज-धर्मा—इसमें शब्द के द्वारा धर्म को व्यक्त नहीं किया जाता, वरन् वह व्यंग्य से ही प्रगट होता है—अतः इसका सम्बन्ध विशेषतया व्यञ्जना से ही जानना चाहिये।

उदाहरण—(१) अमल कमल से नैन हैं, कमल नैन से स्वच्छ

(२) शोभित कुसुमस्तबक युत, विलसति कुच युग धारि।
वनिता सी लतिका लसत, वनिता लतानुहारि॥

व्यंग्य—(३) सुधा सन्त के वचन सों, वचन सुधा सम जान।
वचन खलन के विष सदृश, विष खल-वचन समान॥

[नोट—दास, मतिराम, जसवन्तसिंह और गोकुल कवि ने इसे उपमेयोपमान के नाम से लिखा है।]

अनन्वय

—:*:—

"जाकी समता ताहि को, कहत अनन्वय भेव।

पृ० ७४

वासों वहै अनन्वया, मुख सों मुख छवि देत॥"

पृ० २३

जहाँ उपमान और उपमेय में कुछ भी अन्तर नहीं होता, दोनों एक ही वस्तु होते हैं और उनको एक ही वाक्य में प्रकट भी किया जाता है, वहाँ अनन्वयालंकार माना जाता है।

[नोट—यह भी यथार्थ में उपमा ही का एक रूप मात्र है, अतः इसे हम उपमा के ही अन्दर रख सकते हैं। उपमेय और उपमान इसमें पृथक् पृथक् होते हुये भी एक ही पदार्थ या वस्तु में सीमावद्ध हो रहते हैं।]

इसके निम्न भेद माने गये हैं—

अनन्वय :—

(१) पूर्ण (सर्वाङ्गपूर्ण)
- (क) शाब्द
- (ख) आर्थ

(२) लुप्त (धर्मादिलोप)
- (क) शाब्द
- (ख) आर्थ

उदाहरण—अधम उधारन में धारन में दीनन को,
करनी सुधारन में तोसी तुही देखी मैं।
सुकवि "रसाल" कहै तोरी सुधा धारन में,
जीवन उबारन की प्रतिभा परेखी मैं॥
ऐरी मातु सुरसरि कौन सुर सरि करै,
सुगतिकरी सुगति तेरी अति लेखी मैं।
जाहिर तिहारी महिमा न महि माहिं बस,
ताकी छवि छाई लोक लोकन में पेखी मैं॥

[नोट—हिन्दी भाषा के आचार्यों ने इस अलंकार के भेदों को नहीं दिखलाया, इस अलंकार के उपयोग को कवियों ने प्रायः प्रशंसात्मक ही रखा है, किन्तु हमारे बिचार से इसका सम्बन्ध निन्दा से भी हो सकता है—और किसी निन्द्य उपमान को उसी के समान दिखाया जा सकता है।] यथा—

हरि-सुरूप सम कन्यका, पेख्यो हरि को रूप।
लख्यो नारदहिं पुनि तहाँ, नारद सदृश कुरूप॥

असमालंकार

जब उपमान का नितान्त अभाव ही कर दिया जाता है तब असमालंकार माना जाता है। इसमें केवल उपमेय ही रह जाता है और उसके सदृश कहीं भी उपमान की प्राप्ति नहीं होती। यथा—

सुकृती तुम समान जग माहीं।
भयउ, न है, कोउ होनउ नाहीं॥

[नोट—अनन्वय में उपमेय ही अपना उपमान होता हुआ दिखलाया जाता है और उसके सदृश दूसरा उपमान नहीं प्रगट किया जाता। इसमें, यद्यपि अनन्वय के समान उपमेय का उपमान कहीं, कभी एवं किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं होता, यह बात नहीं होती, अर्थात् इसमें उपमेय को भी अपना उपमान नहीं बनाया जाता, वरन् यही कहा जाता है कि उसके समान कभी भी कोई कहीं नहीं है, न हुआ था और न आगे होवेहीगा, यही दोनों में अन्तर है। दोनों में समानता यह है कि उपमेय का कोई दूसरा (बाहिरी) उपमान नहीं दिखलाया जाता। निष्कर्ष यह है कि अनन्वय में उपमेय का उपमान होता है (उपमेय ही अपना उपमान बन कर उपमान के रूप में दिखलाया जाता है—कोई बाहिरी या दूसरा उपमान नहीं होता) किन्तु असम में उपमान होता ही नहीं, उसका अत्यन्ताभाव ही रहता है। अतः इस अलंकार में सादृश्य का भी अभाव होता है। रस-गंगाधर एवं अलंकार-रत्नाकर में इसे स्वतन्त्र स्थान दिया गया है, किन्तु काव्य-प्रकाश में इसे अनन्वय के और "प्रभा०" में इसे लुप्तोपमा के ही अन्तर्गत माना गया है।]

उदाहरणालंकार

किसी सामान्य एवं साधारण भाव (अर्थ) को भली प्रकार समझाने के लिये जहाँ उदाहरण, (नमूना) इव, यथा, जैसे, ज्यों, जिमि आदि शब्दों के साथ, कुछ विशेष रूप दिखलाते हुये, दिया जाता है, वहाँ उदाहरणालंकार माना जाता है !

[नोट—इस अलंकार में सामान्य एवं विशेष भाव वाले वक्ष्यमाण पर ही बल दिया जाता है। पूर्वार्द्ध में तो सामान्य भाव वाली बात कही जाती है और उत्तरार्ध में उसको समझाने तथा पुष्ट करने के लिये एक विशेष रूप रखनेवाला उदाहरण दिया जाता है।]

ध्यान रहे कि यह अलंकार दृष्टान्त से पृथक् ही है, और उससे अन्तर रखता है, क्योंकि दृष्टान्तालंकार में उपमेय और उपमान का प्रतिबिम्ब रहता है और इवादि शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता, तथा उनके सभी अंश दिखलाये जाते हैं और सर्वांश में सादृश्य सूचक विशेष भाव भी रहता है; किन्तु इस अलंकार में इवादि शब्दों का स्पष्ट प्रयोग किया जाता तथा एक ही अंश में विशेष भाव रक्खा जाता है।

इवादि शब्दों के कारण (जो उपमावाचक शब्द भी हैं) इसे कुछ आचार्यों ने उपमा ही का एक रूप माना है, किन्तु रसगंगाधरादि में इसे स्वतन्त्र स्थान ही दिया गया है, क्योंकि इसका सम्बन्ध सामान्य-विशेष भाव से है, नकि उपमान और उपमेय के भेद रहते हुये भी सादृश्य-भाव से।

अर्थान्तरन्यास में वक्ष्यमाण (आगे कहा जाने वाला) अर्थ यद्यपि सामान्य-विशेष भाव से सम्बन्ध रखता है, तथापि उसमें इवादि शब्दों का प्रयोग इस अलंकार के समान नहीं होता।

हिन्दी भाषा के आचार्यों ने इसे अलंकारों में गिना ही नहीं।

प्रतिवस्तूपमा

—:*:—

" नाम जु है उपमेय को, सोई उपमा नाम ।
ताहि प्रतीवस्तूपमा, कहत सुकवि गुनधाम ॥"

तथा—" जहँ उपमा उपमेय को, नाम अर्थ है एक ।
ताहू प्रति वस्तूपमा, कहैं सु बुद्धि विवेक ॥"

तथा—जहाँ विम्ब प्रतिबिम्ब नहिं, धर्महि ते सम ठानि ।
प्रति वस्तुपमा तिहिं कहै, दृष्टान्तहिं में जान ॥

का० नि० पृ० ८६

उपमेय और उपमान वाले (सम्बन्धी) दो पृथक् पृथक वाक्यों में भिन्न भिन्न शब्दों से एक ही धर्म का निर्देश जहाँ हो, वहाँ यह अलंकार माना जाता है। इसमें सादृश्य (उपमा का मूल भाव या तत्व) प्रतीयमान रहता है, वह वाच्य नहीं होता, और वस्तु प्रति वस्तु भाव (या एक ही साधारण धर्म को दो भिन्न शब्दों के द्वारा पृथक् पृथक् कहना) से इसका सम्बन्ध है। इसके तीन मुख्य रूप होते हैं—

(१) साधर्म्यात्मक, यथा—

चटक न छाँड़त घटत हू, सज्जन नेह गँभीर ।
फीको परै न बरु फटै, रंग्यो लौह रँग चीर ॥

(२) वैधर्म्यात्मक, यथा—

पंडित जनको श्रम-मरम, जानत जे मति धीर ।
कबहूँ बाँझ न जानही, प्रसव समय की पीर ॥

[नोट —इसमें एक वाक्य धर्म को विधि-रूप में रखता है, और दूसरा निषेधात्मक धर्म (जो पूर्ववत् ही होता है) दिखलाता है। भाव दोनों वाक्यों का एक ही रहता है।]

(३) मालाप्रतिवस्तूपमा—इसमें कई एक प्रति वस्तूपमाओं की माला सी रहती है। यथा—

बहुत ज़ु सर्पन को मलय, धरत ज़ु काजर दीप।
चन्द ज़ु भजत कलंक को, राखहिं खलन महीप॥

टिप्पणी—ध्यान रखना चाहिये कि अर्थावृत्ति दीपक में भी भिन्न भिन्न शब्दों के द्वारा एकही अर्थ दिखलाया जाता है, किन्तु उसमें इस अलंकार के समान उमभेय एवं उपमान सम्बन्धी वाक्यों का कोई दृढ़ नियम नहीं होता।

अर्थान्तरन्यास के समान इसमें सामान्य-विशेष भाव के द्वारा अर्थ का समर्थन नहीं होता।

उपमावाचक शब्दों के साथ केवल एक ही बार जहाँ समान धर्म का कथन होता है वहाँ उपमा अलंकार और जहाँ वस्तु प्रति वस्तुभाव के द्वारा एक ही बार समान धर्म दिखाया जाता है, वहाँ भी आचार्यों ने उपमा अलंकार माना है। उपमावाचक शब्दों के बिना जहाँ समान धर्म का प्रकाशन होता है वहाँ दीपक और तुल्ययोगिता की सत्ता होती है और जहाँ समान धर्म का बिम्ब प्रतिबिम्ब रहता है वहाँ दृष्टान्तालंकार होता है, किन्तु जहाँ एक से अधिक बार समान धर्म, उपमावाचक शब्दों के बिना ही शुद्ध समान रूप में प्रगट हो, वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार माना गया है।

केशवदास और देव जी की पुस्तकों में इसे कोई भी स्थान नहीं दिया गया। जैसा ऊपर दिखलाया गया है, दास जी ने इसके तीन पृथक् रूप माने हैं:—

(१) उपमान और उपमेय का एक ही नाम हो।

(२) दोनों के अर्थ या शब्द (नाम) एक ही हों।

(३) बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव के बिना जहाँ दोनों की समता धर्म ही के द्वारा हो (या तो धर्म एक ही हो या समान हो)।

इस दशा में यह दृष्टान्त के ही अन्तर्गत आ जाता है, आपके उदाहरणों से यह भी प्रतीत होता है कि इसका सम्बन्ध कुछ दूर तक एक प्रकार की साधारण लोकोक्ति से भी है।

भाषा के अन्य आचार्यों ने इन में से किसी एक या दो लक्षणों को लेते हुये इस अलंकार की परिभाषायें दी हैं।

प्रतीप

सो प्रतीप उपमेय को, जब कीजै उपमान।
कै काहू विधि वर्न्य को, करौ अनादर ठान॥

का० नि० पृ० ७५

उपमेय को जहाँ उपमान का रूप दिया जाता है, अथवा जहाँ उपमेय को किसी का उपमान बना दिया जाता है (जहाँ उपमान को उपमेय बनाया जाता है) वहाँ प्रतीप अलंकार माना जाता है। प्रतीप शब्द का अर्थ होता है "उलटा" या विपरीत, अतः जहाँ उपमा का विपरीत रूप दिखलाया जाता है अर्थात् प्रसिद्ध उपमेय को उपमान या प्रसिद्ध उपमान को उपमेय का रूप दे दिया जाता है, वहाँ प्रतीप की सिद्धि होती है। साथ ही जहाँ उपमेय के द्वारा उपमान का निरादर या उपमान के द्वारा उपमेय का निरादर स्पष्ट रूप से कहा जाता है और इस प्रकार उपमा से विपरीतता (उपमा में उपमेय एवं उपमान के बीच निरादर या तिरस्कार का भाव न हो कर साम्य-भाव ही रहता है) दिखलाई जाती है वहाँ भी प्रतीप माना जाता है। इसीलिये दंडी महाराज ने इसे अपने काव्यादर्श में विपरीतोपमा के नाम से लिखा है। (ध्यान रहे कि केशवदास की विपरीतोपमा से यह भिन्न है क्योंकि केशव की विपरीतोपमा वहाँ होती है जहाँ पूर्ण पुण्यवान को हीन-रूप में कहा जाता है) और जहाँ वर्ण्य का अनादर किया जाता है वहाँ अनादर वर्ण्य प्रतीप माना गया है।

प्रतीप के मुख्य पाँच रूप माने गये हैं, किन्तु इनके नाम किसी भी आचार्य के द्वारा नहीं दिये गये। केशव दास और देव जी ने इन्हें अपने ग्रन्थों में स्वतन्त्र स्थान ही नहीं दिया।

प्रथम प्र०—जहाँ किसी प्रसिद्ध उपमान (या उपमेय) को उपमेय (या उपमान) कहा जावे। यथा—

“ तव मुख सम वारिज, प्रिये !

द्वितीय प्र०—जहाँ एक उपमेय के द्वारा दूसरे वर्णनीय (या उपमेय) का अनादर या तिरस्कार किया जावे। यथा—

करति गरब निज रूप को, राधे ! व्यर्थ (कहा) महान।
उमा रमादिक हैं बहुत, जग रावरे समान॥

नोट—दास जी ने उपमान से उपमेय के निरादर या तिरस्कार के होने पर द्वितीय प्रतीप माना है। यथा—

महाराज रघुराज जू, कीजै कहाँ गुमान।
दंड कोस, दल के धनी, सरसिज आप समान॥

तृतीय प्र०—जहाँ उपमेय के द्वारा उपमान का अनादर किया जावे। यथा—

गरब करै रे शर कहा, हौं ही अनुपम पैन।
कहा न तो सम हैं परखु, दुष्ट जनन के वैन।

[नोट—उपमेय में अत्यन्तोत्कृष्ट गुणों (या दुर्गुणों) को मान कर अन्त उपमान में तत्सादृश्य न देख कर किसी दूसरे पदार्थ (अप्रस्तुत) में तत्साम्य दिखा कर उपमेय का निरादर किया जाता है।]

गुण एवं दुर्गुण के भेद से इसके दो रूप हो जाते हैं—

(१) गुणात्मक (२) दुर्गुणात्मक।

नोट—दास जी ने तृतीय प्रतीप वहाँ माना है, जहाँ पर उपमेय से उपमान को कुछ हीन कहा जाय (दोनों में सादृश्य तो हो, परन्तु वह पूर्ण रूप में न हो, कुछ न्यूनता के साथ हो रहे)। यथा—

द्विजगन को असमय बड़ो, देवन को प्रिय प्रान ।
ता रघुपति आगे कहा, सुरपति करै गुमान ॥

चतुर्थ प्र०—जहाँ उपमेय से निरूपित अन्य की उपमा को असिद्ध किया जावे, अर्थात् उपमान की उपमा को, जो उपमेय ही के वाक्य के द्वारा दी गई हो, झूठा साबित किया जावे। (दास जी के अनुसार) जहाँ उपमेय की बराबरी में उपमान न तुल सके, वहाँ चतुर्थ प्रतीप जानना चाहिये। यथा—

(१) तव मुख सम शशि अरु कमल, जे कवि कहहिं अचेत।
(२) सही सरस, चंचल बड़े, मढ़े रसीली वास।
पै न द्विरेफी इन दृगनि, सरिस कहीं में 'दास' ॥

पंचम प्र०—जहाँ उपमान को यह कहते हुये कि वह इस उपमेय के सम्मुख, जो सब प्रकार उपमान का कार्य करने में समर्थ हैं, किस अर्थ का (किमर्थ) हैं, उस पर आक्षेप किया जावे और उसका तिरस्कार भी सूचित किया जावे। उपमेय के सामने उपमान को व्यर्थ समझना (या कैमर्थ्य से आक्षेप करना) पंचम प्रतीप का मूलमन्त्र है। यथा—

" करत न काह यह वारिज विकास मन्द,
नैनन को चैन मुख काह सुख लावै ना। "
चहत चकोर यहि ओर ही रहत देखि,
कहत 'रसाल,' शशि की मिसाल भावै ना ॥
सकुचत जलज निहारि नित रूप यातें,
चन्दहु की दुति मन्द ह्वै कै छवि छावै ना।
गरव करत काह बिम्बा औ सुधाहू यह,
मंजु मधु अधर का इनहिं लजावै ना ॥

प्रभा करन, तम गुन हरन, धरन सहस कर राज।
रामप्रतापहि जगत में, कहा भानु को काज ॥

टिप्पणी—इसे श्लेषात्मक भी कर सकते हैं और ऐसा कर देने से इसमें और भी अधिक चारुता आ जाती है जैसे उक्त उदाहरण में प्रभाकरन, तम-गुन हरन आदि पद श्लिष्ट होकर अलंकार को विशेष चमत्कृत कर रहे हैं।

जिस प्रकार उपमेय के सामने उपमान को व्यर्थ कर इस अलंकार के द्वारा तिरस्कृत किया जाता है, उसी प्रकार उपमान के सामने उपमेय को भी तिरस्कृत एवं व्यर्थ किया जाता या जा सकता है। यथा—

काह भयो सखि, देखियत, तब मुख मंजुल मन्द।
छाजत छवि वैसी न यह, जैसी छवि अरविन्द॥

पंडितराज जगन्नाथ ने प्रथम के तीन रूपों को तो उपमान्तर्गत, चतुर्थ को अनुक्त धर्म-सम्बन्धी व्यतिरेक के अन्तर्गत और पंचम को आक्षेप के अन्दर माना है। वास्तव में ये पाँचों भेद उपमा के ही प्रपंच मात्र हैं।

मम्मट जी ने इसके कोई भेद नहीं दिये। विश्वनाथ जी ने केवल दो ही रूप दिये हैं।

परिणाम

करत जु है उपमान ह्वै, उपमेयहि को काम।
नहिं दूषन अनुमानियें, है भूषन परिनाम॥
का० नि० पृ० १०३

जहाँ उपमान (अप्रकृत) उपमेय (प्रकृत) के साथ एक रूपता रख, उसका कार्य करे, वहाँ परिणाम अलंकार जानना चाहिये।

उपमान जब किसी कार्य के करने में असमर्थ होता है, तब वह उपमेय के साथ एक रूपता (सहायता) लेता है और यों कार्य करने में समर्थ होता है। ध्यान रखना चाहिये कि रूपक में इसके विपरीत, उपमान स्वयमेव कार्य करने में समर्थ रहता है, यही दोनों में भेद है। किन्तु अलंकार-सर्वस्व में जहाँ उपमेय उपमान के रूप में हो कर उपमान का कार्य करता है वहाँ परिणाम माना गया है। रूपक में उपमान के कार्य करने में उपयुक्त मात्रा दिखलाते हुये उसे परिणाम से पृथक् किया गया है।

काव्य-प्रकाश एवं दासादि ने इन दोनों को पृथक् नहीं माना, वरन् परिणाम को रूपक का एक विशिष्ट भेद ही कहा है।

ध्वन्यात्मक परिणाम—जहाँ इस अलंकार का सम्बन्ध व्यंगार्थ एवं ध्वन्यार्थ से होता है और व्यंगार्थ के द्वारा ही उपमान और उपमेय में एक-रूपता का प्रकाश होता है, वहां इसे ध्वन्यात्मक परिणाम कहते हैं—

ग्रीषम हू में नित तिन्हैं, पावस-सुख सरसाय।
दामिनि कामिनि लीन जो, सरस पयोधर पाय॥

[नोट—केशवदास और देव को छोड़ कर प्रायः सभी आचार्य इसे रूपक के एक भेद ही के समान, (उपमेय का कार्य उपमान के द्वारा होने पर) मानते हैं।

रूपक

उपमा अरु उपमेय ते, वाचक-धर्म मिटाय।
एकै करि आरोपिये, सो रूपक कविराय॥
कछु कहिये यह दूसरो, कछु राखिये न भेद।
अधिक, हीन, सम, त्रिविध पुनि, ते तद्रूप, अभेद॥

जहाँ एक वस्तु (उपमेय) को दूसरी वस्तु (उपमान) के रूप में दिखाया जावे, वहाँ रूपक अलंकार मानना चाहिये।

टिप्पणी—सभी आचार्यों ने इसे वाचक और धर्म से रहित उपमा के ही रूप में माना है, और इसमें उपमेय एवं उपमान की एकरूपता ही पर ज़ोर दिया है। इसके मुख्य भेद ये हैं—

रूपक—

- (१) अभेद रूपक
  - (क) अधिक
  - (ख) न्यून
  - (ग) सम
    - (१) सावयव
      - (क) समस्त-वस्तु-विषयक
        - (१) युक्त
        - (२) अयुक्त
      - (ख) एकदेशविवर्ति
        - (१) युक्त
        - (२) अयुक्त
    - (२) निरवयव
      - (क) शुद्ध
      - (ख) मालाकार

(३) परम्परित
(क) श्लिष्ट शब्द निबंधन
(१) शुद्ध
(२) मालाकार
(ख) भिन्न शब्द निबन्धन
(१) शुद्ध
(२) मालाकार

(२) तद्रूप रूपक

(१) अभेद रूपक—बिना किसी प्रकार के निषेध के ही जहाँ उपमान एवं उपमेय में अभेद दिखाया जावे।

ध्यान रहे कि निषेध के साथ जहाँ अभेद दिखाया जाता है वहाँ अपन्हुति अलंकार हो जाता है, जैसे—मुख नहीं, यह चन्द्र है, रूपक में निषेध का कोई स्थान नहीं होता। रूपक में अभेद (एकरूपता) आहार्य रूप में रहता है, यहाँ उपमेय और उपमान, यद्यपि पृथक् पृथक् होते हैं, तौ भी उनमें अभेद मान लिया जाता है और एक का आरोप दूसरे पर कर लिया जाता है—यही आहार्य भाव से अभेद का प्रकाशन है। भ्रान्तिमान् अलंकार में भी अभेद दिखलाया जाता है, परन्तु इस प्रकार आहार्य-रूप से नहीं। रूपक में भेद का भाव ज्ञात रहता है और तौ भी अभेद दिखलाया जाता है—किन्तु भ्रान्ति में अभेद सब प्रकार मान ही लिया जाता है, अन्यथा भ्रान्ति की सिद्धि ही न हो पावे।

काव्य-प्रकाशादि में इसका केवल सम अभेद नामी एक भेद ही माना गया है, किन्तु चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में तीन रूप माने गये हैं, जिन्हें हिन्दी के आचार्यों ने भी स्वीकार किया है।

(२) सम अभेद—बिना किसी प्रकार की न्यूनाधिकता ही के जहाँ समानता से यथावत् उपमान का आरोप उपमेय में किया जावे।

इसके तीन भेद हैं--

(क) सावयव सम—जहाँ उपमान का आरोप उपमेय में समानता के साथ सभी अवयवों, अंगों एवं सामग्री के सहित किया जावे। इसे सांगाभेद सम भी कहते हैं। इसके भी दो रूप होते हैं—

(१) समस्त वस्तु-विषयक—जहाँ आरोपित की जाने वाली वस्तु या आरोप्यमाण को शब्दों के द्वारा प्रकट किया गया हो।

(२) एकदेशविवर्त्ति—जहाँ आरोप्यमाण को कहीं तो शब्दों के द्वारा और कहीं अर्थ के द्वारा प्रकट किया गया हो।

उदाहरण—

> नभ सर नीले जल सहित, उडुप मुकुल कलि वृन्द।
> षोडशदल बिच श्याम अलि, लसत कलाधर चन्द॥
> रूप सलिल अति चपल चख, नाभी भँवर गँभीर।
> है बनिता सरिता विषम, जहँ मज्जत मतिधीर॥

(ख) निरवयव सम—यह सावयव का विलोम रूप है, इसमें अवयवों एवं अंगों के बिना ही केवल उपमान का उपमेय में आरोप होता है। इसे निरंग रूपक भी कहते हैं। इसके भी दो रूप माने गये हैं—

(१) शुद्ध—जहाँ एक उपमेय में एक ही उपमान का, अंगों के बिना ही आरोप किया गया हो।

(२) मालाकार—जहाँ एक उपमेय में बहुत से उपमानों का, बिना अवयवों के आरोप हो। यथा—

> चरन सरोरुह नाथ! जनि, कबहुँ तजै मति मोरि॥ १॥
> छेम की छहर गंगा, रावरी लहर,
> कलिकाल को कहर यम जाल को जहर है॥ २॥

[नोट—एक ही उपमान का जहाँ अनेक उपमेयों में आरोप हो वहाँ भी इसी का अन्य रूप मानना चाहिये ।] यथा—

नवकञ्ज लोचन, कञ्ज मुख, पद कञ्ज, कर कञ्जारुणम् ।

(ग) परम्परितरूपक—जहाँ एक उपमान का आरोपण दूसरे उपमान के आरोपण का हेतु-रूप ही हो । प्रथम एक उपमान का आरोप एक उपमेय पर किया गया और यों एक रूपक सिद्ध हुआ, तब फिर यह देखकर कि यह रूपक उस समय तक सिद्ध नहीं होता जब तक कोई दूसरा रूपक (या दूसरे उपमान का आरोप किसी दूसरे उपमेय पर किया जाना) न हो, एक दूसरा रूपक जो प्रथम का सहायक हो दिया जावे और इस प्रकार रूपकों की एक परम्परा सी बना दी जावे ।

इसके भी दो भेद होते हैं—

(१) श्लिष्ट शब्द निबंधन—इसमें श्लिष्ट पदों के ही आधार पर रूपक की परम्परा बनती है । अतः कह सकते हैं कि यह एक प्रकार का मिश्रालंकार ही है । इसके भी दो रूप माने गये हैं—

(अ) शुद्ध—जिसमें एक उपमेय में एक ही उपमान का आरोपण किया गया हो । यथा—

अद्भुत जोति महान सों, किय प्रकाश त्रय भौन ।
मुक्तारत्न सुवंश भव, तोंहि न चाहत कौन ॥

(ब) मालाकार—जिसमें एक उपमेय में कई उपमानों का आरोप किया जावे ।

[नोट—श्लेष के कारण यह शब्दालंकार को तथा रूपक के कारण अर्थालंकार को ले दोनों का सामञ्जस्य रखता है; किन्तु इसमें रूपक की ही प्रधानता रहती है, श्लेष तो गौण रूप ही में रहता है ।]

(२) भिन्नशब्द निबंधन—इसमें श्लिष्ट शब्दों के द्वारा आरोपण

न होकर, स्वतन्त्र एवं पृथक् पृथक् शब्दों के ही द्वारा आरोपण किया जाता है। इसके भी दो रूप होते हैं—

(१) शुद्ध—जिसमें एक ही उपमान का एक ही उपमेय में आरोप होता है। वन्दौं पवन कुमार, खल वन पावक ज्ञान घन।

(२) मालाकार—जिसमें अनेक उपमानों का एक ही उपमेय में आरोप होता है। यथा—रावण के राम, सतबाहु के परसुराम,
दिल्लीपति दिग्गज के सिंह शिवराज हौ।

नोट—उक्त रूपों के विलोम रूप भी हो सकते हैं। १—अनेक उपमेयों में एक ही उपमान का तथा २—अनेक उपमेयों में अनेक उपमानों का आरोप।

न्यून और अधिक अभेद रूपक

प्रसिद्ध उपमान का उपमेय में अभेद-रूप से आरोप हो चुकने के उपरान्त यदि उपमान की स्वाभाविक अवस्था से (आरोप होने से पूर्व की) उसमें कुछ अधिकता दिखाई जाये, तो अधिक अभेद जानना चाहिये।

यथा—रहै प्रकाशित, पूर्ण नित, स्रवै सुधा-रस-विन्दु।
सुखद सदा, बिन कालिमा, राधा को मुख इन्दु॥

यदि अभेद-रूप से उपमान का उपमेय में आरोप होने पर उपमान की स्वाभाविक दशा से उसमें कुछ न्यूनता प्रगट की जाये तो न्यूनाभेद रूपक मानना चाहिये। यथा—

ब्रह्मा, चतुरानन-रहित, है हरि, बिनु भुज चारि।
महा महिम ये व्यास मुनि, शिव, बिन नयन लिलार॥

तद्रूप्य-रूपक

जब उपमेय को प्रसिद्ध उपमान से पृथक् एवं भिन्न दिखाते हुये उसे उपमान रूप को रखने वाला तथा उसके कार्य को करने वाला दिखलाया जाता है, तब वहाँ तद्रूप्य रूपक माना जाता है।

इसके भी अभेद रूपक के समान निरंग (निरवयव), सांग (सावयव) न्यून और अधिक नामी भेद होते हैं। दोनों प्रकार के रूपकों में भेद यही है कि प्रथम में तो उपमान का उपमेय में अभेद के साथ आरोपण होता है, किन्तु दूसरे में उपमेय को उपमान के ही रूप, गुण, के अनुकूल दिखाया जाता है और दोनों भिन्न एवं पृथक् माने जाते हैं।

(१) सम तद्रूप्य—

द्रुग कैरव को दुख हरन, सीत करन मन देस।
यह वनिता भुवलोक की, चन्द्र कला सुभ वेस॥

(२) न्यून तद्रूप्य—

लखि सुनि जाय न ज्वाब दै, सहै परै कृत नीच।
वास खलन के बीच को, बिना मुये हू मीच॥

(३) अधिक तद्रूप्य—

सत को कामद, असत को, भयप्रद सब दिसि दौर।
'दास' यांचिबे जोग यह, कलप-वृत्त है और॥

अन्य भेद—

(१) युक्त रूपक—जहाँ रूपक में उपमान एवं उपमेयादि का सम्बन्ध सब प्रकार युक्त या उपयुक्त (योग्योचित) दिखलाया जाता है।

(२) अयुक्त रूपक—यह प्रथम भेद का विलोम है, इसमें उपयुक्तता न दिखा कर उपमेयोपमानादि में विरोध एवं अनुपयुक्त सम्बन्ध ही व्यक्त किया जाता है।

हेतु रूपक—जहाँ हेतु के द्वारा रूपक की पुष्टि की जाती है वहाँ हेतु या कारण रूपक माना जाता है। यथा—

अचल हियो गिरि रूप है, चपल नैन है मीन।
विमल वदन विधु रूप है, कहत 'रसाल' प्रवीन॥

[नोट—इसे व्यंग्य या ध्वनि गर्भित भी कर सकते हैं—ऐसा करने पर यह रूपक-ध्वनि की संज्ञा प्राप्त करेगा। जहाँ रूपकों की एक माला सी रहती है वहाँ रूपक माला (माला रूपक) माना जाता है।

केशवदास ने रूपक के ये तीन भेद नये दिये हैं।

(१) अद्भुत रूपक—

सदा एक रस वर्णिये, और न जाहि समान।
अद्भुत रूपक कहत हैं..............................

(२) विरुद्ध रूपक—

जहँ कहिये अनमिल कछू, सुमिल सकल विधि अर्थ।
सो विरुद्ध रूपक कहत, कवि..........................

(३) रूपक-रूपक—

रूप भाव जहँ वर्णिये, कौनहु बुद्धि विवेक।
रुपक-रूपक कहत कवि..............................

देव कवि ने वाचक शब्दों की अविद्यमानता में ही रूपक की सत्ता मानी है और इस प्रकार इसे वाचक-विहीन उपमा ही का एक भेद दिखलाया है, उन्होंने इसके भेद भी नहीं दिये।

भिखारीदास ने रूपक का सम्बन्ध उपमा, उत्प्रेक्षा, परिणाम अपन्हुति और रूपक से जोड़ कर (१) उपमा-वाचक (२) उत्प्रेक्षावाचक (३) परिणामवाचक और (४) रूपक-रूपक (५) अपन्हुति वाचक ये रूप और भी दिखलाये हैं, और इस प्रकार इन चार मिश्रालंकारों की सृष्टि रच दी है। देखिये का० नि० पृ० १०४, १०५

[नोट—रूपक में निन्दनीय एवं बुरे उपमेय, उपमान तथा धर्मादि को रख कर निन्दनीय रूपक भी बना सकते हैं।]

उपमेयोपमा

जहाँ उपमेय और उपमान परस्पर में (एक दूसरे के) उपमान एवं उपमेय हो जावें, वहाँ उपमेयोपमा अलंकार माना जाता है।

" उपमा दोऊ दुहुन की, सो उपमा उपमेव।"

का० नि० पृ० ७४

इसमें यही बात देखने की है कि यहाँ उपमान को उपमेय की और उपमेय को उपमान ही की उपमा दी जाती है, और किसी अन्य पदार्थ (या तीसरी वस्तु) को नहीं लाया जाता।

इसी कारण काव्यादर्शकार ने इसे अन्योन्योपमा की संज्ञा दी है और इसे उपमा का एक भेद ही माना है।

मतिराम ने इसे उपमेयोपमान के नाम से लिखा है—

इस अलंकार के मुख्य दो भेद माने गये हैं:—

(१) उक्तधर्मोपमेयोपमा—इसके भी दो रूप होते हैं—

(अ) जहाँ समान धर्म ही का कथन हो, वहाँ समधर्मोक्ति होती है।

(ब) जहाँ एक ही धर्म का दो वाक्यों में कथन हो। यह वस्तु प्रतिवस्तुनिर्दिष्ट रूप है।

(इसका तथा प्रतिवस्तूपमा का भेद प्रतिवस्तूपमा में दिखलाया जा चुका है)

उदाहरण—(अ) विमल कंज से नैन ये, स्वच्छ नैन से कंज।

(ब) शोभित कुसुम-स्तवक सम,
विलसति कुच युग धार।
बनिता सी लतिका लसति,
बनिता लतानुहारि॥

(२) व्यंजधर्मा—जहाँ पर धर्म शब्दों के द्वारा व्यक्त न किये गये हों, वरन् वे व्यंजित ही रक्खे गये हों।

यथा—साधु-वचन-सम है सुधा, वचन, सुधा-सम जान।

नोट—विश्वनाथ ने दो रूप दिये हैं—(१) अपन्हवपूर्वकारोपः
(२) आरोपपूर्वकापन्हवः

आपने भी इसका सम्बन्ध श्लेष तथा अन्य (काकु?) से दिखलाया है, और इसी के साथ एक निश्चयालंकार भी दिया है। अन्य बात का निषेध करके प्रकृत की स्थापना करके निश्चय करना दिखलाया जाता है।

नोट—जहाँ उपमेय और उपमान को परस्पर उपमान और उपमेय के रूपों में रखकर उनमें कुछ अन्तर भी दिखा दिया जावे तब अन्तरगर्भा उपमेयोपमा कह सकते हैं। यथा—

साधु-वचन-सम है सुधा, बचन सुधा-सम जान।
निराकार, साकार यह, अन्तर तिनमें मान।

जहाँ उपमेयोपमा की एक माला सी हो वहाँ मालोपमेयोपमा जानना चाहिये।

जहाँ उपमेय एवं उपमान को परस्पर उपमान एवं उपमेय के रूपों में रख कर उन दोनों को फिर किसी तीसरे उपमेय का उपमान कर दिया जावे वहाँ विशिष्ट या पूरक उपमेयोपमा कह सकते हैं। यथा—

मधुर वचन सम है सुधा, वचन सुधा सम जान।
इन दोउन के सम मधुर, है 'रसाल' मुसकान॥

जहाँ धर्म भी प्रगट हो वहाँ सधर्मोपमेयोपमा कहना चाहिये। या जहाँ दोनों की तुलना (समानता) का हेतु दिया हो वहाँ हेतूपमेयोपमा जानना चाहिये।

अपन्हुति

जहाँ, उपमेय (प्रकृत) का निषेध किया जावे और उसके स्थान पर उपमान ही का स्थापन या आरोपण किया जावे, वहाँ अपन्हुति अलंकार जानना चाहिये।

ध्यान रखना चाहिये कि यहाँ उपमेय एवं उपमान दोनों उपलक्षण रूप में ही होते हैं, इनके बिना भी अपन्हुति की सत्ता होती है। निषेध का भाव कहीं आरोपण के प्रथम और कहीं उसके पश्चात् रक्खा जाता है। इस प्रकार इसके दो रूप हो जाते हैं:—

१—पूर्वारोपण या (पूर्व निषेधात्मक) और (२) उत्तरारोपण या उत्तर निषेधात्मक। साथ ही अपन्हुति के दो भेद यों भी और होते हैं—

भेद—

अपन्हुतिः —

(१) शाब्दी

(क) सावयवा

(ख) निरवयवा

(२) आर्थी

(क) सावयवा

(ख) निरवयवा

(३) हेत्वापन्हुति

(क) छलापहन्हुति

(ख) (कैतवाप०)

(४) पर्यस्ताप०

(क) शुद्धा

(ख) हेतुपर्यस्ता०

(५) भ्रान्त्याप०

(क) सम्भव भ्रांति

(ख) कल्पित भ्रांति

(६) छेकापन्हुति

(क) शुद्धा

(ख) श्लिष्टा

अपन्हुति के वाचक 'न' 'नाहीं' या नकार सूचक (नहीं) या निषेध सूचक अन्य शब्द माने गये हैं। जहाँ कोई निषेधात्मक वाचक शब्द व्यक्त रहता है या किसी अन्य शब्द के द्वारा प्रगट किया जाता है, वहाँ शुद्ध शाब्दी और जहाँ यह निषेधात्मक वाचक किसी शब्द के द्वारा प्रगट न किया जाकर अन्य शब्दों या संकेतों के ही द्वारा सूच्य रूप में रहता है वहाँ आर्थी अपन्हुति कहना चाहिये।

काव्यप्रकाश में ये ही दो भेद दिखलाये गये हैं और अन्य भेद छोड़ दिये गये हैं।

" और धर्म जहँ थापिये, साँचो धर्म दुराइ।
औरहि दीजै जुक्ति बल, और हेतु ठहराइ॥
मेटि और सो गुन जहाँ, करै और की थाप।
भ्रम काहू को ह्वै गयो, ताको मिटवत आप॥
काहू बूझो, मुकुरि कै, औरै कहै बनाइ।
मिसु करि औरै कथन पर, होत अपन्हुति भाइ॥
शुद्ध, हेतु, पर्यस्त, भ्रम, छेक, कैतवहिं देखि।
वाचक एक नकार है, सब में निश्चय लेखि॥

का० नि० पृ० ९१, ९२

सत्य धर्म या गुण को हटाकर अन्य धर्म या गुण की स्थापना करना इसका मूल मर्म है। दास जी ने अपन्हुतियों की संसृष्टि

भी दिखलाई है, तथा केवल शुद्धापन्हुति भी दी है, वे शाब्दी और आर्थी आदि के भेद नहीं दिखलाते।

केशवदास ने इसकी परिभाषा यों दी है—

"मन की वस्तु दुराय मुख, औरै कहिये बात।
कहत अपन्हुति सकल कवि, यासों बुधि अवदात॥"

इससे यह ज्ञात होता है कि मन की बात (भाव) को छिपा कर और कोई दूसरी बात (भाव) को मुख से बाहर व्यक्त करने पर यह अलंकार होता है, अतः इसका सम्बन्ध सत्य भाव गोपन और असत्यार्थ के प्रकाशन से ही है। देव जी ने भी यही भाव अपनी परिभाषा में दिया है ("मन को अरथ छिपाइये, और अरथ परकाश"।) किन्तु उन्होंने इसका सम्बन्ध केशव की भाँति वचन-रचना की चातुरी से न दिखला कर श्लेष तथा काकु से ही दिखलाया है ("श्लेष वचन, काकु-स्वरनि, कहत अपन्हुति तासु") केशव और देव दोनों इसके भेद नहीं दिखलाते। हिन्दी के और सभी आचार्य कुवलयानन्द और चन्द्रालोक के ही आधार पर चलते हैं, और दास के समान ६ ही भेद दिखलाते हैं।

(१) निरवयवा शाब्दी:—जहाँ उपमेय के अंगों या अवयवों का कथन न किया गया हो तथा जिसमें निषेध सूचक-वाचक शब्द स्पष्ट रूप से दिये गये हों। यथा—

नहिं पलास के पहुप ये, हैं ये जरत अँगार।
मधु कीन्हें विरहीन को, जारि करन हित छार॥

नोट—कविवर दंडी ने इसे "तत्वापन्हव" के नाम से रूपकालंकार के भेदों में ही रक्खा है। कविवर लछिराम के मतानुसार यहाँ "उत्प्रेक्षा और अपन्हुति का मिश्रित रूप "अपन्हव" नामी अलंकार होगा—क्योंकि यहाँ अपन्हुति और उत्प्रेक्षा दोनों ही की समान झलक है।

(२) सावयवा शाब्दी—शब्दों के द्वारा स्पष्ट किये हुये निषेध के साथ जहाँ उपमेय अपने अंगों या अवयवों के सहित दिखलाया जाता है।

(३) निरवयवा आर्थी—जहाँ निषेध का भाव नकारार्थवाची शब्दों के द्वारा व्यक्त न किया जाकर, अन्य किसी शब्द (जैसे मिस, छल, व्याजादि) के अर्थ से सूच्य ही रक्खा जाता है, तथा जहाँ उपमेय अपने अंगों के साथ नहीं दिखलाया जाता।

यथा—रसना मिस विधि ने धरी, सांपिन खल-मुख माँहि।

(४) सावयवा आर्थी—इसी प्रकार अंगों के समेत उपमेय वाली आर्थी अपन्हुति को भी जाना चाहिये।

यहाँ सभी स्थलों में प्रथम निषेध का भाव व्यक्त किया गया है, तब उपमेय में उपमान का आरोपण दिखाया गया है—इसके विपरीत निम्नोदाहरण में प्रथम (निषेध न रख कर) आरोप ही किया है और तब निषेध किया गया है:—

नये सरोज, उरोज न ये, मंजु मीन, नहिं नैन।
कलित कलाधर, वदन नहिं, मदन-बान, नहिं सैन॥

—'रसाल'

(५) हेत्वापन्हुति—जहाँ अपन्हुति के भाव को किसी कारण या हेतु से पुष्ट एवं समर्थित किया गया हो।

यथा—अमी हलाहल मद भरे, श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥

—बिहारी

नोट—कभी कभी निषेध के भाव को लुप्त ही रखा जाता है, उसे निषेध-सूचक (वाची) किसी शब्द या किसी अन्य प्रकार मिसादि शब्दों के भाव से सूच्य नहीं किया जाता, वह केवल छाया के समान ही झलकता रहता है, उसका सर्वथा लोप सा होते हुये भी

उसका प्रतिविम्ब दीखता ही रहता है—ऐसे स्थान पर लुप्तापन्हुति की सत्ता मानी जाती है। यथा—उक्त उदाहरण में।

(६) पर्यास्तापन्हुति—जहाँ किसी वस्तु के धर्म या गुण का उसमें निषेध किया जाये और यह इस कारण कि उसी धर्म या गुण की स्थापना किसी दूसरी ही वस्तु में करनी अभीष्ट है। अर्थात् किसी अन्य वस्तु के आरोपित करने के लिये किसी वस्तु के धर्म का निषेध किया गया हो।

इसके दो भेद हो सकते हैं—

(१) शुद्ध पर्यस्ताप०—जहाँ विना किसी प्रकार के हेतु के ही अपन्हुति का भाव रख कर किसी वस्तु में स्थापित करने के लिये किसी वस्तु के धर्म का निषेध किया जावे।

यथा—है न सुधा, यह है सुधा संगति-साधु-समाज।

(२) हेतु पर्यस्ताप०—जहाँ पर्यस्तापन्हुति को किसी कारण के द्वारा प्रतिपादित किया गया हो। कहना चाहिये कि यह हेत्वापन्हुति और पर्यस्तापन्हुति का मिला हुआ रूप है। यथा—

विष, विषता राखत नहीं, विषता है श्री माहिं।
शिव सचेत, विष धरि गरे, श्रीधर श्रीधर नाहिं॥

—'रसाल'

नोट—पंडितराज और अलंकारसर्वस्वकार ने इसे दृढारोप रूपक माना है, किन्तु अप्पय दीक्षित और अलंकाररत्नाकरकार ने इसे अपन्हुति ही कहा है, क्योंकि इसमें निषेध का भाव स्पष्ट रहता है, और रूपक में ऐसा नहीं होता।

ध्यान रखना चाहिये कि इनके आर्थी और शाब्दी तथा सांग एवं निरंग रूप भी हो सकते हैं, इस प्रकार इनके कई उपभेद हो जावेंगे, विस्तार-भय से हम उन्हें पाठकों के ही ऊपर छोड़ रहे हैं।

(७) भ्रान्त्याप०—जहाँ कोई शंका किसी सत्य बात के द्वारा निवारित की जाती है, अर्थात् जहाँ भ्रांति या भ्रम का सत्य के द्वारा उच्छेद किया जाता है।

इसके २ भेद होते हैं—

१—सम्भव भ्रांति :—जहाँ किसी ऐसी भ्रांति का, जो सम्भव हो, किसी सत्य बात से निराकरण होता है।

मुदित मालती पै करत, मुग्ध मधुप गुंजार।
कामिनि के नूपुरन की, है यह नहिं झनकार॥
—'रसाल'

२—कल्पित भ्रांति—जहाँ कोई ऐसी भ्रांति दिखाई गई हो जो केवल कल्पना में ही आ सके, और सम्भव न हो। यथा—

विमल बदन यह विधु नहीं, करि भ्रम लखु न चकोर।
नये उरोज, सरोज न ये, भूलु न अलि यहि ओर॥
—र० मं०

नोट—यहाँ चकोर और मधुप की भ्रांति केवल कल्पनागत या कल्पित ही हैं—ध्यान रखना चाहिये कि उपर्युक्त अन्य रूपों में जो शुद्धापन्हुति की श्रेणी में आते हैं, उपमेय का निषेध किया जाता है—किन्तु भ्रान्त्यापन्हुति में उपमान का निषेध किया जाता है—अतः यदि हम अपन्हुति को २ भागों में यों विभक्त करलें, (१) उपमेय निषेध (शुद्ध) और (२) उपमान-निषेध (विलोम) तो भी उपयुक्त ही होगा।

मुकुरी—अठयें सतयें मो घर आवै,
भाँति २ की बात सुनावै।
सजनि रजनि में मन वहलावै,
मनमोहन जगमें कहलावै॥
ताही को मोंहि अति एतबार,
कहु सखि, साजन, नहिं अखबार॥

श्लेषात्मक—जीवन धन घनश्याम, सखि, बरसा सुख रस देत ॥
यातें जनि समुझौ अरी, मेरो हरि सों हेत ॥
—र० मं०

काकु सम्बन्धीः—केवल उच्चारण से जहाँ भाव बदल जावे।

निश्चयालंकार

आचार्य विश्वनाथ जी ने इसके दूसरे रूप को "निश्चय" के नाम से एक पृथक् और स्वतन्त्र अलंकार माना है। कविवर दंडी ने इसी को "तत्वाख्यानोपमा" की संज्ञा देकर उपमा के ही अन्तर्गत दिखलाया है।

(८) छेकापन्हुतिः—

जहाँ किसी गुप्त बात को छिपाया जावे, यद्यपि उसी को प्रगट किया जा चुका हो—अर्थात् किसी गुप्त बात को किसी प्रकार सूचित करके फिर उसी का गोपन किया गया हो।

नोट—यह कई रूपों में प्रवर्तित हो सकती है—

(१) जब गुप्त बात किसी के प्रति प्रथम साधारणतया भूल ही से कह दी जाये, किन्तु फिर किसी प्रकार की बाधा को सोच कर उसी व्यक्ति से वह रहस्यमयी बात किसी दूसरे प्रकार छिपा दी जाये और उसे किसी दूसरे तात्पर्य से झूठा कर दिया जावे। जैसे मुकुरी आदि में किया जाता है। इसका सम्बन्ध वचन-चातुरी से ही विशेष रूप में रहता है।

(क) आत्मरहस्यगोपन :—

बरजत हू बहुबार हरि, दियो चीर यह चीर।
का मन मोहन को कहै, नहिं बानर बेपीर ॥

(ख) श्रोतारहस्य गोपन—

खेलत हरि सँग विपिन में, अरी लख्यो मैं तोहिं।
विहँसि कह्यो, कपि सँग लख्यों, सुनि, नहिं भावत मोहि ॥

नोट—ध्यान रहे कि इनमें श्लेष का बहुत बड़ा भाग रहता है, श्लिष्ट पदों या काकु से अथवा किसी अन्य प्रकार की वाक्-चातुरी से भी काम लिया जा सकता है और इस प्रकार (१) श्लेषात्मक (२) काकु सम्बन्धी और व्यंग्य एवं चातुर्यात्मक रूप इसके और भी हो सकते हैं।

(ग) पर रहस्यगोपन—जिसमें अपने मित्र, सखी या अन्य किसी परिचित व्यक्ति के रहस्य का संगोपन किसी कारण वश किया जाता है।

नोट—बात या रहस्य के छिपाने के अनेक कारण हो सकते हैं, विस्तार-भय से हम यहाँ उन्हें नहीं दे रहे हैं।

(घ) किसी रहस्य का कथन करते समय उसे किसी तीसरे या अन्य जन (जिससे बात कही जा रही है उससे पृथक्) के सुन लेने पर किसी प्रकार की शंका रखते हुये उस रहस्य को तात्पर्यान्तर से छिपा लेना—

यथा—आई आजु पाती प्रेम पागी मनमोहन की,
आली री प्रभात ई मैं बाईं आँख फरकी।
यामैं है लिखो कि तुम मेरी, मैं तिहारो नित,
हित चित साँचो सौंह देव और पितर की॥
ऐसी बात होत रही जब दोऊ गोपिन में,
आई, सुनी राधा, सोचि छाती कछू धरकी।
बोली बाल चातुर, न राधे! कहूँ कहियो यों,
बात ना हमारी, यह बात और घर की॥

इसमें निन्दा की भी पुट दी जा सकती है और उसी के कारण बात को झूठा करने तथा छिपाने के लिये अपन्हुति पूर्ण उक्ति का भी सहारा लिया जा सकता है।

नोट—ध्यान रखना चाहिये कि छेकापन्हुति और व्याजोक्ति में बहुत अन्तर है, यहाँ निषेध के साथ सत्य बात का संगोपन रहता है, किन्तु उसमें बिना निषेध के ही सत्य का संगोपन होता है। इसमें अपनी ही उक्ति को अन्यथा करके छिपाया जाता है, किन्तु वक्रोक्ति में दूसरे की बात को किसी दूसरे ही रूप में लेकर सत्य बात को छिपाया जाता है, यही इन दोनों में स्पष्ट अन्तर है।

(९) छल (कैतवा) अपन्हुति—जहाँ किसी छल, या बहाने के साथ आरोप करते हुये किसी सत्य बात का निषेध किया जाये। यथा—

काह हँसौ, लखि, लाज तजि, धरे अंक मैं श्याम।
नटनागर यह श्याम नहिं, दीठ बाँधि, कर काम॥

(१०) व्यंगापन्हुति—जहाँ अपन्हुति का भाव व्यंग्य से ही सूचित रहे और वह व्यंजना से ही सम्बन्ध रक्खे। यथा—

वदन रदन छबि मिस लहहिं, केसर तिय तव अंग।
शोभित लोभित, गन्ध ये, अलक वेषधरि भंग॥

उत्प्रेक्षा

—:*:—

जहाँ उपमेय और उपमान में भेद सर्वथा ज्ञात तो रहता है, किन्तु तौ भी उपमेय में उपमान का आहार्यारोप ही किया जाता है, और इस प्रकार के आरोप में सम्भावना का पूर्ण भाव रहता है, साथ ही उसमें कवि की प्रतिभा से समुत्पन्न हुए सुन्दर चमत्कार-चातुर्य का भी पूरा प्रतिबिम्ब झलकता रहता है।

इसका सम्बन्ध, संदेह (संशय) भ्रम, स्मरण और सम्भावना नामी अलंकारों से भी है। कहना चाहिए कि ये सभी अलंकार एक ही स्रोत से सम्भूत हो, भिन्न भिन्न पथों पर चलने वाले नद या नाले हैं। कविवर भिखारीदास ने भी यही माना है—

" उत्प्रेक्षाऽरू अपन्हुत्यौ, सुमिरन, भ्रम, संदेह।
इनके भेद अनेक हैं, ये पाँचों गनि लेहु॥

का० नि० पृ० ८७

सन्देह में निषेध का भी भाव रहता है और दो पक्षों में से किसी पर पूर्ण विश्वास नहीं होता। यथा—अंधेरे में किसी रज्जु को देख कर यह सन्देह करना कि यह सर्प है या रस्सी, अथवा सर्प नहीं है कुछ और वस्तु है, जहाँ यह संशयात्मक ज्ञान, जो अपूर्ण है, रहता है, वहाँ सन्देह जानना चाहिये, किन्तु जब एक पक्ष (जो यथार्थ पक्ष के अनुकूल है) पर मिथ्या ज्ञान के साथ विश्वास सा हो जाता है, तब सन्देह एक दूसरे रूप में, जिसे भ्रम कहते हैं, परिणित हो जाता है। जहाँ किसी पदार्थ को देख कर न तो किसी अन्य पदार्थ का संदेह होता है और न भ्रम ही होता है, वरन् उसके समान, उससे सम्बन्ध रखने वाले, उसके प्रतिकूल या

पृथक् किसी अन्य पदार्थ, घटना एवं बात का ध्यान आ जाता है, तब स्मरण नामी अलंकार होता है, इन सब में दो पृथक् पृथक् तथा स्वतन्त्र पक्ष रहते हैं और एक का दूसरे पर स्थापन होता है, जब अप्रस्तुत पक्ष जिसका स्थापन प्रस्तुत पक्ष पर होता है, ऐसा होता है जिसकी वहाँ उस समय और स्थान में उपस्थिति की सर्वथा सम्भावना होती है, तब इस सम्भावना पर समाधारित हो विश्वास का प्राबल्य सा हो जाता है, बस वहीं सम्भावना की जागृति या उत्पत्ति हो जाती है। अब उत्प्रेक्षा में भी दो पक्ष—प्रस्तुत और अप्रस्तुत होते हैं, प्रस्तुत को देखकर ही एक विचित्र प्रकार का संशय उत्पन्न होता है और उसके आधार पर अप्रस्तुत का (जो प्रस्तुत से सादृश्य एवं साम्य रखता है) आरोप उस प्रस्तुत पर हो चलता है। दोनों पक्षों की भिन्नता एवं पृथक् सत्ता का ज्ञान पूर्ण रूप से यहाँ बना रहता है, किन्तु उनमें सादृश्य होने के कारण एक को दूसरा मान लिया जाता है; इस प्रकार मान लेने और आरोप या स्थापन करने में विश्वास का बहुत बड़ा भाग नहीं रहता, हाँ, इतना अवश्य रहता है कि चूंकि इन दोनों में सादृश्य है, अतः यह अवश्य ही एक सा पदार्थ माना जा सकता है और यहाँ माना भी जाता है। ऐसी दशा में सम्भावना का भी पूर्ण स्थान नहीं रहता, क्योंकि दोनों पक्षों के पार्थक्य का भाव सब प्रकार बना ही रहता है। जितनी सम्भावना सादृश्य एवं साम्य के आधार पर टिक सकती है उतनी यहाँ अवश्य रहती है। सन्देह और भ्रम के समान इस आरोप में मिथ्या ज्ञान की छाया नहीं रहती, क्योंकि दोनों पक्षों के वैलक्षण्य एवं पार्थक्य का यथार्थ ज्ञान सदैव प्रौढ़ रहता है, हाँ सादृश्य के भाव से कवि का हृदय कुछ ऐसा मुग्ध या मोहित सा हो जाता है कि वह एक का दूसरे पर आरोपण कर ही देता है।

इसीलिये इसको कुछ विशिष्ट एवं विचित्र वाचक शब्दों के द्वारा व्यक्त किया जाता है—

वाचक शब्द—मनु, मानहु, मानो, जनु, जानो, जानहु, इव प्रायः, शंके, मनहुँ, मनो निश्चै, तथा इनके पर्यायी वाचक शब्द उत्प्रेक्षा के वाचक शब्द हैं।

भेद—उत्प्रेक्षा के प्रथम दो भेद मुख्य माने गये हैं—

(१) वाच्या—जहाँ उपर्युक्त उत्प्रेक्षा वाचक शब्दों से उत्प्रेक्षा का भाव स्पष्ट किया गया हो।

(२) प्रतीयमाना—जहाँ उत्प्रेक्षा वाचक शब्दों के बिना ही उत्प्रेक्षा का भाव रक्खा गया हो।

इसे गम्योत्प्रेक्षा भी कहते हैं।

इसका भाव शब्दों के द्वारा पूर्णतया स्पष्ट नहीं होता, वह गुप्त या गम्य रूप में ही रहता है।

नोट—ध्यान रहे कि उत्प्रेक्षा में सादृश्य के भाव का होना अनिवार्य है, विशेषतया प्रतीयमाना या गम्योत्प्रेक्षा में, क्योंकि जहाँ बिना सादृश्य के भाव के केवल वाचक शब्द ही रक्खे जाते हैं वहाँ सम्भावना ही होती है।

यथा—विकसि कमिलिनी कुल उठ्यो, करन लगे अलि गुंज।
जानी मैं वह शशिमुखी, आई विहरन कुंज॥

वाच्योत्प्रेक्षा के ३ मुख्य भेद हैं—

(१) वस्तूत्प्रेक्षा—जहाँ एक वस्तु के रूप की दूसरे वस्तु के रूप में सम्भावना की जाये, या एक के रूप का दूसरे में आरोप या स्थापन किया जावे, अथवा उपमेय में उपमान का आहार्यारोप सादृश्य-भाव के आधार पर किया जावे।

इसे स्वरूपोत्प्रेक्षा भी कहते हैं। इसके मुख्य दो रूप होते हैं।

(क) उक्त विषया—जहाँ उत्प्रेक्षित वस्तु (उत्प्रेक्षा का विषय या आश्रय अथवा जिसकी उत्प्रेक्षा की जावे) का स्पष्ट रूप से कथन हो। यथा—

चन्दन चर्चित नील तन, हरि कौ अति अभिराम।
विमल वलाहक खंड सों, मानो गगन ललाम॥

(ख) अनुक्त विषया—उक्त विषया के प्रतिकूल जहाँ उत्प्रेक्षित वस्तु का प्रकाशन न किया गया हो, वरन् उसे सूच्य ही रक्खा गया हो। ध्यान रहे कि इन दोनों ही में उत्प्रेक्षा-वाचक शब्द अवश्य ही होने चाहिये।

उदाहरण

(क) पावस की आई नई, श्याम-घटा की छाँह।
कह 'रसाल' छावति छटा, सित सुरसरि जल माँह॥
तरनि तनूजा मिलि मनौ, सुरसरि उर लहराहि।
करि प्रयाग संगम तहाँ, चली संग पुनि जाहिं॥

(ख) तिय सुषमा-रस राशि मय, शोभा सिन्धु-अपार।
तरत ताहि युग कुम्भ लै, योवन के जनु भार॥

इन दोनों उक्त और अनुक्त विषया नामी भेदों के ८, आठ भेद रूप, गुण, जाति, क्रिया और द्रव्य के भेद से हो जाते हैं, फिर प्रत्येक भेद भाव और अभाव के कारण दो दो प्रकार का हो जाता है। विस्तार-भय से हम इन्हें नहीं देते। इनका परखना भी कोई कठिन नहीं, क्योंकि इनके लक्षण इनके नामों से ही स्पष्ट हैं।

सिद्ध विषया फलो०

तरनि-तनूजा तीर राधा नीर लेन आई,
लखि यों कन्हाई तहँ आये अनुराग सों।
गागरि उठावत त्यों नागरि को चीर खिरो,
हरिहरि हँसे बोले यों 'रसाल' राग सों॥
जिन सम सुषमा के पाइबे को मानो पैठि
सर में सरोज पूजैं रविहिं पराग सों।
साधी ना समाधि अरी राधे ना अराधे सुर,
तौहू ये उरोज पाये जानै कौन भाग सों॥

नोट—इस अलंकार का आधार कल्पना ही पर होता है, कल्पना को चमत्कृत एवं मनोरम रूप में रखना कवि की प्रौढ़ एवं कला कुशल प्रतिभा का ही काम है। कवि की कल्पना के चातुर्य एवं उसके पैनेपन की परीक्षा बहुत कुछ उत्प्रेक्षा से ही होती है। जहाँ उत्प्रेक्षा किसी बुरी वस्तु की ओर जाती है अर्थात् जहाँ उत्प्रेक्षा वस्तु के लिये कवि किसी ऐसी उत्प्रेक्षित वस्तु को रखता है जो उत्प्रेक्ष्य वस्तु से बुरी होती है तो वहाँ हम दुरुत्प्रेक्षा मान सकते हैं। उत्प्रेक्ष्य एवं उत्प्रेक्षित वस्तुओं में यदि समता, न्यूनता अधिकता दिखाई जाती है तो हम सम, न्यून एवं अधिकोत्प्रेक्षा कह सकते हैं। इन्हें हम श्लिष्ट करके श्लिष्टोत्प्रेक्षा बना सकते हैं। उत्प्रेक्षित वस्तु के सम्भव एवं असम्भव होने पर सम्भवी एवं असँभवी उत्प्रेक्षा हो जावेगी। जहाँ उत्प्रेक्षित वस्तु पर उत्प्रेक्ष्य वस्तु का आरोप किया जाता है वहाँ विलोमोत्प्रेक्षा मानी जा सकती है। इसी प्रकार इसके और भी भेद हो सकते हैं, विस्तार-भय से हम नहीं दे रहे।

हेतूत्प्रेक्षा—इसमें उत्प्रेक्षा को किसी ऐसे कारण (हेतु) से पुष्ट किया जाता है जो वास्तव में कारण नहीं होता अर्थात् यह हेतु-भूत अहेतु से प्रतिपादित दिखलाई जाती है। इसके दो भेद हैं—

(क) सिद्ध विषया—जिसमें उत्प्रेक्षाश्रय (विषय—जिसकी उत्प्रेक्षा की जावे) सिद्ध अथवा सम्भव हो। यथा—

अरुण भये कोमल चरण भुवि चलिबे तें भानु—

भा० भू०

(ख) असिद्ध-विषया—प्रथम रूप के प्रतिकूल भाव के साथ जहाँ उत्प्रेक्षाश्रय स्वभावतः असिद्ध या असम्भव हो। यथा—

चरन परे हरि, तदपि तव, भयो मान नहिं मन्द।
लखि अनीति यह, रोष सों, लाल उठो ह्वै चन्द॥

—र० मं०

[नोट—इन दोनों भेदों के भी उक्त-विषया के समान गुण, जाति, क्रियादि के आधार पर आठ आठ भेद माने गये हैं। इस प्रकार हेतूत्प्रेक्षा के कुल १६ रूप दिखलाये गये हैं, हम उन्हें, चूंकि वे सरल एवं सूक्ष्म भी हैं, यहाँ विस्तार-भय से नहीं देते।]

फलोत्प्रेक्षा (वाच्या)—जहाँ उत्प्रेक्षा में किसी ऐसे फल को दिखलाया जाये, जो यथार्थ में फल न हो, अर्थात् जहाँ अफल में ही फल की कल्पना करते हुये चातुर्य-चमत्कार दिखलाया जावे। इसके भी भेद-प्रभेद हेतूत्प्रेक्षा के समान जानने चाहिये। मुख्य-तया इसके प्रथम दो भेद होते हैं।

(क) सिद्धविषया—जहाँ उत्प्रेक्षाश्रय एक सिद्ध या संभव विषय हो। यथा—

कामिनि के कटि किंकिणी, सुवरन लसत ललाम।
रति-रन करिबे को मनहु, कटि कसि राखी बाम॥

—र० मं०

(ख) असिद्ध-विषया—जहाँ उत्प्रेक्षाश्रय एक असिद्ध विषय एवं असम्भव हो। यथा—

> राधा-मानस में लसैं, अनुपम नये उरोज।
> जिन सम ह्वै बे को मनहु, सेवैं रविहिं सरोज॥

[नोट—इन सब में मनु, मानहु आदि उत्प्रेक्षा वाचक शब्द स्पष्ट दिये गये हैं, अतः ये सब वाच्योत्प्रेक्षा के ही अन्तर्गत हैं, जहाँ येवाचक-शब्द नहीं दिये जाते वहाँ प्रतीयमान या गम्योत्प्रेक्षा होगी।]

इन भेदों के जाति, गुण, क्रिया, और द्रव्य के आधार पर चार चार भेद वस्तूत्प्रेक्षा के समान होकर भाव (जिसके उदाहरण ऊपर दिये गये हैं) और अभाव के कारण आगे और दो दो भेद हो जाते हैं, और यों कुल ३२ भेद हो जाते हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि द्रव्य गत भेद वस्तूत्प्रेक्षा ही में होता है, परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने ऐसा न मान कर हेतूत्प्रेक्षादि को भी द्रव्यगत माना व दिखलाया है। विस्तार-भय से हम उन्हें नहीं दे रहे हैं। अभाव के आधार पर हेतूत्प्रेक्षादि को सूक्ष्मतया दिखला देते हैं।

अभाव की उत्प्रेक्षा, यथा—

> वाके युगुल कपोल की, दशा न अब कहि जात।
> क्षाम भये एते मनहु, एक न अपर लखात॥

का० क०

प्रतीयमान हेतूत्प्रेक्षा—जहाँ उत्प्रेक्षा वाचक शब्द नहीं होते वहाँ, जैसा प्रथम कहा जा चुका है, प्रतीयमान या गम्योत्प्रेक्षा होती

है—यदि ऐसी गम्योत्प्रेक्षा हेतुभूत अहेतु से पुष्ट हो, तो वह गम्य-हेतूत्प्रेक्षा मानी जाती है। यथा—

रति-रन में हम मदन सों, जीति सदा ही जात।
यह प्रसन्नता पाय कुच, फूले नाहिं समात॥
—र० मं०

[नोट—व्यंग्योत्प्रेक्षा और इसमें यह अन्तर है कि व्यंग्योत्प्रेक्षा में उत्प्रेक्षित भाव बिना उत्प्रेक्षा के ही वाच्यार्थ से पूर्ण होता है, और वाच्यार्थ के सिद्ध हो जाने पर व्यञ्जना के द्वारा उत्प्रेक्षा की ध्वनि स्फुटित होती है, किन्तु हेतूत्प्रेक्षा में उत्प्रेक्षा को बिना खींच लाये वाच्यार्थ पूर्ण नहीं होता, यहाँ (प्रतीयमान उत्प्रेक्षा में) उत्प्रेक्षा का भाव वाच्यार्थ का एक अंग और प्रधान अंग ही होता है, किन्तु व्यंग्योत्प्रेक्षा में वही उत्प्रेक्षा का भाव वाच्यार्थ की सिद्धि के लिये कोई अपेक्षा नहीं रखता। वाच्यार्थ की सिद्धि पर ही उत्प्रेक्षा की चमत्कार पूर्ण ध्वनि व्यञ्जना से व्यंग्य होती है। अतः कहना चाहिये कि व्यंग्योत्प्रेक्षा में उत्प्रेक्षा का भाव ध्वन्यमान होकर ध्वनि से ही सम्बन्ध रखता है, किन्तु प्रतीयमान में वही अलंकार से सम्बन्ध रखता है।]

किसी दूसरे अलंकार पर आधारित या उससे उत्थापित उत्प्रेक्षा अधिक चमत्कार-पूर्ण एवं रोचक हो जाती है, अतः उत्प्रेक्षा के मूल या आधार में प्रायः उसका कारण-भूत कोई दूसरा अलंकार आपेक्षित होता है। एतदर्थ श्लेष बहुत ही उपयोगी एवं उपयुक्त ठहरता है। यथा—

संकट शुक्ती सों निकरि, मानहु मुकन पास।
सगुन भयो तरुणीन के, कम्बु ग्रीव अधिवास॥

इसी प्रकार अपन्हुति आदि के भी साथ उत्प्रेक्षा को रख सकते हैं। यथा—

गिरपति गोद ते प्रमोद प्रति पाली भली,
मानौ गिरिराज लली जात सहुलास है।
गंगा जू न आवती हैं आवती है, मानौ मंजु,
शुचिता सदेह, जामें पावन प्रकास है॥
बीचि-बीचि फेन को अभास नहिं मानौ यह
सुकवि 'रसाल' ताके हास को विकास है।
आवति ना सुरसरी करत कलोल मानौ,
कीरति भगीरथ की कूजै सविलास है॥

फलोत्प्रेक्षा (प्रतीयमाना)—जहाँ किसी फल-भूत अफल को उत्प्रेक्षित किया जावे तथा उत्प्रेक्षा वाचक शब्द न रक्खे जावें। यथा—

ब्रह्मा जू के ढिग बसत, कहत 'रसाल,' मराल।
सेवत सीखन को तहाँ, हंस गमिन की चाल॥
—र० म०

[नोट—ध्यान रखना चाहिये कि वस्तूत्प्रेक्षा को गम्यमाना या प्रतीयमाना का रूप नहीं दिया जा सकता, वह प्रतीयमाना नहीं हो सकती, क्योंकि वस्तूत्प्रेक्षा (स्वरूपोत्प्रेक्षा) में यदि उत्प्रेक्षा वाचक शब्दों को न रक्खा जाये तो वह अतिशयोक्ति के रूप में प्रतिभात होवेगी और उत्प्रेक्षित भाव को न प्रगट कर सकेगी। अतिशयोक्ति में उपमेय का उपमान के साथ अभेद का भाव रहता है और केवल उपमान में ही एक निश्चित रूप से प्रतीति रहती है, उसमें उपमेय का निगरण सा हो जाता है और वह शब्द के द्वारा न कहा जाकर, उपमान के ही कथन से सिद्ध होता है, इस प्रकार

उसमें अध्यवसाय सिद्ध रहता है, किन्तु उत्प्रेक्षा में वही साध्य के रूप में रहता है, क्योंकि इसमें उपमान का कथन अनिश्चित रूप से ही होता है। भ्रांति में सत्य बात का ज्ञान नहीं रहता किन्तु उत्प्रेक्षा में ऐसा नहीं होता, वरन् उत्प्रेक्षित विषय की सम्भावना के साथ उसके यथार्थ स्वरूप का भी ज्ञान रहता है। संदेह में दोनों पक्ष समान रहते हैं, किन्तु उत्प्रेक्षा में एक सम्भावना पूर्ण पक्ष प्रबल या उत्कृष्ट रूप में रहता है, यही इन अलंकारों में परस्पर सम्बन्ध एवं अन्तर है।

नोट—उत्प्रेक्षा में अत्युक्ति एवं अतिशयोक्ति की पुट भी दी जा सकती है, और इसी प्रकार रूपकादि के साथ भी इसे रख कर कई प्रकार के मिश्रालंकार बनाये जा सकते हैं। हमें दुःख है कि हम स्थान-लाघव के कारण इसके ऐसे नये रूपों की सोदाहरण विवेचना विस्तृत रूप में नहीं कर सकते।

अतिशयोक्ति

—:*:—

वर्ण्य-विषय को जहाँ लोक-मर्यादा से भी अधिक बढ़ा कर, विचित्र एवं अलौकि उक्ति के चातुर्य-चमत्कार के साथ दिखलाया जाता है, वहाँ अतिशयोक्ति नामी अलंकार माना गया है। यह एक यौगिक शब्द है,—अतिशय = बहुत, बढ़ी हुई + उक्ति = कथन। किसी बात को बहुत बढ़ा कर कहना अतिशयोक्ति है।

शब्दार्थ-वैचित्र्य ही अलंकार का मूल तत्व है, तथा शब्दार्थ में चमत्कार की चारुता को प्रवर्धित रूप देने ही में अलंकार का चातुर्योत्कर्ष है, इसीलिये कई आचार्यों ने अतिशय या अतिशयोक्ति को सब अलंकारों का मूलाधार तथा केन्द्र या अंतरात्मा के रूप में माना है—रुद्रट ने अपने अलंकारों के चार मूल सिद्धान्तों में से अतिशय को भी एक माना है और इसके आधार पर निर्भर रहने वाले अलंकारों का एक वर्ग अलग ही रक्खा है। कविवर दंडी और वक्रोक्ति जीवितकार कुन्तल जी ने भी अतिशय को अलंकारों का आधार भूत तत्व माना है और वक्रोक्ति में भी इसकी आंशिक सत्ता दिखलाई है, इनका समर्थन मम्मट एवं आनन्दवर्धनाचार्य भी करते हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो उपमा आदि औपम्य मूलक अलंकारों में भी अतिशयोक्ति का कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है। श्लेष मूलक अलंकारों को भले ही छोड़ा जा सकता है, उसी प्रकार स्वभावोक्ति एवं वास्तव मूलक अलंकार भी इससे सम्बन्ध नहीं रखते। इसी दृष्टि से कुछ आचार्य जैसे—भामा, वामन, और कुन्तलादि, स्वभावोक्ति तथा तदाधारित अलंकारों को अलंकार ही नहीं मानते, क्योंकि वे मनोरञ्जक चातुर्य-चमत्कार से सर्वथा हीन ही रहते हैं।

अतिशयोक्ति के प्राधान्य को प्रतिस्थापित करने वाले आचार्यों का मत है कि अतिशयोक्ति के ही आधार पर निर्भर होने से, इसीके भिन्न भिन्न चातुर्य-चमत्कारों से ही भिन्न भिन्न प्रकार के अलंकारों की सृष्टि हुई है; वे सब वास्तव में इसी के रूप रूपान्तर मात्र हैं, उनके बस भिन्न भिन्न नाम रख लिये गये हैं; अतः जहाँ किसी चमत्कार पूर्ण उक्ति में किसी अलंकार का नाम निर्दिष्ट न हो, वहाँ अतिशयोक्ति ही जानना चाहिये।

दंडी आचार्य ने संदेह, निश्चय, मीलित और अधिकादि अलंकारों को भी इसी अतिशयोक्ति के अन्तर्गत माना है और उनके नाम पृथक् नहीं दिये और यह स्पष्ट रूप से कह दिया है कि न केवल इन्हीं अलंकारों की आत्मा अतिशयोक्ति है; वरन् अन्यान्य अलंकारों की भी (काव्यादर्श परि० २, २२० श्लो०) आपका कहना है कि इसे वाचस्पति से भी मान्य एवं पूज्य (पूजित) जानना चाहिये। अर्थात् उनका भी यही मत है।

भिखारीदास ने भी अतिशयोक्ति के आधार पर उदात्त, अधिक, अल्प, एवं विशेषादि अलंकारों का एक पृथक् वर्ग बनाया है।

अतिशयोक्ति

मम्मट—"निगीर्य्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्,
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्।
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्य विपर्ययः,
विज्ञेयातिशयोक्तिः······················॥

का० प्र० २९६

यहाँ प्रथम रूप तो सब में समान ही सा है, किन्तु दूसरे रूप में कहा गया है कि पौर्वापर्य (पूर्व और अपर) तथा कार्य और कारण का जहाँ विपर्यय हो, वहाँ भी अतिशयोक्ति जानना चाहिये यह बात अवश्य ही ध्यान देने योग्य है।

विश्वनाथ ने अध्यवसाय की ही सिद्धि (उपमेय का शब्द से कथन न हो कर उपमान ही का कथन होना) को अतिशयोक्ति कहा है।

रसगंगाधर में विषयी के द्वारा विषय के (उपमान से उपमेय का) निगरण (निगल जाना) ही को अतिशय तथा प्रसिद्ध बात के अत्यन्त अतिक्रमणता के साथ कथन करने को अतिशयोक्ति माना है।

"जहँ अत्यन्त सराहिये, अतिशयोक्ति सुकहन्त।"

इस प्रकार इसकी परिभाषा देकर (जो किसी अंश तक "सराहिये" शब्द से परिमित एवं सीमावद्ध या संकीर्ण हो जाती है, क्योंकि न केवल अत्यन्त सराहने में ही अतिशयोक्ति होती है या होनी चाहिये वरन् अत्यन्त विगर्हणादि में भी इसकी व्यापकता होती या हो सकती है और होना भी चाहिये) दास जी ने कहा है कि यह बहुत प्रकार की होती है—

"अतिशयोक्ति बहु भाँति की..............

का० नि० पृष्ठ १०७

केशवदास ने अतिशयोक्ति को अलंकारों में नहीं लिया, और इसे नितान्त छोड़ ही दिया है, हाँ, देव जी ने इसे अतिशय के नाम से लिखा है और इसकी परिभाषा यों दी है—

"सीमा ते अति बरनिये, अतिशय ताहि बखानु।"

भा० वि० पृ० १०६।

दास जी ने भी एक दूसरे स्थान पर इसी से कुछ मिलती जुलती हुई परिभाषा दी है—

"अतिशयोक्ति अति वर्णनिये, औरै गुन बल भार॥"

का० नि० पृ० २५

हिन्दी के अन्य आचार्यों ने इसकी एक व्यापक परिभाषा नहीं दी, वरन् इसके भेदों ही की परिभाषायें लिखी हैं।

भेद—

(१) रूपकातिशयोक्ति—जहाँ उपमेय (विषय) का निगरण (निगलना या उपमेय का तो पृथक् कथन न करना वरन् उपमान का ही कथन करना) करके उपमान (विषयी) के साथ उसके अभेद या आहार्याभेद का निश्चय रूप से कथन किया जाता है।

रूपक में केवल आहार्याभेद ही रहता है, उसका निश्चय नहीं दिखलाया जाता, तथा उपमेय और उपमान दोनों ही के कथन के साथ अहार्याभेद रहता है, किन्तु यहाँ केवल उपमान ही का वर्णन किया जाता है। साथ ही अहार्याभेद का निश्चय भी प्रगट किया जाता है। इसी से इसमें रूपक से विशेषता या अतिशयता का भाव आ जाता है। इस विचार से कह सकते हैं कि यह रूपक का एक प्रवर्धित रूप ही है या यह एक प्रकार का ऐसा मिश्रालंकार है, जिसमें रूपक और अतिशय दोनों मिले रहते हैं।

इसके दो भेद होते हैं—

(१) शुद्धा—जहाँ और किसी भी अलंकार का व्यवधान न हो। यथा—

> जगजीवन को देत नित संजीवन सुख धाम।
> सुख मय जीवन देहु अब, दामिनि युत घनश्याम॥

—र० मं०

[नोट—इसके साथ में भी श्लेष का सामञ्जस्य होता या हो सकता है और वह बहुत रोचक भी लगता है, यथा, उक्त उदाहरण में देखिये।]

अतिशयोक्ति का यह रूप वेदों में भी पाया जाता है। यथा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकेरीति ॥

—तृतीय मुंडकोपनिषद् खं० १ मं० १

[नोट—ध्यान रखना चाहिये कि इसमें गौणी साध्यवसाना लक्षणा भी रहती है, क्योंकि इसमें केवल आरोप्यमाण का वर्णन तो होता ही है, साथ ही इसमें उपमेय और उपमान यथार्थ में दो पृथक् पदार्थ होते हैं, और वे भेद रखते हुये भी अभेदवान् से रहते हैं, और उपमेय का केवल उपमान के रूप में ही कथन किया जाता है।]

(२) सङ्कीर्ण—जहाँ इसके साथ किसी अन्य अलंकार का भी सामंजस्य हो।

(२) सापन्हवरूपकातिशयोक्ति—जहाँ रूपकातिशयोक्ति में अपन्हुति का भी समावेश या सामञ्जस्य होता है। यथा—

विद्रुम औ मुकतान के बीच अलौकिक वा रस माधुरी जानिये।
केवल ये मन-वाहक हैं कछु पुष्प नहीं इनको अनुमानिये ॥
त्यों बसुधा में सुधाहू कहाँ, न सुधाधर में है सुधा यों बखानिये।
मानिये साँच न तो चलिकै तिहि सुन्दरि काहिं प्रत्यक्ष प्रमानिये ॥

(३) भेदकातिशयोक्ति—जहाँ उपमेय का अतिशयोत्कर्षपूर्ण वर्णन हो। ध्यान रहे कि रूपकातिशयोक्ति में तो भेद में अभेद दिखलाया जाता है तथा उपमान की प्रधानता रहती है, किन्तु इसमें उपमेय एवं उपमान के बीच में कुछ भेद न रहने पर भी भेद दिखलाया जाता है और इस प्रकार अभेद में भी भेद का भाव भासित होता है तथा यहाँ उपमेय ही का प्राधान्य दिखलाया जाता है।

इसके वाचक शब्द प्रायः अन्य, औरै और इनके पर्यायी-वाची शब्द हुआ करते हैं। यथा—

अनियारे दीरघ नयन, किती न युवति समान।
वह चितवन औरै कछू, जिहिं बस होत सुजान॥

—बिहारी

औरै भाँति कोकिल चकोर बार बार बोलैं.........

—पद्माकर

[नोट—दास ने कहा है कि इसमें सब बात ठीक रास्ते पर होती है, किन्तु वह लौकिक रूप से भिन्न (अलौकिक) रूप ही में रहती है, और इसमें औरै आदि शब्दों से ही भेद प्रदर्शित होता है।]

(४) सम्बन्धातिशयोक्ति—जहाँ उपमेय एवं उपमान के असम्बन्ध में भी सम्बन्ध का कथन किया जावे। इसके दो भेद होते हैं—

(क) सम्भाव्यमाना—यदि और जो आदि शब्दों से जहाँ सम्बन्ध स्थापित किया जावे। यह सम्बन्ध को संभाव्यता का रूप देती है। यथा—

अनुदिन रहै विकास युत, जो सुन्दर अरविन्द।
तौ तव मुख उपमान तेहि, कहै "रसाल" कविन्द॥

[नोट—कुछ आचार्यों ने (जैसे अप्पय दीक्षित ने) इसे एक भिन्न या पृथक् अलंकार, सम्भावना की संज्ञा देकर, माना है, दंडी ने (जैसा केशव दास ने भी किया है) इसे "अद्भुतोपमा" के नाम से उपमा के ही अन्तर्गत दिखलाया है। वस्तुतः यह उपमा का ही एक विशिष्ट रूप है।]

(ख) निर्णीयमाना—जहाँ, यदि आदि संभावना सूचक-पद न हों और वैसे ही सम्बन्ध का निश्चित रूप से वर्णन हो। यथा—

मेघ न गरजन करु बहुत, सुनि तेहि गज-धुनि जानि।
उछरत अर्भक गर्भ को, रोष द्वेष उर आनि॥
युगुल उरोज सरोज सखि, तेरे विकसत जाहिं।
कह " रसाल " लहि वृद्धि ये, फूले उर न समाहिं॥

(५) अक्रमातिशयोक्ति—

सुमिरत ही प्रह्लाद के, अटल भक्त अनुमान।
कहत ' रसाल ' नृसिंह ह्वै, प्रगट भये भगवान॥

[नोट—अक्रमातिशयोक्ति में ध्यान रहे कि कार्य और कारण का एक समय में ही होना अनिवार्य या आवश्यक है, वे चाहे एक ही स्थान में हो या अन्य अन्य स्थानों में—]

क—एक ही स्थान में—

गंगाजल मुख परत ही, पाप, ताप भे दूर।
कह 'रसाल' तन शुचि भयो, लहि दुकूल की धूर॥

ख—अन्य स्थान में—

रघुबर-कर-शर-हत गिरो, रावन इत मैदान।
उत नभ में जय जयति कहि, देवन हने निसान॥

—र० मं०

इसी प्रकार इसके और भी भेद हो सकते हैं।

(६) असम्बन्धातिशयोक्ति—यह सम्बन्धातिशयोक्ति का विलोम रूप है, इसमें उपमेय और उपमान के बीच में सम्बन्ध होते हुये भी सम्बन्ध नहीं दिखलाया जाता। यथा—

युगल उरोज सरोज सखि, तेरे विकसत जाँय।
बाहेर उकसत आवहीं, फूले नाहिं समाँय॥

—र० मं०

(७) कारणातिशयोक्ति—जहाँ किसी कार्य को अति शीघ्रता से करने वाले किसी कारण का वर्णन हो। इसको अतिशय से सदा ही सम्बद्ध रखना चाहिये, कोई कारण, जितने समय में किसी कार्य को पूरा कर सकता है, उससे अत्यन्त न्यून समय में ही उसे शीघ्रता के साथ कार्य करता हुआ दिखलाना चाहिये। इसका सम्बन्ध सर्वथा कार्य-कारण सिद्धान्त से ही समझना चाहिये, वही इसका केन्द्रीभूत तत्व है।

इसके तीन रूप होते हैं—

(क) अक्रमातिशयोक्ति—जहाँ कार्य और कारण इतनी शीघ्रता के साथ चलें कि वे एक ही साथ एक ही स्थान और एक ही काल में हो जावें।

[नोट—कार्य और कारण में सदैव अनुक्रम (एक के पीछे दूसरे का होना, कारण के पश्चात् कार्य का होना) एवं अनुचर्य सम्बन्ध रहता है, चाहे वे कितनी ही शीघ्रता के साथ क्यों न होवें, तथापि कवि अपने प्रतिभोत्पन्न चातुर्य्य-चमत्कार से दोनों को एक ही साथ प्रगट होते हुये दिखलाते हैं। यथा—

ग्राह-ग्रसित गज इत कह्यो, दौरहु दीनानाथ।
लख्यो "रसाल" दयालु उत, धरे चक्र हरि हाथ॥

—र० म०

इस अलंकार के वाचक शब्द प्रायः ज्योंही, त्योंही, जैसेहि, तैसेहि, जबहिं, तबहिं, उतै, इतै, या इनके पर्याय-वाची अन्य शब्द अथवा अत्यन्त शीघ्रता-सूचक अन्य शब्द या पद होते हैं, अन्य प्रकार भी इसी भाव को रखा जा सकता है। यथा—

सागर सादर आइ इत, कह्यो पाहि भगवान।
नहिं चढ़ाये धनु पै सके, राम कुपित ह्वै बान॥

(ख) गुप्ताक्रमातिशयोक्ति—जहाँ किसी प्रकार कुछ शब्दों के ही द्वारा (वाचक शब्दों के द्वारा) कार्य और कारण का एक समय में होना न प्रगट हो, वरन् वह समस्त वाक्य ही के भाव से सूचित हो। यथा—

मंत्राकर्षन जय दशभाला। अहिरावण-मन डोल पताला॥

(८) चपलातिशयोक्ति—जहाँ कारण का केवल ज्ञान होते ही कार्य पूरा हो जावे। यथा—

सुनतहि सखि-मुख सों कढ़ी, पिय-प्रयान की बात।
विरह ज्वाल से तचि गयो, रमनी को सब गात॥

[नोट—किसी किसी ने इसे चंचलातिशयोक्ति की भी संज्ञा दी हैं। जैसे—मतिराम।

संबन्धातिशयोक्ति को, द्वै विधि बरनत लोग।
जोगतें कहूँ अजोग है, कहूँ अजोगै जोग॥

का० नि० १०८

जहाँ दीजिये जोग्य को, अधिक जोग्य ठहराइ।
अलंकार अत्युक्ति तहँ, वरनत है कविराइ॥

का० नि० पृष्ठ १०८

जहँ दीजै गुन और को, औरहि में ठहराइ।
अतिशयोक्ति सापन्हुतिहि, बरनत हैं कविराइ॥]

(९) अत्यन्तातिशयोक्ति—जहाँ कारण के पूर्व ही कार्य पूरा हो जाये या उसका होना प्रारम्भ हो जावे। कारण होने भी न पाये और कार्य हो चले। यथा—

नव गोरी सँग लाल की, होरी नई निहार।
पिचकारी के प्रथम ही, भीजि गये रसधार॥

इसके वाचक शब्द प्रायः पूर्व ही, प्रथम ही, आगे, यह पाछे भयो, प्रथम हुआ, होन न पायो, ह्वै गयो—एवं इसी भाव के परि-पोषक या सूचक अन्य शब्द या पद होते हैं।

[नोट—कारण का प्रारम्भ भी न हुआ हो और कार्य हो चले अथवा कारण का कुछ अंश हो चुके, तभी कार्य हो चले इत्यादि सूक्ष्म भेदों से इसके रूपों के भेद और भी बढ़ सकते हैं।]

दास जी ने सम्बन्धातिशयोक्ति के दो रूप यों माने हैं।

१—योग्य से अयोग्य का सम्बन्ध। यथा—

> छामोदरी उरोज तब, होत जु रोज उतंग।
> अरी इन्हैं या अंग में, नहिं समान को ढंग॥

अर्थात् योग्य बातों में अयोग्यता का प्रकाशित करना।

२—अयोग्य से योग्य का सम्बन्ध या अयोग्य बात में योग्यता दिखलाना। यथा—

> कोकनि अति सब लोक में, सुख प्रद राम प्रताप।
> बन्यो रहत जिन दंपतिन्ह, आठौ पहर मिलाप॥

अक्रमातिशयोक्ति और अत्यन्तातिशयोक्ति के बीच में दास जी ने अत्युक्ति नामी अलंकार भी रख दिया है, कदाचित् इसे आप अतिशयोक्ति ही का एक भेद मानते हैं।

इसके पश्चात् आपने इसके पाँच अन्य भेद ऐसे दिये हैं जो मिश्रालंकार कहे जा सकते हैं—क्योंकि वे दो दो अर्थालंकारों के मिश्रण से बने हैं—

(१) सम्भावनातिशयोक्ति—जहाँ अतिशयोक्ति के साथ में सम्भावना का भी भाव रक्खा हो—

(२) उपमातिशयोक्ति—उपमा के साथ जहाँ अतिशयोक्ति का सामञ्जस्य हो ('बुधिबल ते उपमान में, अधिक अधिकई होइ') इसी को प्रौढ़ोक्ति भी कहते हैं (जो उपमातिशयोक्ति है, प्रौढ़ उक्ति है सोइ)।

(३) सापन्हवातिशयोक्ति—अतिशय के भाव के साथ जहाँ किसी और के गुण को किसी और पर आरोपित या स्थापित किया जावे—

रूपकातिशयो०—जहाँ एकता (एकरूपता) को देखकर प्रसिद्ध उपमाओं का अतिशय के साथ कथन हो और यों रूपक तथा अतिशयोक्ति का संमिश्रण हो।

उत्प्रेक्षातिश०—जहाँ उत्प्रेक्षा को लोक-सीमा से अधिक दूर तक लेकर अतिशय के साथ दिखलाया जावे।

नोट—भाषा के अन्य सभी आचार्यों ने प्रथम भेदों को ही दिखलाया है और दास जी के इन मिश्रित रूपों को नहीं दिया।

उल्लेख

—:*:—

जहाँ किसी वस्तु को भिन्न प्रकार का समझा जावे। दास जी कहते हैं—

"एकै मैं बहु बोध कै, बहु गुन सों उल्लेख।
परम्परित मालानि सों, लीन्हों भिन्न विशेष॥

अर्थात् जहाँ एक वस्तु में बहुत का, या बहुत प्रकार का बोध हो तथा उसमें बहुत से गुणों का प्रकाशन हो।

नोट—ध्यान रहे कि यह अलंकार निरवयव मालारूपक से सर्वथा भिन्न एवं पृथक् है, क्योंकि उसमें वस्तु की भिन्नता को देखने वाले अनेक जन नहीं होते, किन्तु इसमें एक ही वस्तु को अनेक जन भिन्न भिन्न प्रकार का देखते या समझते हैं। साथ ही रूपक में तो एक वस्तु का आरोपण दूसरी वस्तु में किया जाता है, किन्तु यहाँ ऐसा नहीं होता, वरन् वस्तु के स्वाभाविक धर्म, कर्मादि के वैलक्षण्य से ही वह दूसरे रूपों में ली जाती है। सन्देह में एक वस्तु को दूसरे रूप में देखने के साथ निश्चयात्मक ज्ञान नहीं रहता, वरन् उसमें संशय का ही प्राधान्य रहता है, इसी प्रकार भ्रांतिमान में भी भ्रम और भूल की प्रधानता होती है और इसी कारण एक वस्तु में दूसरे रूप की प्रतीत होती है, किन्तु उसमें भी पूर्ण निश्चयात्मक एवं सत्य ज्ञान का अभाव और भ्रम का प्रभाव स्पष्ट रहता है, किन्तु यहाँ ऐसा कदापि नहीं होता।

यह अलंकार दो प्रकार का माना गया है।

१—भिन्न भिन्न व्यक्तियों के द्वारा जहाँ एक ही वस्तु को भिन्न भिन्न प्रकार का दिखाया जावे। इसके दो रूप होते हैं।

(क) शुद्ध—जिसमें और किसी अलंकार से सहायता न ली गई हो—

यथा—वारन-तारन वृद्ध जन, युवतिन श्रीपति भूमि।
दर्शनीय बालान को, दीखे हरि रँगभूमि॥

(ख) संकीर्ण—जिसे स्पष्ट एवं पुष्ट करने को किसी दूसरे अलंकार की सहायता अपेक्षित हो।

यथा—तियन मदन, यदु हित सदन, नन्द नँदन मृदु अंग।
लखे कंस निज कदन कर, हरि प्रविशे जब रंग॥

यहाँ रूपक से सहायता ली गई है—

२—एक ही व्यक्ति के द्वारा जहाँ एक ही वस्तु विषयादि के भेद से अनेक प्रकार की समझी जावे।

यथा—साधुन में तुम साधु हौ, राजन में शिवराज।
शठन संग शठता करौ, कविन संग कविराज॥

(१) कार्य्योल्लेख—

जहाँ एक वस्तु से अनेक कार्यों का सिद्ध होना प्रगट हो—

धीरज ही को धारिये, धीरज सुख की खानि।
कष्ट कटै, कारज सधै, होय न कबहूँ हानि॥

अवस्था के भेद से—

शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां यौवनेविषयैषिणाम्।
वार्धके मुनि वृतीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

दशा के भेद (क्रिया के भेद) से—

बौरी ह्वै दौरी फिरै, रीझति, खीझति बाल।
रोवति, हँसति 'रसाल कह" तुम बिन वह गोपाल॥

—र० मं०—

इसके भी शुद्धोल्लेख के समान दो भेद शुद्ध और संकीर्ण होते हैं, बिना किसी अन्य अलंकार के शुद्ध और किसी अलंकार के साथ में होकर संकीर्ण का रूप होता है।

दास जी के मतानुसार जहाँ एक ही वस्तु में अनेक गुण देखे जावें वहाँ भी उल्लेख का रूप होता है।

यथा—साधुन को सुख दानि है, दुर्जन को दुख दानि।
विक्रम विप्रन दानप्रद, राम तिहारो पानि॥

किन्तु यह रूप उक्त द्वितीयोल्लेख के ही अन्तर्गत आ जाता है।

नोट—जिस प्रकार किसी वस्तु में अनेक सद्गुण देखे जाते हैं, उसी प्रकार किसी वस्तु में अनेक दुर्गुण भी देखे जा सकते हैं और उसे हम दुर्गुणोल्लेख कह सकते हैं—

जहाँ किसी वस्तु के भिन्न भिन्न रूपों का ही उल्लेख हो, वहाँ स्वरूपोल्लेख माना जाता है। इस प्रकार गुण, कर्मादि के भेद से इसके विविध रूप हो सकते हैं। इसको कार्य-कारण के सिद्धान्त से भी सम्बद्ध किया गया है और निम्न भेद और दिखलाये गये हैं।

(१) हेतूल्लेख—जहाँ एक ही कार्य के अनेक कारणों का उल्लेख हो, तथा वे कारण एक ही व्यक्ति या भिन्न भिन्न व्यक्तियों के द्वारा दिखाये गये हों (इस प्रकार इसके २ भेद हो जावेंगे।)

यथा—दशरथ यज्ञ प्रभाव सों, जनक प्रतिज्ञा-हेतु।
धरनि सुरक्षित करन को, प्रगटे रघुकुल-केतु॥

(२) फलोल्लेख—जहाँ एक ही कारण के अनेक एवं भिन्न भिन्न फलों का उल्लेख किया गया हो। इसके भी निम्न भेद हो सकते हैं।

क—एक व्यक्ति के लियेः—

यथा—कह 'रसाल' प्रभु प्रीति करु, करी प्रीति कपिराज।
सुख पायो, दुख दूरि करि, लही नारि, सुत, राज॥

२—अनेक व्यक्तियों के लिये—

"कद्‌ली करै कपूर अरु, वंसलोचनहिं वंस।
अहि विष, मोती सीप में, कर स्वाती को अंस॥
पितु पाये शत सुवन अरु, ससुर नैन अरु राज।
सत्यवान निज प्रान हूँ, सावित्री के काज॥

उल्लेख के साथ में ध्वनि एवं व्यंग्य का जब सामंजस्य होता है तब ध्वनिभूतोल्लेख की उत्पत्ति होती है।

यथा—कृत बहु पातक तापयुत, दुखित परे भव-कूप।
विचलतिरंग सुगंग लखि, होत सबै सुख रूप॥

भूषण जी ने इसकी परिभाषा यों भी दी है।

'बहुविधि वरनै एक को, बहु गुन सों उल्लेख'॥

अर्थात् एक वस्तु का (अनेक गुणों से) अनेक प्रकार से वर्णन करना—

रामसिंह ने द्वितीय उल्लेख यों दिया है—

"बहुतनि के इक गुन मय जानै। सो द्वितीय उल्लेख बखानै"

अर्थात् अनेक वस्तुओं में एक ही गुण का देखना—

केशवदास और देव जी ने उल्लेखालंकार का वर्णन नहीं किया, शेष सभी आचार्य इसके उक्त दो ही मुख्य भेदों को दिखलाते हैं।

नोट—भिन्न वेष में—कहुँ नर, कहुँ बानर बनै, कहुँ नारी ह्वै नाच।
कहूँ बाघ, कहुँ वृषभ ह्वै, लीला करै पिशाच॥

१—एक वस्तु में अनेक वस्तुओं का बोध हो—

विधि, हरि, हर, ऋषि, मुनि, सकल, देव, दनुज, गन्धर्व।
किन्नर, यक्षादिक लखे, पार्थ कृष्ण में सर्व॥

२—एक वस्तु में अनेक रूपों का बोध हो—

विदुषन प्रभु विराट मय दीखा..............तुलसी

३—जहाँ एक ही वस्तु में देश, काल एवं परिस्थिति के भेदानुसार अनेक प्रकार के रूप देख पड़ें।

(क) देश के भेद से, यथा अपने घर को योगिया, और देस में सिद्ध।

(ख) समय के भेद से—

शशि को रजनी में लखे, विमल प्रभामय अंक।
मलिन हतप्रतिभा सोई, दिन में होत मयंक॥

(स) परिस्थिति के भेद से

(द) दर्शक के दृष्टि-कोण के भेद से (विचार-भेद से)

४—सत्य ही एक वस्तु में कई रूपों का देखना या होना—

यथा—दक्षिण दिशि शिव मूर्ति है, देवमूर्ति है वाम।
अर्धाङ्गी शंकर सोई, सिद्ध करैं सब काम॥

५—एक वस्तु जहाँ गुण, कर्म, और स्वभावादि के भेद से भिन्न भिन्न प्रकार की जान पड़े।

सृष्टि स्रजत विधि रूप ह्वै, तेहि पालत हरि होय।
हरत ताहि हर होय पुनि, कृपा करहिं शिव सोय॥

६—वस्तु ही स्वतः जहाँ अनेक रूपों में रूपान्तरित होती जावे— अपने स्वाभाविक रूप या भिन्न भिन्न रूपों में)

यथा—माया करि निशचर धरे, मायारूप अनेक।
जित देखहु तित रावनहि यद्पि दुष्ट है एक॥

इनके अतिरिक्त और भी सूक्ष्म भेद इसके किये जा सकते हैं, स्थान-लाघव से हम नहीं दे रहे हैं।

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press Allahabad.